

प्रेमचंद की दलित विषयक कहानियों और ओमप्रकाश वाल्मीकि की  
कहानियों के अंग्रेजी अनुवाद का भाषिक,  
सामाजिक एवं सांस्कृतिक विश्लेषण

(A LINGUAL, SOCIAL AND CULTURAL ANALYSIS OF ENGLISH  
TRANSLATION OF PREMCHAND'S DALIT ORIENTED SHORT STORIES  
AND OMPRAKASH VALMIKI'S SHORT STORIES)

पीएच.डी. हिन्दी अनुवाद उपाधि हेतु  
प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

शोध निर्देशक  
प्रो. राम चंद्र

शोधार्थी  
मुन्नी भारती



भारतीय भाषा केन्द्र  
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन केन्द्र  
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय  
नई दिल्ली-110067

2017



जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय  
**JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY**

भारतीय भाषा केन्द्र

Centre of Indian Languages

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

School of Language, Literature & Culture Studies

नई दिल्ली-110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Date: 21/07/2017

**DECLARATION**

I declare that the work done in this thesis entitled "PREMCHAND KI DALIT VISHYAK KAHANIYON AUR OMPRAKASH VALMIKI KI KAHANIYON KE ANGREZI ANUVAD KA BHASHIK, SAMAJIK EVAM SANSKRITIK VISHLESHAN" (A LINGUAL, SOCIAL AND CULTURAL ANALYSIS OF ENGLISH TRANSLATION OF PREMCHAND'S DALIT ORIENTED SHORT STORIES AND OMPRAKASH VALMIKI'S SHORT STORIES) submitted by me is an original research work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

**MUNNI BHARATEE**  
(Research Scholar)

**Prof. RAM CHANDRA**  
(Supervisor)  
CIL/SLL&CS/JNU

**Prof. GOBIND PRASAD**  
(Chairperson)  
CIL/SLL&CS/JNU

# समर्पण

*बहुजन नायक-नायिकाओं को*

*जिनके संघर्षों ने*

*मुझे चेतनशील बनाया...*

## अनुक्रमणिका

प्राक्कथन	i-xi
पहला अध्याय1—	43
दलित विमर्श की अवधारणा एवं स्वरूप	
दूसरा अध्याय44—	103
प्रेमचंद का रचना संसार और तत्कालीन परिस्थितियाँ	
तीसरा अध्याय	104—134
ओमप्रकाश वाल्मीकि का व्यक्तित्व—कृतित्व एवं समकालीन परिवेश	
चौथा अध्याय	135—201
विवेच्य कहानियों में वर्णित दलित जीवन, स्त्री जीवन एवं चेतना के विविध स्वरूप	
पाँचवाँ अध्याय	202—252
अंग्रेजी में अनूदित विवेच्य कहानियों की भाषिक संरचना का विश्लेषण	
छठवाँ अध्याय:	253—288
संकलित कहानियों का सामाजिक—सांस्कृतिक संबंध एवं अन्तरण की समस्या	
अंतिम बात...	289—294
परिशिष्ट:	295—308
आधार ग्रंथ	
सहायक ग्रंथ	
सहायक अंग्रेजी पुस्तकें	
सहायक शब्दकोश	
पत्र—पत्रिकाएं	

## प्राक्कथन

भारतीय समाज कुछ लोगों द्वारा बनाया हुआ ऐसा जातीय मकड़जाल है, जिसमें फँसकर इंसानियत पल-पल अपना दम तोड़ती है। सरेआम औरतों की आबरू शर्मसार होती है, पिता, भाई, बेटे, जीवन साथी को नपुंसक घोषित किया जाता है। दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक स्त्री-पुरुषों को हर रोज शारीरिक मानसिक यंत्रणा, प्रतारणा, शोषण, दमन अत्याचार, अन्याय के भयानक रास्ते से होकर गुजरना पड़ता है। भूत में घटित हुए और वर्तमान में घट रहे इन सारी घटनाओं-परि-घटनाओं पर जब साहित्यिक दृष्टि से सोचती-समझती हूँ तो बार-बार यह सवाल अन्तःमन को व्यथित करता है, कि यदि मुख्यधारा के रचनाकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार 'साहित्य समाज का दर्पण है' तो पच्चासी प्रतिशत जनमानस का प्रतिबिम्ब उस साहित्य रूपी दर्पण में क्यों नहीं प्रतिबिम्बित होता है?

इन्हीं सारे प्रश्नों को केंद्रीय प्रश्न बनाकर जबसे दलित विमर्श साहित्य के केंद्र में आया है, तब से मुंशी प्रेमचंद को लेकर विभिन्न प्रकार की चर्चाओं, बहसों, सहमतियों-असहमतियों के बीच उठने वाले सवालों ने ही प्रगतिशील साहित्यकार प्रेमचंद और बहुजन साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि की दलित विषयक कहानियों पर शोध करने के लिए मुझे प्रेरित किया।

प्रेमचंद और ओमप्रकाश वाल्मीकि दोनों के अपने-अपने युगबोध रहे हैं और दोनों ही संक्रमण काल के दौर से गुजरे हैं। प्रेमचंद के समाज में यूरोपीय नवजागरण के कारण जहाँ देश में सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और साहित्यिक क्षेत्र में नई जागृति का उदय हो रहा था, वंचित तबके में चेतना का संचार हो रहा था, जिसकी अगुआई बाबा साहब कर रहे थे। वहीं कुछ आन्तरिक विरोधी तत्त्व भी अपना सक्रिय भूमिका निभा रहे थे। उस समय भारतीय समाज में दो तरह की गुलामी कायम थी। एक ओर पूरा भारतीय समाज अंग्रेजी सत्ता की गुलामी का शिकार था तो दूसरी तरफ यहाँ की स्त्री

और अछूत वर्ग क्रमशः पितृसत्तात्मक शोषणमूलक सामाजिक संरचना और वर्ण-व्यवस्थावादी शोषण-मूलक सामाजिक संरचना की दोहरी गुलामी की मार झेल रहा था। छुआ-छूत भी अपने मुखर रूप में व्याप्त था। देश के अधिकांश बुद्धिजीवी देश की पराधीनता को ही सारी समस्याओं की जड़ मानते थे तथा देश को स्वाधीन कराना ही उनका मुख्य ध्येय बन गया था। दलित और स्त्री की समस्या इनके लिए मुख्य चिंता का विषय नहीं था। ऐसे समय में भारतीय सामाजिक और राजनैतिक पटल पर बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर का क्रांतिकारी उभार होता है। दलित समस्या को पहली बार आंदोलन के केंद्र में लाने का काम डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर करते हैं और इस विश्वास के साथ खड़ा होते हैं कि जब तक दलितों को उनका हक-अधिकार नहीं मिलता तब तक देश की मुक्ति अधूरी है।

तत्कालीन समय में देश में राजनीतिक स्तर पर दो धाराएँ चल रही थी— एक धारा ऐसी थी, जो पराधीनता से मुक्ति को अपना मुख्य लक्ष्य मान रही थी और दूसरी धारा ऐसी थी जो आजादी के साथ-साथ भारतीय समाज में मौजूद शोषणमूलक संरचना को ध्वस्त करना चाहती थी। दूसरी धारा की अगुआई बाबा साहब कर रहे थे और पहली धारा की गाँधी जी। एक जो तीसरी धारा थी, वह समाज सुधारकों की थी, जो विभिन्न प्रकार के समाज सुधार आंदोलनों के माध्यम से वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत ही सामाजिक बदलाव लाना चाहते थे।

भारतीय समाज अपने तरह का इकलौता समाज है, जिसमें एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को मनुष्यता की नजर से न देखकर उसकी जाति, धर्म, सम्प्रदाय और लिंगाधारित भेदभाव की दृष्टि से देखता है। इस समाज का एक वर्ग आज भी समाज का हिस्सा होते हुए भी अपनी अलग पहचान के साथ हिस्सेदारियों से वंचित है। ऐसे में यह सवाल उठना वाजिब है— ऐतिहासिक और आधुनिक परिप्रेक्ष्य में क्या मुख्यधारा के साहित्य में दलितों की अस्मितावादी उपस्थिति कहीं नजर आती है? क्या आज भी उन्हें उनकी जाति से नहीं पहचाना जाता है? क्या आज भी शोषण, दमन उत्पीड़न, अन्याय, अत्याचार इस

समाज में मौजूद नहीं है? क्या योग्य होने के बावजूद शिक्षण संस्थाओं और नौकरियों में उन्हें उचित पद या सम्मान मिल रहा है? जब तक इन सारे प्रश्नों से हम नहीं टकरायेंगे तब तक दलित साहित्य और दलित विमर्श को ठीक से नहीं समझ सकेंगे।

इन्हीं प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में संवेदना, सहानुभूति और स्वानुभूति की प्रामाणिकता के अन्तर्गत ही हमें प्रेमचंद का मूल्यांकन करने की जरूरत है। यदि प्रेमचंद अपने युगबोध में दलित समस्या को साहित्य में उठाते हैं, तो आज के समय में भी उस पर विचार-विमर्श होना चाहिए। किसी भी रचनाकार या रचना का कालजयी होना उसकी प्रासंगिकता की कसौटी है।

विचारधारा के तौर पर प्रेमचंद आर्य समाजी और गाँधीवादी रहे लेकिन साहित्यिक क्षेत्र में प्रगतिशीलता को अपनाया। प्रेमचंद की जिन दलित विषय कहानियों को शोध के लिए चयन किया गया है वे बहुस्तरीय हैं। कुछ कहानियों में दलित-जीवन, स्त्री-जीवन की समस्याओं को सीधे-सीधे उजागर किया गया है तथा कुछ में दलित-जीवन की झलक मात्र और स्वाधीनता आंदोलन, समाज सुधार आंदोलन प्रमुखता से आया है। कुछ कहानियों में दलित-समस्या पर बातचीत की गई, लेकिन उसमें दलित पात्र नहीं हैं। कुछ में दलित पात्र हैं और उनकी समस्या, उनकी रहन-सहन, उनकी सक्रियता को भी उजागर किया गया है। इनकी कहानियों के दलित पात्र दो तरह के हैं। कुछ पूरी तरह से मनुवादी व्यवस्था में रचे-बसे हैं, शोषण को कर्म का फल मानकर नियतिवाद को स्वीकार करते चले जा रहे हैं तथा कुछ में दबे रूप में ही सही, लेकिन प्रतिरोध की झलक दिखाई देती है। ज्यादातर कहानियाँ आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की द्योतक हैं, जिन पर गाँधीवादी विचारधारा का प्रभाव है। जिन कहानियों में दलित चेतना उभरकर सामने आई है वे बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर की विचारों से प्रभावित हैं और उनके द्वारा चलाये गये आंदोलनों का परिणाम हैं। सम्पूर्णता में देखा जाए तो प्रेमचंद गाँधी जी के पक्ष में खड़े दिखाई पड़ते हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि का काल भी संक्रमण का काल रहा है। एक तरफ अम्बेडकरी विचारधारा के परिणामस्वरूप उपजा दलित, स्त्री, आदिवासी, शोषण और समस्या की अस्मितावादी विमर्श साहित्य के केंद्र में आता है, तो दूसरी तरफ इसके विरोध में पूरा का पूरा जातिवादी खेमा खड़ा दिखाई देता है। वाल्मीकि, विरोधी तत्वों की मार झेलते हुए अपने समय के उन तमाम प्रश्नों से टकराते हैं, जो खुद दलितों द्वारा उनके आंतरिक समस्याओं के लिए उठाए जा रहे थे और गैर-दलितों द्वारा उपरी रूप से भी उठाए जा रहे थे। तत्कालीन समय में निम्नलिखित प्रश्नों— क्या अब साहित्य को भी दलित और सवर्ण में बांटा जाएगा? दलित साहित्य की संभावनाएँ, चुनौतियाँ और भविष्य क्या होगा? दलित शब्द उचित है या अनुचित आदि से टक्कर लेते हुए वाल्मीकि अपनी लेखनी के माध्यम से वंचित तबके की पहचान, पीड़ा, साहस, संघर्ष, दमन, शोषण को साहित्य में स्थापित करते हैं और खासकर हिन्दी प्रदेश में दलित साहित्य को एक नई दिशा देते हैं। इनका कथा साहित्य हजारों-हजार साल से हाशिए पर डाले गए शोषितों, वंचितों, उपेक्षितों के दुःख-दर्द एवं साहस-संघर्ष का जीवंत दस्तावेज है। इनकी कहानियों का मुख्य स्वर दलित चेतना का स्वर है। अंधविश्वास, रूढ़ियों, धार्मिक पाखण्डों और ऊँच-नीच की दीवारों को ध्वस्त करती हुई ये कहानियाँ ऐसे समाज की स्थापना करती हैं जो समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व पर आधारित हों।

प्रस्तुत शोध विषय दो भाषाओं हिंदी और अंग्रेजी से संबंधित है। इसलिए सिर्फ भाषा का रूपान्तरण ही अनुवाद कर्म नहीं होता, मूल पाठ में निहित भाव सम्प्रेषण भी महत्वपूर्ण होता है। दोनों भाषाओं की आंतरिक संरचना, व्याकरणिक संरचना, मुहावरे, लोकोक्तियों, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक तत्वों आदि का सूक्ष्म ज्ञान भी आवश्यक है।

वर्तमान में विभिन्न देशों के बीच परस्पर आदान-प्रदान, व्यापार, टेक्नोलॉजी के कारण अनुवाद की आवश्यकता बढ़ती जा रही है। इस भूमण्डलीकरण के दौर में अनुवाद की महत्ता को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता है। डॉ. सुरेश



के अनुसार 'अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न राष्ट्रों के बीच राजनीतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर बढ़ते हुए आदान-प्रदान के कारण अनुवाद कार्य की अनिवार्यता और महत्ता की नई चेतना प्रबल रूप से विकसित हुई है। इन कारणों से यह कहना उचित ही प्रतीत होता है कि अनुवाद एक व्यापक तथा एक सीमा तक अनिवार्य और तर्कसंगत स्थिति है।'

अनुवाद और दलित विमर्श के परिप्रेक्ष्य में प्रेमचंद और ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों को व्यापक स्तर पर समझने का प्रयास किया गया है।

**पहला अध्याय** 'दलित विमर्श की अवधारणा और उसके स्वरूप पर व्यापक' दृष्टि डालता है। इसके अन्तर्गत भारत में जाति की उत्पत्ति, दलित शब्द क्या है? दलित वास्तव में कौन है? दलित साहित्य का उत्सव क्या है? दलित साहित्य किसे कहा जाए? इसे समझने के लिए विभिन्न विद्वानों के मतों के साथ-साथ अपने मत की भी पुष्टि की गई है। दलित विमर्श की पृष्ठभूमि में विभिन्न सक्रिय आंदोलनों और उसके संस्थापकों तथा पत्र-पत्रिकाओं पर भी प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय के अन्तर्गत दलित विमर्श के मुख्य स्वर को समझना है।

**दूसरा अध्याय** 'प्रेमचंद का रचना संसार और तत्कालीन परिस्थितियों से संबंधित' है। इसके अन्तर्गत प्रेमचंद के जीवन और रचनाकर्म से जुड़े विभिन्न पड़ावों की बात की गई है। उनके प्रगतिशील चिंतन की आधारभूमि उसकी निर्मिति तथा एक कहानीकार के रूप में उनकी वैचारिकी क्या थी इसे समझने के लिए तत्कालीन परिस्थितियों का अवलोकन किया गया है। उस समय स्वतंत्रता आंदोलन, नवजागरण, कांग्रेसी विचारधारा, हिन्दू महासभा जैसे अनेक समाज सुधारक आंदोलनों पर प्रकाश डाला गया है।

साहित्यिक पटल पर छायावाद और प्रगतिशील धारा अपना महत्वपूर्ण स्थान बना चुकी थी। गाँधी और डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा प्रेमचंद को कैसे

प्रभावित कर रही थी? अपने समकालीन साहित्यकारों से प्रेमचंद कैसे अलग होकर प्रगतिशील आंदोलन को एक नई दिशा प्रदान कर रहे थे? इस पर विहंगम दृष्टि डाली गई है।

**तीसरा अध्याय** ओमप्रकाश वाल्मीकि के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं समकालीन परिवेश' से जुड़ा है। वाल्मीकि के लेखन का दौर भी अन्तर्विरोधों और प्रतिरोधों का दौर रहा है। आत्मकथा 'जूठन' आने के साथ ही खासकर हिंदी क्षेत्र में कई तरह के सवाल उठने शुरू हो गये थे। इनके रचनाकर्म के बाद ही मुख्य रूप से सहानुभूति और स्वानुभूति एवं दलित चेतना जैसे सवाल अस्तित्व में आए। इसके अन्तर्गत वाल्मीकि के जीवन-संघर्ष, साहित्यिक कर्म, और इनकी वैचारिक आधारभूमि क्या है? का विश्लेषण किया गया है।

**चौथा अध्याय** विवेच्य कहानियों में वर्णित दलित जीवन, स्त्री-जीवन एवं चेतना के विविध स्वरूप पर व्यापक दृष्टि डाली गई है। इसमें मूलपाठ के आधार पर प्रेमचंद और ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों का तुलनात्मक पद्धति से विवेचन किया गया है। जिसका आधार दलित जीवन, स्त्री-जीवन और चेतना के विविध स्वरूप है। दो अलग-अलग कालखण्डों के अन्तर्गत प्रेमचंद और वाल्मीकि दलित समस्या को कैसे देख रहे थे? उनके दलित पात्रों में चेतना किस रूप में थी? दलित स्त्री और गैर दलित स्त्री किस रूप में उभरकर सामने आती हैं? दोनों के कथा साहित्य में चेतना और संवेदना के स्तर पर क्या बदलाव आए हैं? दोनों के सामाजिक अन्तर्विरोध क्या हैं? इसका आलोचनात्मक विश्लेषण किया गया है।

**पाँचवाँ अध्याय** 'अंग्रेजी में अनूदित विवेच्य कहानियों की भाषिक संरचना का विश्लेषण' किया गया है। इस अध्याय के अन्तर्गत अनुवाद का महत्व, इसके सिद्धान्त और संकलित कहानियों का शिल्प विधान— संज्ञा, सर्वनाम, कारक, विभक्ति, लोकोक्ति, मुहावरे, अपशब्द, देशज शब्द, स्थानीय प्रयोग, अनूदित पद, प्रस्तावित पद का हिंदी एवं अंग्रेजी के भाषिक संरचना के आधार पर मूल्यांकन किया गया है।

**छठा अध्याय** इसमें संकलित कहानियों का त्रिकोणीय सामाजिक-सांस्कृतिक संबंध एवं अन्तरण की समस्या पर विचार किया गया है। प्रेमचंद का सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश और वाल्मीकि का सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश में क्या समानता है क्या असमानता है? तीसरा लक्ष्य भाषा का समाज और संस्कृति कैसी है? इन तीनों का अध्ययन समतुल्यता का सिद्धान्त के आधार पर किया गया है। सामाजिक स्थितियाँ और सांस्कृतिक पदों का अन्तरण लक्ष्य पाठ में उसी भाव का सम्प्रेषण कर पाया है जैसा कि स्रोत पाठ में हुआ है? अनुवाद करते समय अनुवादक को किन-किन समस्याओं से जूझना पड़ता है इसका अवलोकन एवं विश्लेषण इस अध्याय में किया गया है।

दलित साहित्य से मेरा पहला परिचय ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' से हुआ, तब से निरंतर जेएनयू के विभिन्न विभागों में हुए सेमिनार, चर्चा-परिचर्चा, हॉस्टल के मेस में हुए पब्लिक मीटिंग तथा जेएनयू से बाहर हुए अनेक कार्यक्रमों में सक्रिय भागीदारी ने मेरी चिंतन प्रक्रिया में गुणात्मक परिवर्तन लाया।

अस्मितावादी विमर्श के प्रति मेरी जिज्ञासा रूपी मद्धिम रोशनी को किरण पुँज रूप में ज्योतित करने का काम मेरे शोध निर्देशक प्रो. राम चन्द्र जी ने किया है। बुद्ध के 'अत्त दीपो भव' की राह पर लगातार अग्रसारित करते हुए कई कार्यक्रमों में विशिष्ट अतिथि, मुख्य अतिथि के रूप में आपने मुझे जो स्नेह और सम्मान दिया है, निश्चित रूप से शोध-निर्देशक के रूप में एक नई मिशाल है। बिना किसी रोक-टोक पूरी आजादी के साथ इस शोध-कार्य को पूरा करने में मेरे मनोबल और स्व-विश्वास में आपने जो ऊर्जा भरा है इसके प्रति अभार या धन्यवाद शब्द मात्र औपचारिकता है। आपके प्रोत्साहन ने मेरे अन्तःमन में जो वैचारिक बीज बोया है उसे पल्लवित पुष्पित कर सकूँ यही आपके प्रति मेरी कृतज्ञता होगी। बस! आपका सानिध्य मुझे हमेशा मिलता रहे।

स्मृति शेष, प्रेरणा स्रोत आदरणीय प्रो. तुलसी राम जी को मेरा नमन जिनके साथ संजोये हुए क्षण बार-बार मुझे बुद्ध और बाबा साहब को गहराई से समझने के लिए प्रेरित करते हैं।

वैचारिक अभिभावक के रूप में प्रो. वाई.एस.एलोने, प्रो. डी.के.लोबियाल, प्रो. विवेक कुमार, प्रो. राजेश पासवान, प्रो. अजमेर सिंह काजल, प्रो. पी.एस. खिलारे, प्रो. आर. के. काले, प्रो. सोना झरिया मिंज, मिस्टर कौशल जी, डॉ. राकेश, डॉ. शिवप्रकाश, डॉ. हरिमाधव रे, डॉ. शीला आर्या, डॉ. विनीता, ऊषा रानी मैम, डॉ. विमल थोरात, डॉ. अम्बेडकर अकादमी (मिशन पे बैंक टू सोसाइटी) मसौटा गाजियाबाद के सभी सदस्यों, के प्रति मेरा बहुत-बहुत आभार। आपके द्वारा मिले उत्साहवर्द्धन के शब्दों ने मेरी सक्रियता को बढ़ाया।

हमारे पारिवारिक दीक्षा गुरु भिक्खु शीलप्रकाश जी और भिक्खु चन्दिमा जी ने मेरे मनोबल को हमेशा ऊँचा रखा है। भिक्खु शीलप्रकाश जी से जब भी मेरी बात होती, वे हमेशा अगाह करते रहे 'भारती पढ़ाई ठीक से करो, सारी परेशानी दूर हो जायेगी।' खासकर भिक्खु चन्दिमा जी का कभी फोन पर तो कभी आमने सामने बातों ही बातों में प्रश्न पूछना— 'पीएच.डी. का कितना काम हुआ भारतीय जी आपके गुरु से शिकायत करुं क्या' ने मुझे शोध के प्रति गंभीर बनाया। आप सभी भिक्षु संघ के प्रति मैं विनयशील हूँ।

हिन्दी साहित्य के सभी बहुजन व सवर्ण लेखक लेखिकाओं के प्रति आभार जिनकी लेखनी और साक्षात्कार ने इस शोध को गति प्रदान किया।

गवर्नमेंट इण्टर कॉलेज सिनरा केशवपुर बरेली के प्रधानाचार्य माननीय बुद्धप्रिय जी का तीन सालों से लगातार मेरे शोध कार्य की जानकारी लेना और यह कहना कि— 'जिस दिन तू पीएच.डी. की डिग्री ले लेगी उस दिन मेरा सर गर्व से ऊँचा होगा।' आपने अपने संतान की तरह मुझे प्यार दिया, धन्यवाद शब्द आपके लिए छोटा होगा अंकल जी।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से 1983 में अंग्रेजी विषय में एम.फिल. के छात्र रहे श्री महेश बंशल बतौर असिस्टेंट जनरल मैनेजर रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया से सेवानिवृत्त, पिछले एक साल से निरन्तर मेरी और मेरे शोध की खोज खबर लेते रहे और हर संभव मदद के लिए तत्पर रहे आपके प्रति आभार।

‘यू.डी.एस.एफ.’ और ‘बापसा’ के सभी संघर्षशील साथियों को बहुत-बहुत धन्यवाद जिन्होंने मुझे समय से मेरी संगठनात्मक जिम्मेदारियों से मुक्त कर शोध के लिए पर्याप्त समय उपलब्ध कराया। साथ ही डॉ. आकाश, डॉ. दशरथ, मार्केटिंग इंसपेक्टर संतोष, ओमप्रकाश राम, मुख्त्यार सिंह, देवीदीन, ज्योति सिंह, मनीषा बड़गुजर, अवधेश आप सभी के सहयोग और शोध कार्य जैसे गंभीर माहौल को खुशनुमा बनाना मेरी थकान को कम किया। आप सभी का बहुत-बहुत शुक्रिया।

इन सबसे इतर वैज्ञानिकों और इंजीनियरों की ऐसी मंडली जिसमें खुद को पाकर अपने भीतर हमेशा एक नई ऊर्जा का संचार महसूस किया है मैंने। भू वैज्ञानिक अनिल कुमार जी, डॉ. प्रहलाद राम, इंजीनियर जसवीर जी, भू वैज्ञानिक जमशेद जी, भू भौतिकविद् मोतीलाल गौतम जी आप लोगों की आत्मीयता और उत्साहवर्धन ने मेरे मनोबल को बढ़ाया। गौतम जी द्वारा मेरी माँ का स्वास्थ्य संबंधी मदद करके शोध के लिए मेरे समय को बचाना काबिलेतारीफ है। आप सभी को विशेष रूप से धन्यवाद।

भू भौतिकविद् वैज्ञानिक सरविन्द राम द्वारा कदम-कदम पर किये गये सहयोग को नहीं भुलाया जा सकता। थीसिस लिखते समय मेरे सामने ऐसे कई नाजुक मोड़ आए, जहाँ मुझे बहुत ही उहा-पोह की स्थिति से गुजरना पड़ा। ऐसी परिस्थितियों में आपने मेरा साथ दिया। मेरे अन्दर आशा की किरण जगाई। रोज फोन पर शोध-कार्य की जानकारी लेना, जल्दी काम खत्म करने के लिए प्रेरित करना, निराशा की घड़ी में मानसिक जीवंतता बनाए रखने में आपकी अहम भूमिका है। आपके प्रति शुक्रिया अदा करना औपचारिकता होगी।

परिनिबुत दादी-दादा को नमन करते हुए, अम्मा-बाबूजी मुझे नहीं पता कि पीएच.डी. को आप लोग किस रूप में समझते हैं, लेकिन आप लोगों की लगन और मेहनत ने मेरे अंदर जो शिक्षा की ज्योति जलाई उससे मुझे अपने होने का एहसास होता है। आप दोनों ने मेरे लिए जो कुछ भी किया उसे शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। कभी आपने मुझे बेटी बनाकर नहीं रखा। हमेशा स्वच्छंद रहने की आजादी दी। अपने अभाव की जिंदगी में भी मुझे यथा संभव खुश रखने का प्रयास किया। किडनी पेसेंट होकर भी माँ आपने पिछले कुछ महीनों से अपनी अस्वस्थता की भनक तक मुझे नहीं लगने दिया ताकि मैं विचलित न हो जाऊँ। आप दोनों का आभार व्यक्त करने का सामर्थ्य मुझमें नहीं है। आपके विश्वास ने मेरे अन्दर जो ऊर्जा पैदा की, जो स्वाभिमान जगाया उसी की बदौलत मैं यह शोध-कार्य पूरा कर पाई हूँ। हर संतान को आपकी तरह अभिभावक व संरक्षक मिले। परिवार के सभी सदस्यों चाचा, चाची, उनके बच्चों के प्रति आभार जिन्होंने हर कदम पर मेरा साथ दिया।

मैं अपने भाई-बहन के प्यार-दुलार, नोक-झोंक एवं उनके योगदान को कभी नहीं भूल सकती, जो मेरे लिए हमेशा तत्पर रहे। विशेषकर रोशनी द्वारा पूछे गए प्रश्न 'कब तक लिखती रहेंगी? पूरा कब करेंगी? जमा कब करना है' ने मेरी जिम्मेदारियों का एहसास दिलाया और शोध के प्रति सचेत बनाता रहा। आपको विशेष धन्यवाद। पिछले कई महिनों से मेरे छोटे भाई रवि, पंकज और बहन रिंकी मुनिरका में रह रहे हैं। मेरी मजबूरियों को समझते हुए आप लोगों ने मुझे पूरा छूट दिया और हर संभव सहयोग किया। आप सबको ढेर सारा धन्यवाद। अनन्य कुमार आप अपनी हर छुट्टियों को मेरे पास बिताना चाहते हैं। इस बार भी आए लेकिन मैं आपको समय नहीं दे पाई। आपने समय की नजाकत को समझा और मुझे उन्मुक्त रखा। आप विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। भाई मुकेश, दीदी मंजू आपके पूरे परिवार का आभार जिन्होंने मुझे हमेशा आगे बढ़ने का हौसला दिया।

बहुत-बहुत साधुवाद व्यक्त करना चाहती हूँ उन सारे साथियों, सहपाठियों, अभिभावकों और पदाधिकारियों का जो, जेएनयू से लंदन और फ्रांस तक के सफर में शैक्षणिक, आर्थिक एवं भावात्मक सहयोग के लिए हमेशा तत्पर रहे। फ्रांस के उन सारे लोगों को आभार जिन्होंने वहाँ मेरा सम्मान किया और जो आज भी निरंतर मेरी शैक्षणिक गतिविधियों के विषय में पूछते रहे हैं।

भारतीय भाषा केंद्र के सभी गुरुजनों के प्रति आभार जिन्होंने समय-समय पर मेरी यथासंभव सहयोग किया। आई.सी.एस.एस.आर डॉक्टरल फेलोशिप के लिए प्रेरित करने वाले शिवदत्ता वावेलकर का एहसानमंद हूँ, साथ ही प्रो. सुखदेव थोरात और वहाँ के अन्य पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों को आभार जिसने डॉक्टरल फेलोशिप के लिए मेरा चयन किया। इस आर्थिक सहयोग के बिना मेरा शोध-कार्य पूरा तो होता लेकिन, मुझे अतिशय कठिनाइयों से गुजरना पड़ता। जेएनयू पुस्तकालय के साथ-साथ साहित्य अकादमी एवं विभिन्न पुस्तकालयों का सहयोग मेरे शोध-प्रबंध को समृद्ध करने में काफी महत्वपूर्ण रहा। धन्यवाद ज्ञापन करना चाहूँगी विक्रम सिंह जी का जिन्होंने समय पर टाइपिंग करके मेरी परेशानी दूर की।

भूले-बिसरे उन सभी आत्मीय-जनों को अनंत आभार जिन्होंने जाने-अनजाने में मेरे मनोबल, मेरे स्व-विश्वास, मेरे संघर्ष की क्षमता, मुझमें आगे बढ़ने का साहस को निरंतर बढ़ाया। आप सभी की मंगल कामनाओं का परिणाम है मेरे शोध-प्रबंध का फलीभूत होना।

भारत रत्न बोधिसत्व बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर के संघर्षमयी विरासत को नमन जिसकी बदौलत मुझे शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार मिला।

दिनांक : /07/2017

मुन्नी भारती

## पहला अध्याय

### दलित विमर्श की अवधारणा एवं स्वरूप

भारत अनेक जातियों, धर्मों और सम्प्रदायों का समन्वित रूप है, सब आपस में भाई-भाई हैं, अर्थात् 'अनेकता में एकता भारत की विशेषता' ऐसा कहा और सुना जाता है। इस सूत्र के आधार पर एक खास वर्ग भारतीय संस्कृति की इस तथाकथित अखण्डता को विश्व भर में जबरन फैलाने के लिए अपने को गौरवान्वित महसूस करता है, लेकिन सभी भारतीयों के लिए ऐसी सुखद, अनुभूति नहीं होती है। भारत का एक बड़ा जनाधार ऐसा भी है जो 'अनेकता में विविधता' का दंश झेलता है और उसके लिए 'अखण्ड भारत' नामक संकल्पना निस्सार लगती है। एक ही गांव के अंदर रहने वाले व्यक्ति जाति आधारित टोलियों में बंटे हुए हैं। बेटेरोटी का संबंध तो छोड़िये परस्पर खान-पान, एक दूसरे के घर निश्चित स्थान के बाद उठना-बैठना तक वर्जित है। कुछ का घर एक ध्रुव पर तो कुछ का बिल्कुल गांव के बाहर किसी खास दिशा में तालाब या झाड़ियों के पास। यह कैसी भारत की एकता और विशेषता है? इन्हीं प्रश्नों को खंगालते हुए दलित विमर्श साहित्य में अपनी उपस्थिति और अस्मिता को दर्ज कराता है।

दलित विमर्श आज के दौर का ज्वलंत और सार्थक मुद्दा बन चुका है। अपनी प्रखर अभिव्यक्ति के कारण भारतीय मुख्यधारा के साहित्य को इसने पीछे छोड़ दिया है। इस विमर्शवादी साहित्य को लेकर बहुत सारे संगठन बन चुके हैं जिससे यह विमर्श एक आंदोलन का रूप ले चुका है। इसका असर सिर्फ साहित्य पर ही नहीं बल्कि समाज और राजनीति पर भी व्यापक रूप से पड़ा है। कुछ हठवादी साहित्यकारों का दलित विमर्श के विषय में आज भी यही राय है कि यह सिर्फ एक जाति विशेष की समस्याओं को लेकर किया गया विमर्श है, लेकिन यह धारणा सर्वथा सत्य नहीं है। प्रसिद्ध दलित चिंतक कंवल भारती के शब्दों में— "दलित विमर्श के केन्द्र में दलित समस्या को नहीं नकारा जा सकता। पर यह समस्या एक राष्ट्रीय समस्या के रूप में है। इसके केन्द्र में दलित मुक्ति का प्रश्न राष्ट्रीय मुक्ति का भी प्रश्न है। करोड़ों लोगों के लिए अलगाववाद का जो



समाजशास्त्र और धर्मशास्त्र ब्राह्मणों ने निर्मित किया, उसने राष्ट्रीयता को खंडित किया और उसी के कारण भारत अपनी स्वाधीनता खो बैठा था।<sup>1</sup> आगे वे इसे स्पष्ट करते हैं— “दलित विमर्श के केन्द्र में वे सारे सवाल हैं, जिनका संबंध भेदभाव से हैं, चाहे यह भेद-भाव जाति के आधार पर हो, नस्ल के आधार पर हो, लिंग के आधार पर हो या फिर धर्म के आधार पर ही क्यों ना हो?”<sup>2</sup> इसके केंद्र में जातीयता का प्रश्न मूल प्रश्न है। आखिर जाति कैसे बनी? इसको समझे बिना दलित विमर्श को समझना मुश्किल है।

सर्वविदित है कि भारतीय समाज वर्ण-व्यवस्थाधारित श्रेणीबद्ध समाज है, जो खण्ड-खण्ड में बंटा हुआ है। ऐसे बहुत से साक्ष्य अब मिल रहे हैं जिससे स्पष्ट होता है कि आर्यों के आने से पहले यहां जाति व्यवस्था नहीं थी तथा यहां की सभ्यता बहुत ही विकसित एवं मानवता की द्योतक थी। इसे सिन्धु घाटी की सभ्यता के नाम से जाना जाता है। जब आर्यों का हमला भारतवर्ष पर हुआ तब यहां के मूल निवासी अपने देश को बचाने के लिए उनसे संघर्ष किये। यह संघर्ष बहुत लंबा चला। डॉ. रामशरण शर्मा लिखते हैं—“घुमक्कड़ आर्यों और अनार्यों के बीच भयानक संघर्ष हुआ। आर्यों की आंखे दुश्मनों की सम्पत्ति पर लगी हुई थी। उन्हें हड़पने के लिए उनमें निरन्तर संघर्ष होते रहे। दस्युओं के पास स्वर्ण, हीरा, जवाहरात भी थे, जिनके चलते आर्यों का मन मचल गया। दस्युओं के रहन-सहन से भी आर्य उनके विरोधी हो गये।”<sup>3</sup> इससे ध्वनित होता है कि आर्य ही चोरी-चकारी और लुटेरागीरी किये और बर्बर तरीके से यहां के मूल निवासियों का दमन कर उनकी धन-सम्पत्ति पर अपना कब्जा जमा लिया, लेकिन इतिहास में इसे उल्टा कर दिया गया है। यहां के मूलनिवासियों को ही लुटेरा घोषित किया गया। इस सम्बन्ध में डॉ. एन. सिंह लिखते हैं—“आर्य और भारत के मूल निवासी अनार्यों के बीच सैकड़ों वर्षों तक संघर्ष चलता रहा। वेदों में इसका उल्लेख ‘देवासुर संग्राम’ के रूप में मिलता है। उत्तर वैदिक काल में जब वर्ण व्यवस्था की रचना हुई तो इन दस्यु और अनार्य अथवा द्रविड़ जातियों को आर्यों ने ‘शूद्र’ के अन्तर्गत डाल दिया। चूंकि ये लोग युद्धों में पराजित हो गये थे अतः इनसे तरह-तरह के अशोभनीय काम लिये गये। ये दस्यु से दास हुए फिर दस्यु का

अर्थ लुटेरा हो गया। आर्यों ने इस व्यवस्था को ईश्वरीय घोषित कर दिया ताकि भविष्य में भी ये विद्रोह न कर पाएं। ऋग्वेद का मंत्र, वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में इस प्रकार है —

ब्राह्मणोस्य मुखमासीद बाहू राजन्य कृतः।

उरू तदस्य यद् वैश्य पदम्यां शूद्रो असायत।।<sup>4</sup>

(ऋग्वेद 10.90.12)

इस देश में जाति—व्यवस्था और वर्ण कब से अस्तित्व में आया, इसको लेकर विद्वानों में मतभेद रहे हैं। कुछ का मानना है कि — “जब आर्य भारत में आये तब यहां जाति व्यवस्था नहीं थी, परन्तु व्यवसाय के आधार पर समूह का वर्गीकरण करने की पद्धति यहां थी। भारतीय साहित्य में वर्ण शब्द का उल्लेख पहले और जाति शब्द का बहुत बाद में मिलता है।”<sup>5</sup> संस्कृति के चार अध्याय में रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं— “धर्मशास्त्रों में जाति और वर्ण का प्रयोग समानार्थक है और उसका आधार बीजक्षेत्र विचार ही ठहरता है। मूल वैदिक काल में आर्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में वर्गीकरण नहीं हुआ था। ऋग्वेद काल में शूद्र तिरस्कृत भी नहीं हुए थे। वास्तव में ऋग्वेद में तीन ही वर्ण थे— “ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य” मराठी तत्त्वज्ञान महाकोश खण्ड-1, पृष्ठ 364 में यह तथ्य मिलता है कि ‘उपनिषद’ काल से धीरे-धीरे चौथे वर्ण की तथा बाद के काल खण्डों में अछूत वर्ग की निर्मिति की गई। उपनिषदों का काल साधारणतया ईस्वी पूर्व 1200 से 600 माना जाता है।”<sup>6</sup> सूर्य नारायण रणसुभे लिखते हैं— “वर्ण और जाति व्यवस्था के नाम पर मनुष्य का तिरस्कार, ज्ञान तथा अन्य स्पर्धात्मक क्षेत्रों के अधिकारों से इस मनुष्य को वंचित करने की परंपरा यहां बड़ी प्राचीन रही है। गुण पर आधारित वर्ण—व्यवस्था का रूपान्तरण जन्माधिष्ठित कब, कैसे और किस सन में हुआ इसके निश्चित प्रमाण देना आज किसी के लिए भी संभव नहीं है, परन्तु यह सारी प्रक्रिया बहुत धीरे-धीरे हुई है यह निश्चित है। ज्ञान तथा अन्य क्षेत्रों से एक बहुत बड़े तबके को बहिस्कृत करने से अपने फायदे ही फायदे हैं, इस बात का एहसास जब कभी ऊपर के तबके को हुआ होगा, उसी समय से जन्माधिष्ठित वर्ण—व्यवस्था की नींव डाली जाने लगी होगी। भारत के अधिकांश

समाज सुधारक इस नवीन समाज—व्यवस्था का (ब्राह्मणों को श्रेष्ठत्व प्रदान कर, प्रत्येक तबके के कार्यों को जन्मानुसार वर्गीकृत करने वाली समाज व्यवस्था, शूद्र और अछूत के वर्ग से मानवीय अधिकार छीन लेने वाली व्यवस्था) आरम्भ मानते हैं। पर वास्तव में मनु के बहुत पूर्व ही शूद्रों और अछूतों के अधिकार छीन लिये गये थे।”<sup>7</sup>

भारत में जाति प्रथा और इसको बनाये रखने की क्रियाविधि पर भारत रत्न बोधिसत्व बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर का बहुत ही तर्कपूर्ण और विशद अध्ययन है। वे प्रश्न उठाते हैं कि ‘वह कौन सा वर्ण था, जिसने सबसे पहले अपने जाति की संरचना की? फिर तर्क देते हैं कि जाति की उत्पत्ति वहां से हुई, जिसने सबसे पहले अपने रीति—रिवाज, खान—पान, बेटा—रोटी के सम्बन्ध आदि के लिए एक परिधि बनाई। इसके मूल में बाबा साहब यह पाते हैं कि ऐसी परिधि का कर्ता—धर्ता ब्राह्मण वर्ग रहा है।’ वे लिखते हैं—“सजातीय विवाह ही जातिपांति का एक मात्र कारण है और जब मैं जाति के मूल की बात कहता हूँ तो इसका अर्थ सजातीय विवाह प्रथा की क्रियाविधि के मूल से है।”<sup>8</sup> ब्राह्मण वर्ग ने अपने द्वारा बनाई गयी रीति—नीतियों को कैसे समाज में लागू किया? इस पर बाबा साहब आगे लिखते हैं—“रीति—नीति पर कड़ाई से पालन और इस पुरोहित वर्ग द्वारा प्राचीन काल से इस प्रथा का कड़ाई से अमल, यह प्रमाणित करता है कि वही वर्ग इस अप्राकृतिक संस्था का जन्मदाता था। उसने अप्राकृतिक साधनों से इसकी नींव डाली और इसे जिंदा रखा।”<sup>9</sup>

यह तो ब्राह्मणों ने अपने लिए बनाया, लेकिन पूरे भारत में जात—पांत की यह प्रथा गैर—ब्राह्मणों में कैसे फैली? इस पर बाबा साहब कुछ विद्वानों का हवाला देते हुए बहुत ही सटीक उत्तर देते हैं— “जाति प्रथा या तो भोले—भाले समाज पर कानून गढ़ने वालों ने नैतिकता का मुलम्मा चढ़ाकर थोप दी या फिर सामाजिक विकास की भक्त भारतीय जनता में किसी नियम के अधीन पनपती रही।”<sup>10</sup>

बाबा साहब के ये विचार दो तीन ऐसे बिन्दुओं की ओर इशारा करते हैं जिससे तत्कालीन जनता मजबूरी में ब्राह्मणी षड्यंत्र का शिकार हो गई। पहला—भोले—भाले समाज से बाबा साहब का आशय यहां के मूल निवासियों से है।

यही वह समाज है जो सीधा-सादा भोला-भाला है, जिसका फायदा उठाकर उसे दास या गुलाम बना दिया गया। दूसरा है नैतिक मुलम्मा, जब कोई भी कानून नैतिक आधार पर काम करने लगता है तो वह खतरनाक साबित होता है। यहां नैतिकता का मतलब है ब्राह्मणी रीति-नीति। तीसरा जो बिन्दु है 'विकास की भक्त भारतीय जनता' इसकी तुलना हम इन दिनों की 'अच्छे दिन वाली सरकार' द्वारा किये जा रहे विकास से कर सकते हैं। देश का एक तबका केन्द्र सरकार की अन्धभक्ति में डूबा हुआ है। उनका मानना है कि देश का विकास हो रहा है। यह बात अलग है कि विकास का फल दिखाई नहीं दे रहा है। उल्टे पूरे देश में हाहाकार मचा हुआ है। दूसरा तबका इस फरेब का शिकार हो रहा है। जो इसके खिलाफ आवाज उठा रहा है उसे देशद्रोही करार दिया जा रहा। जघन्य अपराधों और हत्याओं की संख्या बढ़ती जा रही है। आत्महत्या करने पर मजबूर किया जा रहा है। निश्चित रूप से बाबा साहब का इशारा तत्कालीन समय में इसी तरह की शासन प्रणाली की ओर था।

भारतीय वर्णवादी-व्यवस्था में सभी हत्यारों को अवतार का जामा पहना दिया गया है। इसीलिए हिन्दू समाज में जितने भी विधि-निर्माता हुए हैं, उन्हें बाबा साहब 'अवतार' की संज्ञा देते हैं। रामलीला, कृष्णलीला, शम्बूक-बध, महिषासुर-बध, हिरण्यकश्यप-बध, वामनावतार, मत्स्यावतार इत्यादि इसके प्रमाण हैं। बाबा साहब लिखते हैं—"भारत के विधि-निर्माता के रूप में यदि मनु का कोई अस्तित्व रहा है, तो वह एक ठीठ व्यक्ति रहा होगा। यदि यह सत्य है कि उसने स्मृति अथवा विधि की रचना की तो मैं कहता हूं कि वह एक दुःसाहसी व्यक्ति था।"<sup>11</sup> बाबासाहेब मनु से भी ज्यादा दोषी उस शासक को मानते हैं जिसने मूल निवासियों को दास बना डाला और उसी के प्रश्रय में मनु ने निहायत ही अन्यायपूर्ण विधान की संरचना की जो मनुस्मृति में दिखाई देती है। बाबा साहेब मनु के बारे में लिखते हैं— "वह एक शैतान की तरह जिन्दा है, किन्तु मैं नहीं समझता कि वह सदा जिन्दा रह सकेगा। एक बात मैं आप लोगों को बताना चाहता हूं कि मनु ने जाति के विधान का निर्माण नहीं किया और न वह ऐसा कर सकता था। जाति प्रथा मनु से पूर्व विद्यमान थी। वह उसका पोषक था, इसलिए

उसने उसे एक दर्शन का रूप दिया। परन्तु निश्चित रूप से हिन्दू समाज का वर्तमान रूप जारी नहीं रह सकता। प्रचलित जातिप्रथा को ही उसने संहिता का रूप दिया और जाति धर्म का प्रचार किया। जाति प्रथा का विस्तार और इसकी दृढ़ता इतनी विराट है कि यह एक व्यक्ति या वर्ग की धूर्तता और बलबूते का काम नहीं हो सकता। तर्क में यह सिद्धांत है कि ब्राह्मणों ने जाति-संरचना की। हिन्दू इतिहास में किसी समय पुरोहित वर्ग ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया और इस तरह स्वयं सीमित प्रथा से जातियों का सूत्रपात हुआ।<sup>12</sup>

इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि जाति की उत्पत्ति के बीज आर्यों के आगमन से ही पड़ने शुरू हो गये थे, जो विभिन्न सोपानों से गुजरते हुए मनु तक आते-आते विकराल रूप धारण कर लिया। विकराल रूप इसलिए कि मनु ने जितना भी निकृष्टतम और कूरतम विधि बनाना चाहा सब बना डाला जिसका दुष्प्रभाव आज भी संपूर्ण भारतीय स्त्री-पुरुषों पर देखने को मिलता है। इन सारी समस्याओं की जड़ में ब्राह्मणी व्यवस्था थी जिसने सबसे पहले अपने को अन्य से अलग रखना शुरू किया और अपने लिए उच्चतम स्थान का प्रावधान किया।

महाभारत और रामायण काल आते-आते वर्णव्यवस्था ने विकराल रूप धारण कर लिया। वर्णव्यवस्था के किसी भी नियम कानून का उलंघन करने पर अलग-अलग जाति के व्यक्तियों के लिए अलग-अलग दण्ड की व्यवस्था की गई। मनुस्मृति से तो ज्यादातर लोग परिचित हैं ही, जरा कौटिल्य का अर्थशास्त्र देखिए— “लोक लाज से रहने वाली ब्राह्मणी के साथ यदि क्षत्रिय व्यभिचार करता तो उसे उत्तम साहस का दण्ड दिया जाता, यदि वैश्य व्यभिचार करता तो उससे उसकी सारी संपत्ति हड़प ली जाती, यदि शूद्र व्यभिचार करता तो उसे तिनके की आग में जला दिया जाता था। राजा की स्त्री के साथ कोई भी व्यभिचार करता तो उसे तपे भाड़ में भून दिया जाता था। चांडालिनी के साथ व्यभिचार करने वाले पुरुष के माथे पर योनि का निशान बनाकर देश निर्वासन का दण्ड दिया जाता, यदि ऐसा शूद्र करता, तो उसे चांडाल बना दिया जाता था। चांडाल यदि किसी आर्य स्त्री के साथ सम्भोग करता तो उसे प्राणदण्ड दिया जाता था।”<sup>13</sup> भारतीय समाज में जितने भी ब्राह्मणवादी मानसिकता द्वारा लिखे गये धर्म ग्रन्थ और

नीतिशास्त्र हैं सबमें दलितों के अधोगति के लिए कठोर नियम बनाये गये हैं। दुनिया में कहीं भी ऐसा विधिशास्त्र नहीं है जिसमें वर्ण-जाति आधारित दण्ड व्यवस्था हो। घोर आश्चर्य होता है, एक ही अपराध करने वाले अलग-अलग जाति के व्यक्तियों के लिए अलग-अलग दण्डविधान की व्यवस्था की गई थी तथाकथित महान भारतीय संस्कृति में। शूद्रों के लिए जो दण्डविधान किये गये हैं धर्म शास्त्रों में वह निश्चित रूप से पक्षपातपूर्ण अमानवीय एवं शर्मनाक है। हिन्दू धर्म में शूद्रों की यह स्थिति किसी क्रूरतम सामाजिक षड्यंत्र का परिणाम था जो आज भी आये दिन समाज में घटित होती रहती है। ऐसे असंख्य पक्षपातपूर्ण हिंसात्मक दण्ड विधानों का प्रावधान हिन्दू धर्मशास्त्रों में किया गया है।

हमें आभारी होना चाहिए लार्ड थॉमस बैबिंगटन मैकॉले का जिसने 1837 में भारतीय दण्ड संहिता (आईपीसी) का ड्राफ्ट तैयार कर बहुत हदतक मनु के दमनशील दण्ड-विधानों से मुक्ति दिलाई। मैकॉले गवर्नर जनरल की काउंसिल के पहले विधि सदस्य के रूप (1834-38) में भारत आये। उन्होंने देखा कि भारत में ऐसी धार्मिक दण्ड संहिता है जो एक ही अपराध के लिए अलग-अलग वर्ग के लोगों को भिन्न-भिन्न सजा देती है। उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ क्योंकि अंग्रेज शासक भी बिना जाने समझे इसका समर्थन कर रहे थे। उनके मिनट ऑन एजुकेशन ने 1835 में भारतीय दण्ड संहिता को बदलकर भारत को सही रास्ते पर लाने की सोची। विशाल मंगलवादी अपने लेख 'मैकॉले बनाम मनु आधुनिक भारत का निर्माण' में लिखते हैं- "मैकॉले ने आईपीसी इसलिए तैयार किया कि भारतीयों को मनु के विधान से बचाया जाये, जिसने भारत को तबाह कर दिया था और साथ ही अंग्रेज शासकों के अहंकार से भी बचाया जाए, जिन्हें लगता था कि वे नये ब्राह्मण हैं और उन्हें शोषण करने का अधिकार मिला हुआ है।"<sup>14</sup>

आईपीसी का ड्राफ्ट सौंपते हुए मैकॉले का जो कवर लेटर था उससे साफ पता चलता है कि वह ब्राह्मणवाद और ब्रितानी नस्लवाद को सिरे से खारिज करता है। मैकॉले का विचार इस प्रकार है- "मेरा यह पक्का यकीन है कि कोमल दण्ड संहिता कठोर दण्ड संहिता से बेहतर है, और निश्चित तौर पर सबसे निकृष्ट तंत्र वह है जहां ब्राह्मणों के लिए कोमल संहिता है, जो सृष्टिकर्ता के सिर से पैदा

हुए हैं, जबकि शूद्रों के लिए कठोर संहिता है जो उसके पैरों से जन्में हैं। भारत पहले ही जातियों के भेद के कारण और उससे उपजे दूसरे कई गहरे पैठे पूर्वाग्रहों के कारण बहुत दुःख उठा चुका है। ईश्वर न करे कि हम नई जाति का एक और शाप उसे दें, कि हम उसे (अंग्रेजी) ब्राह्मणों की एक नई नस्ल दें, जिसके पास सारे देशी लोगों के साथ अछूतों की तरह व्यवहार करने का अधिकार हो।”<sup>15</sup>

मैकॉले ही वह व्यक्ति था जिसने भारत में बाबा साहेब से पहले यह कानून बनाया कि एक तरह के अपराध के लिए एक ही तरह की सजा होनी चाहिए चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र। यही कारण है कि मनुवादी व्यवस्था के पोषक लोग मैकॉले से नफरत करते हैं। डॉ. एन. सिंह. ने लिखा है—“महाभारत काल में एकलव्य का अंगूठा इसलिए कटवा लिया कि वह धनुष विद्या में अर्जुन से भी निपुण हो गया था और द्रोण को इससे हीनता की अनुभूति हुई, अतः उसने एकलव्य का अंगूठा कटवा दिया। रामायण काल में शम्बूक केवल तपस्या कर रहा था। ब्राह्मणों ने राम से कहा कि ब्राह्मणों के बच्चों की अकाल मृत्यु हो रही है, क्योंकि एक शूद्र तपस्या कर रहा है। प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी शूद्र के तपस्या करने से किसी ब्राह्मण बच्चे की मृत्यु हो सकती है। मैं कहता हूँ— हाँ, यदि किसी शूद्र ने तपस्या के छद्म को जान लिया और उसका प्रचार सम्पूर्ण समाज में कर दिया, तो कौन देता किसी ब्राह्मण को दक्षिणा या भीख। वे तो निटल्ले श्रम तो कर नहीं सकते थे, तो ब्राह्मणों के बच्चे भूख से नहीं मरते तो क्या होता, इसलिए उन्होंने मर्यादा पालन के नाम पर राम को उकसा कर शूद्र उपासक शम्बूक की हत्या करवा दी। वस्तुतः ये दोनों वर्णव्यवस्था के उलंघन के ही दण्ड हैं।”<sup>16</sup> उपरोक्त पृष्ठभूमि को केन्द्र में रखकर हम दलित शब्द की अवधारणा को ठीक-ठीक समझ सकते हैं।

साहित्य के विद्वानों और अन्य विद्वानों में हमेशा यह विवाद का विषय रहा है कि आखिर दलित शब्द क्या है ? दलित वास्तव में है कौन ? दलित साहित्य का उत्स क्या है? दलित साहित्य किसे कहा जाए? इसे समझने के लिए कुछ विद्वानों द्वारा दिए गए मतों के साथ-साथ इसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ भी समझना होगा तभी हम सत्य तक पहुँच पायेंगे।

इतना तो तय है कि वर्ण-व्यवस्था से ही शूद्र जातियों, उपजातियों का विकास हुआ है। दलित शब्द से पूर्व इसे विभिन्न नामों- चाण्डाल, म्लेच्छ, दस्यु, दास, अस्पृश्य, अछूत, अत्यंज, शूद्र, अतिशूद्र, हरिजन आदि से जाना जाता रहा है। बाबा साहेब भी दलित शब्द के विभिन्न नामों पर अपने मत प्रकट किये हैं-“मैंने इस पुस्तक में अस्पृश्यों के लिए कई प्रकार की नामावाली जैसे दलित वर्ग, अनुसूचित जाति, हरिजन और तुच्छ वर्ग का बार-बार प्रयोग किया है। मैं जानता हूँ इससे, विशेषकर उन लोगों के मस्तिष्क में, जो भारतीय परिस्थितियों से परिचित नहीं हैं उलझन पैदा हो सकती है। एक ही प्रकार की नामावली प्रयुक्त करने में मुझे बहुत हर्ष होता है। परन्तु इसका दोष पूरी तरह मुझ पर नहीं जाता। ये सारे नाम अस्पृश्यों के लिए समय-समय पर शासकीय या अशासकीय तौर पर प्रयुक्त किये गए हैं। भारत सरकार अधिनियम में प्रयुक्त नाम अनुसूचित जातियाँ हैं। परन्तु इसका प्रयोग 1935 के बाद प्रारंभ हुआ। इससे पूर्व इन्हें श्री गांधी द्वारा ‘हरिजन’ और सरकार द्वारा ‘डिप्रेसड क्लास’ कहा जाता था। ऐसी बहती गंगा में किसी एक ऐसे नाम पर कायम रहना संभव नहीं है, जो एक स्थान पर तो सही है परन्तु दूसरे पर गलत हो सकता है। पाठकों की प्रत्येक कठिनाई दूर हो जायेगी यदि वे यह याद रखे कि ये सभी नाम पर्यायवाची हैं और एक ही नाम को दर्शाते हैं।”<sup>17</sup> ये सभी नाम समानार्थी होकर भी अस्पृश्य वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसमें ‘ईश्वर के जन’ की अवधारणा अर्थहीन साबित होती है। अतः अनटचेबल में सभी अस्पृश्य और दलित समाहित हैं, जिनके साथ समाज और राज-सत्ता ने बहुत ही दारुण तथा शर्मनाक व्यवहार किया है।

दलित शब्द की उत्पत्ति संस्कृत धातु ‘दल’ से हुई जिसका अर्थ फटना, खण्डित होना माना जाता है। संक्षिप्त हिंदी शब्द सागर में डॉ. रामचन्द्र वर्मा ने दलित का अर्थ विनिष्ट किया हुआ, मसला हुआ, मर्दित, दबाया हुआ, रौंदा या कुचला हुआ दिया है। दलित –“दला हुआ खंडित, विदीर्ण, कुचला हुआ नष्ट किया हुआ।”<sup>18</sup> दलित-“रौंदा, कुचला, दबाया हुआ, पदाक्रांत, हिन्दुओं में वे शूद्र जिन्हें अन्य जातियों के समान अधिकार प्राप्त नहीं है।”<sup>19</sup>



Depressed—"dispirited or miserable psychological suffering from depression."<sup>20</sup>

इन अर्थों के अनुसार स्पष्ट है कि दलित उन कुचले, दबे, विदीर्ण शोषितों के जीवन की कहानी है जो प्राचीन हिंदू संस्कृति से जुड़ी हुई है। वेदों पुराणों, स्मृतियों और मनुस्मृति में चारों वर्णों के विषय में विस्तार से बताया गया है कि कौन किस पायदान पर है? किसका क्या काम है? वेद, पुराण, श्रुति, उपनिषद्, गीता, रामायण, महाभारत मनुस्मृति आदि ग्रंथों को भारतीय संस्कृति की आत्मा के रूप में माना जाता है। 'मनुस्मृति' में तो बाकायदा दलितों को दण्डित करने के लिए नियम कानून बनाये गये हैं, बावजूद इसके यह ग्रंथ हिंदू धर्म की रीढ़ मानी जाती है।

"दलित शब्द डॉ. बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर के 'Depressed' का हिंदी अनुवाद है। दलित या डिप्रेसड दोनों ही समानार्थी शब्द हैं, जिनमें शोषित, उपेक्षित, दबे— कुचले और दमन के शिकार व्यक्ति अथवा वर्ग शामिल हैं।" सर हरसिंग और बाबा साहेब के बीच 'दलित वर्ग' 'अस्पृश्य वर्ग' विषय पर 23 अक्टूबर 1928 को चर्चा हुई थी, तब बाबा साहेब ने 'अस्पृश्य वर्ग' और 'दलित वर्ग' को समान अर्थ में ग्रहण किया था। "दलित शब्द का प्रयोग बहिष्कृत भारत के 16 नवम्बर 1928 के अंक में पहली बार हुआ। प्रासंगिक विचार कॉलम में यह 'दलित' शब्द चार बार आया है। यह कॉलम बाबा साहेब ने स्वयं लिखा है। इनके बाद 1928 में पा. ना. राजभोज ने अपने पाक्षिक का नाम 'दलित बंधु' रखा। बाद में 'जनता' नामक पत्रिका के 30 दिसंबर 1939 के अंक मुक्ति दिन के निमित्त बाबासाहेब आंबेडकर ने जो भाषण किया था, वह इस पत्रिका में छपवाया गया था। इसमें भी 'दलितांची अवहेलना', 'दलितांचीदुखे' इस तरह के शब्द प्रयोग स्वयं डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर ने किया है। 1948 में मुंबई में 'दलित सेवक साहित्य संघ' की स्थापना हुई। 28 फरवरी 1955 में आप्पा साहेब रणपिसे का 'दलित साहित्य की अनास्था' हेडलाइन से दो लेख 'जनता' और 'जयभीम' साप्ताहिक में प्रकाशित हुए। दलित शब्द 1953 के पहले कई जगहों पर आया है। 1मार्च 1958 को 'प्रबुद्ध भारत' का दलित साहित्य विशेषांक प्रकाशित हुआ।"<sup>21</sup>

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि दलित शब्द का प्रयोग 16 नवम्बर 1928 में बाबा साहेब के द्वारा हुआ और 1950 के बाद दलित शब्द का प्रयोग होने लगा। 1972 में नामदेव ढसाल और जे.पी. पवार ने मुंबई में 'दलित पैथर' का गठन किया। अगस्त 1975 में राजाढाले ने 'काला स्वतंत्र दिवस' Black Independent day शीर्षक से एक लेख लिखा, जो काफ़ी विवादास्पद हुआ। इस लेख से दलितों में सनसनी फैल गई। इसी के साथ दलित शब्द सर्वत्र प्रचलित हो गया।<sup>22</sup>

अतः इतिहास में यह शब्द समय सापेक्ष अपने नए-नए कलेवर में विभिन्न नामों से दर्ज हुआ है, जिसमें से ज्यादातर नाम जबरदस्ती थोपे गये हैं। वैदिक काल और स्मृतिकाल से इसका गहरा संबंध रहा है। इससे इतर वर्तमान समय में 'दलित शब्द' को अस्मिता के साथ जोड़ कर स्वयं दलितों ने अपने लिए स्वीकार किया, जिसे बाबा साहेब ने दिया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपने लेख 'जाति से मुक्ति का सवाल' में लिखते हैं—“दलित शब्द अम्बेडकर के आंदोलन की आँच में तप कर निकला है। गैर दलित द्वारा दिये गये हिकारत भरे घृणास्पद शब्दों, सम्बोधनों की जगह 'दलित' सम्मान सूचक, सामूहिक संघर्ष और अस्मिता की पहचान के साथ जुझारूपन की प्रतिक्रिया का हिस्सा बन गया है। जिसका ऐतिहासिक महत्त्व है।<sup>23</sup>

दलित कौन, किसे कहा जाए? इस सवाल पर भी विद्वानों, साहित्यकारों तथा विचारकों ने अपने-अपने विचार दिये हैं। बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर के अनुसार—“दलित जातियाँ वे हैं जो अपवित्रकारी होती हैं। इनमें निम्न श्रेणी के कारीगर, धोबी, मोची, भंगी, बसौर, सेवक जातियाँ जैसे— चमार, डँगारी, मरे पशु उठाने के लिए सउरी प्रसूतिगृह का काम करने वाले ढोला, डफली बजाने वाले आते हैं। कुछ जातियाँ परंपरागत कार्य करने के अतिरिक्त कृषि मजदूरी का भी कार्य करती है।<sup>24</sup>

मराठी दलित चिंतक एवं समीक्षक डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे दलित की व्याख्या करते हुए कहते हैं—“भारतीय संविधान में दलित कौन है? इसके संदर्भ में

स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। हिंदू वर्णवादी समाज में जो घटक पीढ़ियों से अन्य समाज से दूर रखा गया है वह समाज, अर्थात् जिसे परंपरा से 'अस्पृश्य' कहा गया है। इनमें अनुसूचित जाति, (Scheduled Caste) अनुसूचित जन जातियाँ (Scheduled Tribe) ये मुख्य रूप से हैं। इनके साथ घुमंतू जातियाँ जैसे (N.T.) और आदिवासी जातियाँ भी आती हैं, ये सब दलित हैं।<sup>25</sup>

डॉ. एन. सिंह के अनुसार—“दलित का शाब्दिक अर्थ है जिसका दलन या उत्पीड़न किया गया है। चाहे शस्त्र के द्वारा या शास्त्रों के द्वारा। ...इसी में स्त्री और पिछड़े वर्ग के साथ सवर्ण जातियों के वे लोग भी आते हैं जिनका किसी भी दशा में मानसिक या आर्थिक शोषण हुआ है।”<sup>26</sup>

रतन कुमार सांभरिया—“दलित शब्द का शाब्दिक अर्थ दबाया हुआ, आत्मसम्मान और आत्मविश्वास हीन, मनोबल की कमी, अपमान शोषण, उत्पीड़न और प्रताड़ना को जिसने अपनी नियति मान लिया हो, वही दलित है।”<sup>27</sup>

माता प्रसाद के अनुसार—“जिनके साथ शारीरिक स्पर्श होने के फलस्वरूप उच्च जातियों के हिन्दुओं को अपनी शुद्धि करना आवश्यक हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि इस शब्द को किसी पेशे से संबद्ध कर दिया जाये। वरन, यह शब्द उन्हीं जातियों के लिए प्रयुक्त होगा जिनका उदाहरण के तौर पर हिंदू समाज में अपनी परंपरागत स्थिति के कारण मंदिर में प्रवेश निषिद्ध है या जिनके कुएँ अलग हैं या जिन्हें पाठशालाओं में नहीं बैठने दिया जाता और बाहर ही रहना पड़ता है या जो इसी प्रकार की अन्य सामाजिक असमानताओं से पीड़ित हैं, वे दलित हैं।”<sup>28</sup>

डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन के अनुसार—“दलित वह है जिसे भारतीय संविधान ने अनुसूचित जाति का दर्जा दिया है।”<sup>29</sup>

कंवल भारती के अनुसार—“वास्तव में दलित वही व्यक्ति हो सकता है जो सामाजिक तथा आर्थिक दोनों दृष्टियों से दीन-हीन हैं। जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया, जिसे कठोर और गंदे कार्य करने के लिए बाध्य किया

गया, जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिन पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की वही और सिर्फ वही दलित है।”<sup>30</sup>

हिन्दी के प्रमुख रचनाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि के अनुसार—“भाषावाद अलगाववाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद को ‘दलित’ शब्द नकारता है। उन्हें सामाजिक पहचान देता है जिसकी पहचान इतिहास के पृष्ठों से मिटा दी गई है, जिनकी संस्कृति ऐतिहासिक धरोहर कालचक्र में खो गई है। इस देश का मेहनतकश जो खेत खलिहान से लेकर कारखानों तक हर क्षेत्र में अपने पसीने से एक नये इतिहास का निर्माण कर रहा है। उस इतिहास का जिसमें भारत के नव-निर्माण की छवि नये का आह्वान कर रही है। मानवीय अधिकारों से वंचित, सामाजिक तौर से जिसे नकारा गया हो वही दलित है।”<sup>31</sup>

मोहनदास नैमिशराय का मानना है—“दलित शब्द मार्क्स प्रणित सर्वहारा शब्द के लिए समानार्थी लगता है। लेकिन इन दोनों शब्दों में पर्याप्त भेद भी है। दलित की व्याप्ति अधिक है तो सर्वहारा की सीमित। दलित के अंतर्गत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक शोषण का अन्तर्भाव होता है, तो सर्वहारा केवल आर्थिक शोषण तक ही सीमित है। प्रत्येक दलित व्यक्ति सर्वहारा के अन्तर्गत आ सकता है, लेकिन प्रत्येक सर्वहारा को दलित कहने के लिए बाध्य नहीं हो सकते... ,अर्थात् सर्वहारा की सीमाओं में आर्थिक विषमता का शिकार वर्ग आता है, जबकि दलित विशेष तौर पर सामाजिक विषमता का शिकार होता है।”<sup>32</sup>

नामदेव ढसाल— “अछूत आदिवासी, पिछड़ी जातियों, बौद्ध, कष्ट उठाने वाली भूमिहीन, मजदूर, गरीब किसान खानबदोश तथा जिसे गाँधी ने हरिजन कहा उन्हीं को दलित मानते है।”<sup>33</sup>

लक्ष्मण शास्त्री जोशी ऐसा मानते हैं कि “दलित मानवीय प्रगति में सबसे पीछे धकेल दिया गया सामाजिक वर्ग है।”<sup>34</sup> जबकि डॉ. म. ना. वानखेड़े कहते हैं— “जो दबे हुए श्रमजीवी हैं, वे सब दलित की व्याख्या में शामिल होते हैं।”<sup>35</sup> गोविन्द शंकर वाघमारे के अनुसार—“दलित उसे कहते हैं, जो आर्थिक रूप से अत्यन्त दबा

हुआ है, इस समाज व्यवस्था में सबसे नीचे रहने वाला कमजोर वर्ग दलित समझा जाता है।<sup>36</sup> प्लेटो ने दास की परिभाषा दी है जिसे डॉ. लोखण्डे ने अस्पृश्य पर लागू किया है—“जो पीड़ित है, जिन पर अन्याय अत्याचार हुआ है, वे सब अस्पृश्य ही दलित शब्द के अन्तर्गत समाविष्ट किये जाते हैं, उन्हें ही दलित कहा जाता है।”<sup>37</sup>

प्लेटो ने जो दासों की परिभाषा दी है, वह दलितों पर सटीक तो लगती है लेकिन यूरोपियन दास और भारतीय दलित में एक बड़ा अन्तर है। यह बात बिल्कुल सही है कि दास प्रथा भारत में ही नहीं, विश्व में भी रही है, लेकिन हर युग में इनका स्वरूप भिन्न रहा है। अफ्रीका, अमेरिका, प्राचीन कालीन इजिप्त, ग्रीस और भारत की दास प्रथा इसके प्रमाण हैं। भिन्नता यह है कि आज के समय में विश्व से दास प्रथा खत्म हो चुकी है, लेकिन भारतीय ब्राह्मणवादी समाज में यह प्रथा, अनेक नये रूपों में विद्यमान है।

डॉ. प्रभाकर मांडे दलित का व्यापक अर्थ स्पष्ट करते हुए अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—“दलित या ऐसे व्यक्तियों का समूह जिनका मनुष्य के नाते जीने का हक छीन लिया गया है, जन्म से ही जिनके हिस्से में इस समाज व्यवस्था में केवल एक ही प्रकार का जीवन आया है, मानव के नाते जिनका मूल्य अस्वीकार किया गया है वे दलित हैं।”<sup>38</sup> बाबूराव बागुल ने वर्णाधारित समाज व्यवस्था की नीति की पृष्ठभूमि पर दलित का आशय समझाया है—“वर्णाधिष्ठित समाज और उसके साहित्य ने दलित यानि हीन, तुच्छ, तिरस्कृत, गतजन्म का पापी और इहलौकी दुखी, दरिद्र अपमानित, जिसका कुछ इतिहास नहीं, जिसके पुरखों को मंदिर अथवा ग्रंथ में पूजनीयता नहीं मिली, वे दलित हैं।”<sup>39</sup> बाबूराव बागुल सम्यक क्रांति के पक्षधर हैं। वे दलित शब्द को विश्वव्यापी रूप में व्याख्यायित करते हैं—“दलित की परिभाषा में अमेरिका से काला, गोरा, लाल, आफ्रो एशियाई देशों में से काला, गोरा, पीला आते हैं। अपने देश के अस्पृश्य, आदिवासी शोषित, पीड़ित आते हैं।”<sup>40</sup> कुसुम मेघवाल ने दलित की परिभाषा करते हुए लिखा है कि “दलित का शाब्दिक अर्थ है कुचला हुआ। अतः दलित वर्ग का सामाजिक सन्दर्भों में अर्थ होगा, वह जाति समुदाय जो अन्याय पूर्वक सवर्णों या उच्च

जातियों द्वारा दमित किया गया हो, रौंदा गया हो। दलित शब्द व्यापक रूप में पीड़ित के अर्थ में आता है, पर दलित वर्ग का प्रयोग हिन्दू समाज व्यवस्था के अन्तर्गत परंपरागत रूप में शूद्र माने जाने वाले वर्ण के लिए रूढ़ हो गया है। दलित वर्ग में वे सभी जातियां सम्मिलित हैं जो जाति सोपान क्रम में निम्न स्तर पर हैं और जिन्हें सदियों से दबाकर रखा गया है।<sup>41</sup>

उपरोक्त जितनी भी परिभाषाएँ दी गई हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि दलित शब्द का अर्थ व्यापक है। सभी ने अपने-अपने मत से इसकी परिभाषाएँ दी हैं। किसी ने सभी जातियों के शोषितों को समाहित किया है तो किसी ने सिर्फ दलित, आदिवासी और घुमंतू जातियों को। दलित वर्ग में अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, खानाबदोश किसान, मजदूर भूमिहीन, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, शैक्षणिक, अधिकारों से वंचित सभी जातियाँ शामिल होती हैं, जो बस्तियों के बाहर किसी किनारे पर तथा दूर दराज के वनों गुफाओं में अपना जीवन यापन करती हैं, जिन पर अनादिकाल से सवर्णों द्वारा अत्याचार होता आया है, वही दलित हैं। मोहनदास नैमिशराय ने बड़ी ही बेबाकी से स्पष्ट किया है कि कौन दलित की श्रेणी में आ सकता है? कौन नहीं। इनका वर्गीकरण अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। साथ ही, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि दलित शब्द अम्बेडकर के आंदोलन की देन है जिसे स्वयं बाबा साहब अम्बेडकर ने गढ़ी थी।

‘दलित साहित्य’ का उत्सव क्या है? दलित शब्द दलित साहित्य से जुड़ कर कब अस्तित्व में आया? इस पर विचार करना समीचीन है। डॉ. पांडुरंग वैजनाथ महालिंगे प्रबुद्ध भारत का हवाला देते हुए लिखते हैं—“अक्टूबर 1956 में डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर ने अपने लाखों अनुयायियों के साथ नागपुर में बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। इस धर्मचक्र प्रवर्तन दिन का महत्व केवल धार्मिक दृष्टि से ही नहीं था बल्कि उसे एक सांस्कृतिक जीवन की ओर ले जाना भी था। इन्हीं में से दलित लेखकों का पहला सम्मेलन आयोजित किया गया था। यह सम्मेलन असल में दिसंबर 1956 में ही डा. बाबा साहब अम्बेडकर के मार्ग दर्शन में होने जा रहा था, लेकिन बीच में ही बाबा साहब का निर्वाण हो गया जिससे इसे रद्द कर दिया गया था। बाद में यही सम्मेलन इतवार दिनांक 2 मार्च 1958 में बंगाली हाई स्कूल हॉल

मोरबाग रोड, दादर मुंबई, में संपन्न हुआ। इस समय सम्मेलन के अध्यक्ष खासदार बापू साहब कांबले थे। उद्घाटक आचार्य आत्रे थे, पर वे उपस्थित नहीं रह सके। इनके स्थान पर शाहीर अण्णा भाउ साठे को अध्यक्ष बनाया गया। इस समय दलित वर्ग के साहित्य का दृष्टिकोण क्या होगा? इस विषय पर निबंध लेखन प्रतियोगिता का भी आयोजन किया गया था। इस सम्मेलन की दखल उस समय के दलितों के एकमात्र पत्र 'प्रबुद्ध भारत' नामक साप्ताहिक ने ली थी और विशेषांक भी निकाला था। उन दिनों कार्यकारी संपादक दान्ता रूपवते थे। इसके संपादकीय में लिखा था— इस विचित्र समाज व्यवस्था के विरोध में दलित समाज ने निरंतर विद्रोह खड़ा किया है। इस विद्रोह का इतिहास ही दलित साहित्य है।<sup>42</sup>

कुछ विद्वानों का मानना है—“दलित साहित्य’, यह शब्द प्रयोग मराठवाडा दि. अंक 1969 में एक परिसंवाद आयोजित किया गया था। इस परिसंवाद के कारण यह शब्द प्रचलित हो गया।<sup>43</sup> लेकिन यह सही नहीं है। दलित शब्द साहित्य के साथ कब जुड़ा इस सन्दर्भ में “12 सितम्बर 1953 में जनता नामक साप्ताहिक में अप्पा साहेब रणपिसे का ‘दलित साहित्य का समालोचन’ नामक लेख प्रकाशित हुआ था। इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए राजा ढाले कहते हैं कि ‘दलित साहित्य शब्द सबसे पहले यहीं पर पढ़ने को मिलता है।’ भाउ साहेब आडसूल ने ‘दलित साहित्य’ की जन्मतिथि बताते हुए कहा है कि ‘दलित साहित्य’ यह शब्द संस्था को देना चाहिए, इस तरह की सूचना देने वाला विस्तृत पत्र यादव पिराजी टप्पल चेंबुर मुंबई इस कवि का दिनांक 2/10/1950 में लिखे पत्र में दिया है और दलित साहित्य की यही जन्मतिथि है ऐसा स्पष्ट रूप से कहा है।<sup>44</sup> इसे शरण कुमार लिंबाले ने बहुत ही अच्छे से सरलीकृत करके प्रस्तुत किया है—“ दलित लेखको ने अप्पा साहेब रणपिसे की पहल से 1949 में ‘दलित सेवक साहित्य संघ’ नाम की संस्था स्थापित की। इस संस्था का नाम बदल कर उसको ‘दलित साहित्य संघ’ नाम दिया जाए इसके लिए 2 अक्टूबर, 1950 को यादव पिराजी टप्पल ने सूचना निर्गत की। इस सूचना के अनुसार 1950 में ‘दलित सेवक साहित्य संघ’ का नामकरण ‘दलित साहित्य संघ’ के रूप में किया गया।

आगे 11 मार्च, 1961 में इस संस्था का नाम परिवर्तित होकर 'महाराष्ट्र बौद्ध साहित्य परिषद्' रखा गया। 2 मार्च, 1958 से 11 मार्च 1961 के बीच की अवधि में दलित साहित्य की चर्चा का प्रारंभ हुआ।<sup>45</sup>

"मराठी में 'दलित साहित्याचे समालोचन' इस लेख के कुछ ही समय बाद अप्पा साहेब रणपिसे का 28 फरवरी 1955 के 'जय भीम' नामक साप्ताहिक में 'दलित साहित्याची अनास्था' लेख देखने को मिलता है। 1955 के 'जनता' पत्रिका के 'डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर जयंती विशेषांक' में 'मराठी वांग्मय और अम्बेडकरी सम्प्रदाय' नामक एक लेख प्रकाशित हुआ था और पहले दलित साहित्य सम्मेलन के निमित्त मात्र से 1 मार्च 1958 को 'प्रबुद्ध भारत' साप्ताहिक का दलित साहित्य विशेषांक प्रसिद्ध हुआ था। विशेषतः 'दलित समाज और मराठी कादम्बरी', 'दलितों का वर्तमान पत्र', 'दलितों के काव्य वाङ्मय', 'मराठी रंगभूमि पर दलितों का वारिस', इस तरह के शीर्षकों से लेख देखने को मिलते हैं। कह सकते हैं कि दलित साहित्य की आलोचना (विवेचना) की जा सके इतना 'दलित साहित्य' सन 1955 के पहले उपलब्ध था। ऐसा विश्वास राजा ढाले को है।<sup>46</sup> इस आधार पर हम कह सकते हैं कि दलित साहित्य का निर्माण सन 1950 के पहले ही हुआ है और उसी समय से यह शब्द प्रयोग होता रहा है, इसकी विस्तृत जानकारी 'दलित शब्द' की उत्पत्ति के संन्दर्भ में पहले दी जा चुकी है। "'दलित साहित्य' शब्द मराठी साहित्य में सन 1960 के दशक के आस-पास चर्चा का विषय बना और उसके बाद प्रचार होना प्रारम्भ हुआ। शताब्दियों से हिन्दू धर्म ने जिन्हें अस्पृश्य माना, जिन्हें गांवों के बाहर रहने के लिए मजबूर किया गया, बहुत ही घृणास्पद व्यवहार किया गया, धर्म और संस्कृति के नाम पर जिनको मनुष्यता के सभी अधिकारों से वंचित रखा गया ऐसे वर्ग के लोगों द्वारा लिखा साहित्य ही दलित साहित्य है।"<sup>47</sup>

दलित साहित्य के उत्स का बीज आधुनिक-काल से पूर्व इतिहास की जड़ों में विद्यमान है। वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध जो कुछ लिखा जाने लगा वही वर्तमान समय में दलित साहित्य के नाम से जाना जाता है। इसलिए इस साहित्य का उत्स बुद्ध के वर्ण विरोधी संघर्ष से मानना चाहिए। हो सकता है इससे लोग



असहमत हों, लेकिन सुविख्यात चिंतक एवं दार्शनिक प्रो. तुलसीराम के विचारों से इस बात को मजबूती मिलती है। प्रो. तुलसीराम लिखते हैं—“दलित साहित्य वर्ण—व्यवस्था—जनित अत्याचारों के प्रतिरोध का साहित्य है, जिसकी नींव ढाई हजार वर्ष पूर्व महामानव गौतम बुद्ध ने डाली थी। अत्याचार तथा अमानवीयता के जितने भी पर्यायवाची शब्द तथा विधाएं हो सकती हैं, वे सब वर्ण व्यवस्था में विद्यमान हैं। धर्म तथा ईश्वरीय भय से लेकर जातीय भेद—भाव, भूख, गुलामी, अशिक्षा, हत्या तथा बलात्कार आदि वर्ण व्यवस्था के मूल घटक हैं।”<sup>48</sup> उपर्युक्त परिभाषा से इतना तो स्पष्ट है कि दलित साहित्य का बीज बुद्ध ने वर्ण व्यवस्था का विरोध करके डाला था, जो समय—समय पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराता रहा है।

आज भी यह प्रश्न विवाद के घेरे में है कि किसे दलित साहित्य कहा जाए किसे नहीं। क्या किसी भी वर्ग द्वारा लिखा हुआ साहित्य, दलित साहित्य की परिधि में शामिल होना चाहिए या भोगे हुए यथार्थ की धरातल पर लिखा साहित्य, दलित साहित्य है? इसे अनेक विद्वानों ने अपने—अपने मतों द्वारा स्पष्ट किया है। इस प्रश्न की जिज्ञासा को शांत करने के लिए भी तुलसी राम का विचार विचारणीय है। वे लिखते हैं—“दलित साहित्य किसी कुम्हार की सनी मिट्टी नहीं है, जिसे घुमते हुए चाक पर चढ़ा कर एक ही रूप रंग वाली हड़िया जो भी चाहे तैयार कर ले। दलित साहित्य का संबंध साम्प्रदायिकता विरोध से भी है। हिन्दुत्ववादी शक्तियां साम्प्रदायिकता फैलाकर वर्ण व्यवस्था पोषक स्तम्भों को ही मजबूत करने में लगी हैं। अतः साम्प्रदायिकता की मजबूती प्रत्यक्ष रूप से वर्ण—व्यवस्था का ही सबलीकरण है।”<sup>49</sup> शरण कुमार लिंबाले के अनुसार—“दलित साहित्य अपना केन्द्र बिन्दु मनुष्य को मानता है, बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर के विचारों से दलितों को अपनी गुलामी का एहसास हुआ। उनकी वेदना को वाणी मिली क्योंकि उस मूक समाज को बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर के रूप में अपना नायक मिला। दलितों की वह वेदना दलित साहित्य की जन्मदात्री है। दलित साहित्य की वेदना मैं की वेदना नहीं है वह बहिष्कृत समाज की वेदना है।”<sup>50</sup> मराठी के सुप्रसिद्ध कवि नारायण सुर्वे ने दलित साहित्य की परिभाषा इस प्रकार

दी है—“दलित शब्द की मिली-जुली परिभाषाएं हैं, इसका अर्थ केवल बौद्ध या पिछड़ी जातियां ही नहीं हैं, समाज में जो भी पीड़ित हैं, वे दलित हैं। ईश्वर निष्ठा या शोषण निष्ठा जैसे बन्धनों से आदमी को मुक्त करना चाहिए। उसका स्वतंत्र अस्तित्व सहज स्वीकार किया जाना चाहिए। उसके सामाजिक अस्तित्व की धारणा, समता, स्वतंत्रता और विश्वबंधुता के प्रति निष्ठा निर्धारित होनी चाहिए। यही दलित साहित्य का आग्रह है। ‘दलित साहित्य’ संज्ञा मूलतः प्रश्न सूचक है। महार, चमार, मांग, कसाई, भंगी जैसी जातियों के प्रश्नों पर विचार तथा रचनाओं द्वारा उसे प्रस्तुत करने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है।”<sup>51</sup> अजय नावरिया का विचार है कि दलितों पर लिखा गया साहित्य दलित साहित्य नहीं हो सकता। उनके कथनानुसार—“सच्चा दलित साहित्य वही होगा, जो दलितों के बारे में स्वयं दलित लिखेंगे। जब अपने समुदाय के जीवन के यथार्थ और अनुभव के बारे में कोई दलित ही लिखता है, तब उसकी दृष्टि में जो आग, चित्रों में जो आभा और भाषा में जो ऊर्जा होती है, वह गैर-दलितों द्वारा दलितों के बारे में लिखे गये साहित्य में नहीं होती।”<sup>52</sup>

मार्क्सवादी चिंतक शिवकुमार मिश्र का कहना है—“यह एक ऐसी सच्चाई है जिसे हमें निर्मल अन्तःकरण से स्वीकार करना चाहिए। हिन्दी या अनन्य भाषाओं में दलितों के बारे में जो भी लिखा गया है, नामी-गिरामी रचनाकारों द्वारा भी, उसकी अपनी सीमाएं हैं। वह अधिकांशतः उदार मानसिकता और मानवतावादी चेतना के सवर्ण रचनाकारों द्वारा ही लिखा गया है। इस लेखन में दलित जीवन की सच्चाइयों और उसका यथार्थ जरूर सामने आया है, किन्तु अपवादों को छोड़कर प्रायः इसमें दलितों की नारकीय जीवन स्थितियों, उनके प्रति बरते जाने वाले सामाजिक भेदभाव एवं शक्ति सम्पन्नों तथा सवर्णों द्वारा किये जाने वाले उनके उत्पीड़न पर या तो आंसू बहाए गये हैं, उन पर दया और सहानुभूति प्रकट की गई या फिर अधिक से अधिक इस उत्पीड़न के जिम्मेदार व्यक्तियों, वर्गों और संस्थाओं आदि की आलोचना की गई है। चली आ रही सामाजिक संरचना में दलितों की सामाजिक हैसियत निश्चित करने वाले, उन्हें नरकवास की नियति देने वाले इस अमानवीय सामाजिक विधान के कर्ताओं तक उनके धर्मशास्त्रों, उनके

द्वारा स्थापित निर्मम अपराध तंत्र और सदियों से उसे ढोने और बरकरार रखने वाली मानसिकता और उसके हाशिये पर जिन वज्र प्रहारों की जरूरत थी, उदारता, सहिष्णुता, भाईचारे और वसुधैव कुटुम्बकम् का मुखौटा लगाए अपराध करती अभिजनों की संस्कृति और आचरण को असलियत में दुःख, ग्लानि, पश्चाताप और सात्विक आक्रोश के साथ समूचे विश्व के समक्ष उजागर करने का जो नैतिक दायित्व था, तथा दलितों के वजूद, उनकी सामाजिक हैसियत, उनके संघर्ष, उनके श्रम, उनके अधिकार, और उनकी आकांक्षाओं के बरअक्स जिस पक्षधरता के साथ, सवर्ण मानसिकता और उसे पोषित करने वाले विधानों के खिलाफ रचनात्मक हस्तक्षेप, जिस रचनात्मक मुठभेड़ की दरकार थी, वह सब पूरी सदी के भारतीय परिदृश्य में नहीं हो सका।<sup>53</sup> विष्णु प्रभाकर मराठी दलित साहित्य की भूमिका के विषय में कहते हैं—“यहां प्रश्न सहमती और असहमति का नहीं है। समाज ने जिन्हें हजारों वर्षों तक सताया, दबाया, कुचला तथा उसका शोषण किया तो यह सहज ही है कि वे किसी न किसी धरातल पर उठकर अपनी पीड़ा और वेदना को शब्द दे। उसकी वेदना के प्रकटीकरण से यह संभव है कि जो उच्च जाति के हैं, उनका दंभ टूटे।<sup>54</sup> एक बार डॉ. धर्मवीर भारती से यह सवाल पूछा गया कि अनेक साहित्यकार दलित साहित्य को नहीं मानते हैं। इस पर आपकी क्या राय है? धर्मवीर भारती ने ऐसे लोगों पर निशाना साधा जिन्हें अपनी करनी और कथनी पर विश्वास नहीं होता, अपने द्वारा किये गये कार्यों की प्रमाणिकता के लिए किसी खास वर्ग द्वारा अपनी पीठ ठुकवाते फिरते हैं। उन लोगों को भी आड़े हाथों लिया जो पीठ ठोकने में माहिर हैं। दोनों तरह के लोगों पर डॉ. भारती ने बहुत ही सटीक टिप्पणी किया है—“इस प्रकार का उत्तर केवल साहित्यिक युद्ध है, जिनके विरोध में दलित साहित्य लिखा जा रहा है, वे अछू-आछूत वंशी लोग इसे साहित्य क्यों मानेंगे? यह आशा गलत है। जिनसे लड़ाई चल रही है उनसे मान्यता और पुरस्कार कैसा? दलित साहित्यकारों को खुद एक दूसरे को मान्यता देनी सीखनी चाहिए। वे गैर दलितों से मान्यता की भीख और हीनता में न पड़े। उल्टे दलित साहित्यकारों को यह आवाज उठानी चाहिए कि कालिदास दलितों की दृष्टि में किसी काम का साहित्यकार नहीं था, क्योंकि उसने कभी दलितों की हिम्मत नहीं बढ़ाई। वास्तव में दलितों की इतिहास

की दृष्टि से आज तक संस्कृत भाषा में कोई भी साहित्यकार पैदा नहीं हो सका है। संस्कृत में जो तथाकथित साहित्य मिलता है, वह छुआ-छूत वंशियों का शूद्र द्रोही और घरेलू साहित्य है।<sup>55</sup>

धर्मवीर भारती ने अपने इस टिप्पणी के हवाले से जिन तीन बिन्दुओं की ओर संकेत किया है वे बहुत ही जरूरी और महत्वपूर्ण हैं— पहला, दलित साहित्यकार गैर-दलित साहित्यकारों से क्यों प्रमाणिकता की उम्मीद लगाए बैठे हैं? यह बिलकुल वाजिब सवाल है, जिसने कभी दलितों को मानव की श्रेणी में स्वीकार नहीं किया, क्या वे उनकी लेखनी को मान्यता देंगे? दूसरा, उनका जो आग्रह सवर्ण-साहित्य पर सवाल उठाने का है, तो निर्विवाद रूप से इसकी पुष्टि हो चुकी है। दलित साहित्य और दलित साहित्यकारों ने ही सदियों से चली आ रही सवर्ण साहित्य की जड़बद्ध धारा पर लगाम लगाने का काम किया है। तीसरा, दलित साहित्यकारों को अपनी खुद की प्रमाणिकता स्वीकार करनी चाहिए, अब यह भी सिद्ध हो चुका है कि दलित साहित्यकारों ने अपनी साहित्य की अस्मिता और प्रमाणिकता का लोहा मनवा लिया है।

क्या गैर-दलित भी दलित लेखन कर सकते हैं? इस प्रश्न पर कथाकार अखिलेश कहते हैं—“अगर कर सकते थे तो अब तक क्यों नहीं किया? अब चूंकि दलित खुद अपनी बात करने के लिए आगे आ रहे हैं, तो उन्हें दिक्कत हो रही है कि वे क्यों नहीं लिख सकते।”<sup>56</sup> मनुवादियों के दोहरे चरित्र एवं समाज व्यवस्था से खिन्न होकर कंवल भारती ने कहा था कि “गैर दलित दलित साहित्य नहीं लिख सकता।”<sup>57</sup> इस पर निर्मला जैन से रहा नहीं गया और उन्होंने टिप्पणी की थी कि “आक्रोश के पीछे अनिवार्यतः आवेग होता है, जिससे अक्सर विवेक गड़बड़ा जाता है।”<sup>58</sup> दलित साहित्य की टीस, वेदना, पीड़ा, छटपटाहट, बेचैनी, शोषण का दर्द, अस्मिता, अनुभूति आदि गहराई से वही समझ और लिख सकता है जिसने भोगा है, जिसने जीने के लिए संघर्ष किया है, जिसने अपनी आँखों के सामने अपनी स्त्रियों-पुरुषों की इज्जत निलाम होते देखा है। बहुत से सवर्ण लेखक और चिंतक भी इस बात का लोहा मान चुके हैं लेकिन अभी भी कुछ निर्मला जैन जैसे हठधर्मी अपने वर्चस्ववादी मोहपाश से बाहर नहीं निकल पा रहे हैं। इसका एक

बड़ा उदाहरण नामधीन आलोचक नामवर सिंह भी हैं। उनका मत है "दलित होना एक व्यक्ति की ऐसी हकीकत है, जन्मना दलित होने के कारण अनुभव के जिन आसंगों से एक आदमी को गुजरना पड़ता है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव स्वयं दलित के जैसा है, अपनी पूरी अनुभूतियों व कल्पना का विस्तार करने के बावजूद मैं, जो एक गैर दलित हूँ उस अनुभव को उसी तीव्रता और तनाव से आपको अनुभव नहीं करा सकता।" वहीं दूसरे ही क्षण उनका वर्चस्ववादी मोह घेर लेता है और वे कहते हैं 'कोई लेखक दलित कुल में जन्म लेने से ही दलित चेतना का संवाहक नहीं हो जाता... जन्मना दलित ही दलित चेतना का प्रतिनिधि होगा, दूसरा कोई नहीं, गलत है।'<sup>59</sup> नामवर जी के इस अन्तर्विरोध पर ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी राय व्यक्त करते हैं—"इस तथ्य को स्वीकारने के बाद भी नामवार जी यह मानने को तैयार नहीं है कि दलित की पीड़ा दलित जिस सच्चाई और गहराई से अभिव्यक्ति कर सकता है वह गैर दलित नहीं। नामवरजी का यह अन्तर्विरोध उन्हें दलित साहित्य के पक्ष में खड़ा होने से रोकता है। मजबूरी क्या है नामवार जी ही बता सकते हैं।"<sup>60</sup> डॉ. चमनलाल भी दलित साहित्य की मान्यता पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं—"दलित साहित्य की अवधारणा या इसके व्यावहारिक रूप में यह तो सही है कि जीवन की प्रामाणिक अभिव्यक्ति वह लेखक कर सकता है जिसे इसका निकट अनुभव प्राप्त हो। यह भी सच है कि जिसकी बिवाई फटी होती है उसी को उसकी पीड़ा भी अधिक अनुभव होती है। लेकिन जो डॉक्टर फटी बिवाई का इलाज करता है, उसे फटी बिवाई की पीड़ा का स्वयं अनुभव हो भी यह जरूरी नहीं है। वास्तव में दलित साहित्य की अवधारणा एक अत्यंत व्यापक अवधारणा है, जिसे जातिगत दायरों में सीमित करना एक तरीके से इस साहित्य धारा के मित्रों को व इस धारा को वस्तुगत रूप से नुकसान पहुँचाना ही ठहरता है।"<sup>61</sup>

वाल्मीकि जी उत्तर देते हुए कहते हैं—"डॉ. चमनलाल की यह धारणा नितान्त ही एकांगी है और उनकी अपनी ही मान्यताओं में विरोधाभास उत्पन्न कर रही है क्योंकि यहाँ रोगी और चिकित्सक की मनोदशा को एक ही माना गया है। चिकित्सक रोगी का उपचार चाहे जितनी ईमानदारी से करे, उस पीड़ा का अहसास डॉक्टर को वैसा ही नहीं हो सकता जैसा रोगी को है। इसी अंतर को

आधार बनाकर दलित अभिव्यक्ति की अनुभवसिक्त प्रामाणिकता को समझा जा सकता है।<sup>62</sup> सभी गैर-दलित लेखकों की मानसिकता समान रूप से नहीं सोचती हैं, कुछ में सम्यक दृष्टि भी है। रमणिका गुप्ता का कहना है कि—“दलित साहित्य उस दबी हुई अस्मिता को प्राणवान मानव-अस्मिता का हिस्सा बनाने की लड़ाई लड़ रहा होता है, जब वह वर्णविहीन, वर्गविहीन, जाति विहीन समाज बनाकर एक मानवीय समाज बनाने की घोषणा करता है। जनवादी, प्रगतिशील और जनतान्त्रिक साहित्य जब भारत के जन्मना जाति के संदर्भ में केवल वर्ग की ही बात करते-करते एकतरफा, कहें कि इकहरा हो गया था—दलित साहित्य ने सामाजिक समानता और राजनीतिक भागीदारी को भी साहित्य का विषय बनाकर उनकी आर्थिक समानता की अधूरी मुहीम को पूर्णता दी। इन तीनों मुद्दों पर समानता प्राप्त किए बगैर मनुष्य पूर्ण समानता प्राप्त नहीं कर सकता। दलित साहित्य इस पूर्ण समानता के लिए संघर्षरत है।”<sup>63</sup> रमणिका जी मार्क्सवादियों की एकतरफा कार्य पद्धति को भी कठघरे में खड़ा करती हैं और दलित साहित्य की महत्ता को भी स्वीकारती हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि का मानना है कि दलित शब्द साहित्य के साथ जुड़ कर एक नई धारा का आविष्कार करता है। उन्हीं के शब्दों में—“दलित शब्द साहित्य के साथ जुड़ कर एक ऐसी साहित्यिक धारा की ओर संकेत करता है, जो मानवीय सरोकारों और संवेदनाओं की यथार्थवादी अभिव्यक्ति है।”<sup>64</sup> दलित साहित्य के पक्ष में अपनी बातों को पुख्ता करते हुए कंवल भारती लिखते हैं—“दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है, जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को रूपायित किया है। अपने जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उन्हीं के द्वारा उन्हीं की अभिव्यक्ति का साहित्य है। यह कला के लिए कला का नहीं, बल्कि जीवन का और जीवन की जिजीविषा का साहित्य है! इस लिए कहना न होगा कि वास्तव में दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की कोटि में आता है।”<sup>65</sup> दीनानाथ अपने लेख ‘भारतीयता की खोह में दलित विमर्श’ में लिखते हैं—“अछूत शूद्रों ने अपने लिए स्वयं द्वारा आविष्कृत नाम दलित कहलाना पसंद किया। इस प्रकार भारतीय उपमहाद्वीप में कश्मीर से

कन्याकुमारी तक और गुजरात से असम तक फैले हुए दलित समुदाय के स्वाभिमान के बारे में लिखा गया साहित्य दलित साहित्य है।<sup>66</sup> दलित साहित्य पर डॉ. बाबा साहेब के विचार उनके शब्दों में—“जिस समाज को अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, घुमंतू जातियाँ एवं आदिवासी के अन्तर्गत रखा गया है। इन चार वर्ग के समाज को असल में दलित कहना चाहिए। इनसे संबंधित जो साहित्य होगा वही दलित साहित्य है।”<sup>67</sup>

साहित्यकार की क्या भूमिका होनी चाहिए? साहित्य कैसा होना चाहिए? और उसमें क्या होना चाहिए? इस पर दलित साहित्यकारों को अगाह करते हुए बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर के विचार अनुकरणीय हैं—“साहित्य से समता का संवर्धन और विषमता का विध्वंस होना चाहिए। ...दलित साहित्यकारों को जागरूक और प्रयत्नशील हो जाना चाहिए। तुम्हारे उपन्यास, कथाओं की सीता लक्ष्मण रेखा पार करके आगे जा चुकी है। दुर्योधन के दरबार में द्रौपदी का वस्त्र हरण हो रहा है। शकुन्तला को दुष्यन्त अपना सही परिचय नहीं दे रहा है, इसीलिए शकुन्तला को बनवास हो रहा है। ऐसी स्थिति में साहित्यकारों में आह्वान कर रहा हूँ कि वे विभिन्न साहित्यिक विधाओं के द्वारा उदात्त जीवन मूल्यों और सांस्कृतिक मूल्यों को रेखांकित करें। आम आदमी की महत्ता से प्रेरणा लेकर लेखकों को लेखन करना चाहिए। अपनी साहित्य की रचनाओं में उदात्त जीवन मूल्यों और सांस्कृतिक मूल्यों को परिष्कृत कीजिए। अपना लक्ष्य सीमित मत रखिए। अपनी कलम की रोशनी को इस तरह से परिवर्तित कीजिए कि गाँव, देहातों का अंधेरा दूर हो। यह मत भूलिए कि अपने देश में दलितों और उपेक्षितों की दुनिया बहुत बड़ी है। उसकी पीड़ा और व्यथा को भली-भाँति जान लीजिए और अपने साहित्य द्वारा उनके जीवन को उन्नत करने का प्रयास कीजिए। इसमें सच्ची मानवता निहित है।”<sup>68</sup>

मराठी साहित्यकार बाबूराव बागुल दलित साहित्य को जाति, देश, धर्म से ऊँचा मानते हैं तथा इसके केन्द्र में मनुष्य को देखते हैं—“दलित साहित्य का केन्द्र बिन्दु मानव है, जो मनुष्य को देश-धर्म से भी उच्च स्तर पर रखता है।...इसमें सामाजिक दर्द, जातिवाद की पीड़ा, शोषण और उत्पीड़न है। इसमें आत्मवाद, ईश्वरवाद के विरुद्ध विद्रोह की प्रेरणा है।”<sup>69</sup> जयप्रकाश कर्दम ने दलित साहित्य

को 'वर्ण-व्यवस्था के खिलाफ, शोषण आरै असमानता के खिलाफ, धार्मिक रूढ़ियों व आडंबरों के खिलाफ एक मुहिम कहा है।' मोहनदास नैमिशराय ने दलित साहित्य को बहुजन समाज के सभी मानव अधिकारों एवं मूल्यों के उद्देश्य से लिखा गया साहित्य माना है।'

साहित्य को 'समाज का दर्पण' कहा गया है, लेकिन कौन सा दर्पण? अभी तक तो साहित्य रूपी दर्पण में सिर्फ 15 प्रतिशत का बिम्ब ही दिखाई दे रहा है, 85 प्रतिशत तो अँधेरे में है। अखिर दलितों की समस्याओं और उनकी अस्मिता को लेकर दलितों से पहले सवर्णों ने क्यों नहीं लिखा? इसका जिम्मेदार कौन है?

शरण कुमार लिंबाले दलित और गैर दलित लेखक में फर्क करते हुए कहते हैं—“महिला की प्रसूति के बारे में बयान डॉक्टर के बयान से हमेशा ही ज्यादा प्रामाणिक होगा।”<sup>70</sup>

एक चर्चित हिंदी कथाकार काशीनाथ सिंह ने दलित लेखकों का खिल्ली उड़ाते हुए अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था घोड़ा पर लिखने के लिए घोड़ा होना ज़रूरी नहीं। ओमप्रकाश वाल्मीकि इसका बहुत ही धारदार जवाब देते हैं—“घोड़े को देखकर उसके बाह्य अंगों, उसकी दुलकी चाल, उसके पुट्टों, उसकी हिनहिनाहट पर लिखेंगे, लेकिन दिनभर का थका-हारा, जब अस्तबल में भूखा-प्यासा खूँटे से बँधा होगा, तब अपने मालिक के प्रति उसके मन में क्या भाव उठ रहे होंगे, उसकी अन्तःपीड़ा क्या होगी, इसे आप कैसे समझ पायेंगे? मालिक का कौन-सा रूप और चेहरा उसकी कल्पना में होगा, इसे सिर्फ घोड़ा ही जानता है।”<sup>71</sup> घोड़े की इस मनःस्थिति को वाल्मीकि जैसा भुक्तभोगी लेखक ही समझ सकता है न कि अध्यक्ष महोदय जैसा सहानुभूति वाला गैर दलित लेखक।

दलित साहित्य सृजन के लिए क्या दलित होना ज़रूरी है ? इस प्रश्न का उत्तर सुप्रसिद्ध विचारक तुलसी राम बहुत ही रोचक ढंग से देते हैं—“कई लोग मंच पर शेर की आवाज़ निकाल कर दर्शकों में यह भ्रम पैदा करने में सफल हो जाते हैं कि साक्षात शेर बोल रहा है, किन्तु इस अभिनय कला की कलई तुरंत खुल जाती है जब वह अभिनेता मंच से उतर जाता है। ठीक यही यथार्थ दलित



साहित्य पर भी लागू होता है। गैर दलितों द्वारा लिखा गया दलित साहित्य किसी अभिनेता द्वारा मंच पर सफलता पूर्वक शेर की आवाज़ निकालने जैसा है जबकि दलित साहित्यकार स्वयं शेर भी हैं और उसकी आवाज़ भी।<sup>72</sup>

जिन लोगों का यह मानना है कि दलित साहित्य के अन्तर्गत वे सभी पिछड़ी जातियाँ और सभी स्त्रियाँ शामिल हैं जो शोषित हैं। यह उचित नहीं है क्योंकि भारतीय समाज में सारी पिछड़ी जातियों के साथ और सभी स्त्रियों के साथ छुआछूत का व्यवहार नहीं किया जाता है। छुआछूत का भेद सिर्फ अस्पृश्य (दलितों) के साथ ही होता है। डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन बहुत ही प्रासंगिक टिप्पणी देते हैं—“दलित साहित्य उन अछूतों का साहित्य है जिन्हें सामाजिक स्तर पर सम्मान नहीं मिला। सामाजिक स्तर पर जो जाति-भेद के शिकार हुए हैं उनकी छटपटाहट ही शब्दबद्ध होकर दलित साहित्य बन रही है।<sup>73</sup> सी. बी. भारती आज के संदर्भ में दलित साहित्य को देखते हैं। उनका मानना है—“नवयुग का एक व्यापक वैज्ञानिक व यथार्थपरक संवेदनशील साहित्यिक हस्तक्षेप है। जो कुछ भी तर्कसंगत, वैज्ञानिक परंपराओं को पूर्वाग्रहों से मुक्त साहित्य सृजन है हम उसे दलित साहित्य के नाम से संज्ञापित करते हैं।<sup>74</sup> प्रेमकुमार मणि दलित साहित्य को एक प्रकाशपूज के रूप में देखते हैं—“दलितों के लिए दलितों द्वारा लिखा जा रहा साहित्य, दलित साहित्य है यह विलास का नहीं आवश्यकता का साहित्य है। सम्पूर्ण विज्ञान इसकी दृष्टि है और पीड़ित मानवता का उद्धार इसका इष्ट है। दलित साहित्य वह प्रकाश पूज है जो अँधेरे में उतरा है।<sup>75</sup>

दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र पर भी गैर-दलित लेखकों द्वारा बहुत से सवाल उठाये गए हैं। उनकी हठधर्मिता है कि दलित साहित्य तथाकथित सवर्णों द्वारा लिखे गए साहित्य के प्रतिमानों पर खरा नहीं उतरता है। मसलन, दलित साहित्य में उस आनंद की रसानुभूति नहीं होती है जैसा कि सवर्ण साहित्य में होती है। वाल्मीकि जी कहते हैं—“एक दलित जिस उत्पीड़न को भोगकर दुःख, वेदना से साक्षात्कार करता है, वह आनंददायक कैसे हो सकता है? दलित साहित्य आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति करता है इसीलिए उसकी श्रेष्ठता शब्दजीवी नहीं है, न

शाब्दिक चमत्कारों तक ही सीमित है। अर्थ—गाम्भीर्य दलितों का स्वीकृत जीवन मूल्य है, जिस पर दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र टिका है।

ये जीवन मूल्य डॉ. आंबेडकर के जीवन—दर्शन और बुद्ध के तत्त्वज्ञान से संचालित है—

1. समता, स्वतंत्रता, बंधुता, न्याय के जीवन—अनुभव, अनुभवजन्य आशय, तथा उस आशय की अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति।
2. संस्कृति और धर्म के नाम पर वास्तविकता को छिपाकर रखे गए ढोंग को नकारना।
3. कल्पनाजन्य प्रतिमानों का निषेध. जैसे 'अमृत' मधुर पेय की कल्पना लेकिन उसका आस्वाद किसी ने नहीं जाना।
4. नित्य परिवर्तनीयता के आधार पर जीवन—मूल्यों का मूल्यांकन।
5. बंधन—मुक्त अभिव्यक्ति और अनुभवों का सच्चापन, जैसा देखा, भोग, उसका वैसा चित्रण शब्द केवल माध्यम है। शाब्दिक आडम्बर निर्माण में असमर्थ।<sup>76</sup>

जाहिर है, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र अनुभवजनित यथार्थ पर बना है कल्पना पर नहीं।

शरण कुमार लिंबाले का मानना है कि "सामाजिक मूल्य ही दलित साहित्य के सौंदर्य मूल्य हैं और सत्य, शिव, सुन्दरम् की कल्पना भेदमूलक है। यह सवर्ण समाज के स्वार्थ साधन के लिए की गई थी और वह दलितों को असत, अशिव और असुंदर मान कर चलती है। दलित का शोषण उनके लिए कल्याणकारी है, दलित की कुरूपता उन्हें सुंदर बनाती है और दलित का असत यानी उसका अपमान—अभाव और विनाश उनके लिए सत्य है। लिंबाले ने मनुष्य के अस्तित्व को सत्य, उसकी स्वतंत्रता को शिव तथा मनुष्यता को सुंदर कहकर व्याख्यायित किया है और समता, बंधुत्व और स्वतंत्रता की चर्चा को ही दलित साहित्य के

सौंदर्यशास्त्र की चर्चा मना है।<sup>77</sup> सी. बी. भारती के शब्दों में "दलित साहित्य के सौंदर्य में काल्पनिक रोमांटिक रंगीनियाँ नहीं, अपितु घटनाओं का खुरदरापन अपने यथार्थ रूप में प्रस्फुटित होता है।"<sup>78</sup> वाल्मीकि इसे व्याख्यायित करते हुए कहते हैं— "डॉ. सी. बी. भारती ने जिस खुरदरेपन की ओर संकेत किया है वह दलित जीवन का यथार्थ है। उनके रोजमर्रा के अन्तहीन यातनामय जीवन के इस यथार्थ की अभिव्यक्ति रससिक्त कोमल पदावली में संभव ही नहीं है। अक्रोशजनित अभिव्यक्ति को ही समीक्षक खुरदरापन कह रहे हैं।"<sup>79</sup> मैनजर पांडेय का कहना है— "कोई भी सौंदर्यशास्त्र एक दिन में नहीं बनता। प्रतिरोध और विकल्प का सौंदर्यशास्त्र तो और भी नहीं। वैसे तो हिंदी में कोई विकसित सौंदर्यशास्त्र नहीं है, लेकिन जो है उसके पीछे एक ओर संस्कृत के काव्यशास्त्र की लम्बी परंपरा है, तो दूसरी ओर पश्चिम के सौंदर्यशास्त्र का प्रभाव। स्वयं पश्चिम में सौंदर्यशास्त्र का विकास कई सदियों में हुआ। जो लोग कहते हैं कि सौंदर्यशास्त्र का जाति, वर्ग और विचारधारा से क्या लेना देना, वे या तो बेवकूफ हैं या बदमाश। सौंदर्यशास्त्र कला की अलौकिक अनुभूति नहीं है। वह कलात्मक सौंदर्य के बोध और मूल्यों का शास्त्र है, और बोध की प्रक्रिया तथा मूल्यों के निर्माण में जाति, वर्ग और लिंग से जुड़ी विचारधाराओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है... इसीलिए दलित सौंदर्यशास्त्र का विकास दलित समाज, उसकी चेतना, संस्कृति, विचारधारा और दलित सौंदर्यशास्त्र के विकास पर निर्भर है, जो एक लम्बी प्रक्रिया में होगा।"<sup>80</sup>

उपरोक्त तर्क के आधार पर जिन तथ्यों की ओर ध्यान आकर्षित होते हैं, वे यह हैं कि दलित साहित्य दलितों की चेतना की अभिव्यक्ति है। इनकी अपनी भाषा, अपने बिंब, अपने प्रतीक और अपनी स्वानुभूति है। इसमें मानवता का स्वर सर्वोच्च है। इस साहित्य में एक नकार है, विद्रोह है। यह नकार और विद्रोह उस व्यवस्था के प्रति है जो सदियों से दलितों का शोषण करके अपना उल्लू सीधा करता रहा है। यह सिर्फ नकार का साहित्य नहीं बल्कि समता, स्वतंत्रता, बंधुता, करुणा और अहिंसा पर आधारित समाज स्थापना का साहित्य है। आज दलित—विमर्श ने जिस तेवर के साथ सर्वत्र अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है, उसकी

पृष्ठभूमि में जिन संगठनों और लोगों ने योगदान दिया उस पर संक्षेप में प्रकाश डालना जरूरी है।

दलित-विमर्श की शुरुआत हमें तथागत गौतम बुद्ध के समय से मिलता है। बुद्ध पहले व्यक्ति थे जो वर्ण-व्यवस्था पर आधारित विषमता, अंधविश्वास और छुआछूत के विरोध में उठ खड़े हुए थे। उन्होंने आज से लगभग 2556 वर्ष पूर्व स्त्रियों को प्रव्रज्या देकर अपने भिक्षु संघ में शामिल किया और 'भद्रे' नामक सम्बोधन से सम्मानित किया। उन्होंने सुनीति भंगी को दीक्षित कर ऊँच-नीच के भेदे को मिटाया। उन्होंने वैज्ञानिक सिद्धांतों द्वारा वर्ण-व्यवस्था के मूलाधारों 'ईश्वर, वेद, पुराण, पुनर्जन्म, भाग्य, मोक्ष और आत्मा रूपी मिथक को तोड़ा था। इसके बाद संतों ने वर्ण-व्यवस्था पर चोट की। जहाँ बुद्ध मानव कल्याण के लिए राजसी टाट-बाट छोड़ कर मानव कल्याण के लिए गृह त्याग किया, वहीं कबीर, रविदास जैसे अनेक अवर्ण संत कवि हाथ में लुकाठी (मशाल) लेकर पाखण्ड, बाह्याडम्बर, शोषण आदि को ललकारते हुए आमजन के दुख-सुख में सहभागी बने।

आधुनिक काल में राष्ट्रपिता जोतिबा फुले और क्रान्तिज्योति माता सावित्रीबाई फुले शिक्षा की ज्योति जलाने के लिए अपना घर-बार का त्याग किया। इसी परंपरा को व्यापक रूप देते हुए सम्पूर्ण क्रांति के अग्रदूत संपूर्ण भारतीय स्त्रियों के उन्नायक भारतरत्न बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर अपने परिवार की चिंता किये बगैर मानव-मुक्ति का मशाल लेकर विदेशों तक गये, तो बहुजनों के नायक मान्यवर कांशी राम अखण्ड भारत का सपना सकार करने के लिए एक बार जो घर छोड़ा तो फिर वापस नहीं गये।' ऐसे बहुत से महानायक गुलामी की व्यवस्था और वर्णाश्रम-आधारित समाज व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिए संघर्षरत रहे।

महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले (1827-1890) वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध आंदोलन चला रहे थे। 1850 में उनका 'तृतीयरत्न' नामक नाटक प्रकाशित हुआ। 1873 में उन्होंने 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की। इसी वर्ष उनकी बहुत क्रांतिकारी रचना 'गुलामगीरी' आई। शूद्र-अतिशूद्रों की पीड़ादायक गुलामी का जैसा चित्रण

उन्होंने गुलामगीरी में किया है उससे पेशावाई राज में ब्राह्मणों द्वारा किए गये अमानुषिक कृत्यों का पता चलता है। फुले शूद्रों की दुर्गति का कारण अशिक्षा को मानते थे —

“विद्या बिना मति गई, मति बिना नीति गई  
नीति बिना गति गई  
गति बिना धन गया, धन बिना शूद्र पतित  
हुए, इतना घोर अनर्थ मात्र अविद्या के कारण ही हुआ।”<sup>81</sup>

फुले अपने जीवन-काल में दलित-विमर्श की एक सशक्त पृष्ठभूमि का निर्माण कर चुके थे।

केरल में नारायण गुरु (1854) जाति-प्रथा के विरुद्ध आंदोलनरत थे। इन्होंने एक जाति, एक धर्म और एक ईश्वर की घोषण की। इनका लोकप्रिय नारा था—‘जाति मत पूछो, जाति मत बताओ, जाति के बारे में मत सोचो’। दक्षिण भारत में ‘आदि-द्रविड़’ आंदोलन के जनक एम.सी. राजा थे’ बाद में ई. वी. पेरियार रामा स्वामी नायकर (1879-1973) ने वर्ण-व्यवस्था के खिलाफ आंदोलन चलाया। इन्होंने 1944 में द्रविड़-कड़गम की स्थापना की। ये ईश्वर को नहीं मानते थे। इनकी स्पष्ट घोषण थी कि ‘भारत में जब तक ईश्वर का अस्तित्व रहेगा, तब एक छुआछूत रहेगी।’ तत्कालीन आंदोलनकारियों में पेरियार का विचार सबसे क्रांतिकारी था। उत्तर भारत में स्वामी अछूतानंद ‘हरिहर’ (1879-1933) आदि-हिन्दू आंदोलन के माध्यम से जनता की चेतना जागृत कर रहे थे। उन्होंने 1925 में ‘आदि हिंदू’ पाक्षिक तथा 1929 में ‘अछूत’ नामक मासिक पत्र का प्रकाशन और संपादन भी किया। बहुत से लोग हीराडोम की कविता ‘अछूत की शिकायत’ (1914 में ‘सरस्वती’ पत्रिका में छपी थी) से दलित विमर्श को उठाते हैं, लेकिन 1912 में अछूतानंद हरिहर की कविता छप चुकी थी, जिसकी मूल प्रति दलित चिंतक गुरु प्रसाद मदन के पास आज भी है। स्वामी अछूतानंद हरीहर से प्रभावित होकर पंजाब में मंगू राम —आदिधर्म नामक आंदोलन चलाया। बाबा साहब भी अछूतानंद से प्रभावित थे। बंगाल के चाँद गुरु (1860-1930) 1891 में चाण्डाल शब्द के विरोध में उठ खड़े हुए थे। यह आंदोलन वैसा ही था जैसा गाँधी के

‘हरिजन’ शब्द के विरुद्ध में दलितों ने चलाया। इन्होंने ब्राह्मणवादी व्यवस्था से टक्कर लेने के लिए ‘मतुआ धर्म’ की स्थापना की और ‘चाण्डाल’ की जगह ‘नमःशुद्र’ नाम दिया। ये भी नारायण गुरु की तरह अछूतों के लिए अलग मंदिर के समर्थक थे। तत्कालीन मध्य प्रदेश के छत्तीसगढ़ क्षेत्र में गुरुघासीदास का आंदोलन कार्यरत था। इन्होंने ‘सतनामी सम्प्रदाय’ बनाकर दलितों को उसमें शामिल किया। इनके आंदोलन के तीन सूत्र थे— सतनामी बनो, संगठन बनाओ, संघर्ष करो। बिरसा मुण्डा (1875– 1900) ने जल-ज़मीन-जंगल के लिए संघर्ष करते हुए अपने प्राणों को न्यौछावर कर दिया।

दलित साहित्य और आन्दोलन की पृष्ठभूमि में जाने-अनजाने नीग्रो साहित्य की भी भूमिका रही है। नीग्रो साहित्य और दलित साहित्य में बड़े पैमाने पर समानताओं के बावजूद भिन्नताएँ भी मिलती हैं, जिसे शरण कुमार लिंबाले ने रेखांकित किया है—“ऐसे भी नीग्रो इसाई थे, जिनमें जन्मजात जाति नहीं होती, लेकिन वर्ण (रंग) के आधार पर उनका दमन होता था। उनका दमन करने वाले भी इसाई ही थे, जो गोरे थे। ये लोग इन्हें रंग के आधार पर गुलाम तो बनाते थे पर वे इन्हें प्रशिक्षित भी करते थे जिससे इनका व्यक्तिगत विकास होता रहता था। गुलाम, मालिक को अपने दाम चुका कर आजाद भी हो सकते थे। व्यक्तिगत विकास और शिक्षा के लिए उन पर कोई धार्मिक प्रतिबंध नहीं था। भारतीय दमनकारी भी सवर्ण हिन्दू हैं और दलित भी हिन्दू ही हैं, जिन्हें जन्मजात जाति के नाम पर अछूत-शूद्र बनाया गया लेकिन धर्म और शास्त्र द्वारा उन्हें अशिक्षित-निर्धन तथा अस्पृश्य बने रहने के लिए बाध्य किया गया। शास्त्र द्वारा उनका आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तीनों स्तर पर विकास प्रतिबंधित कर दिया गया। दलित मुक्त ही नहीं हो सकते इस जातीय ‘स्टिग्मा’ से। जीते जी इनके घर, टोले गाँव से दूर, अलग-थलग तो होते ही हैं पर मरने पर भी इनका श्मशान अलग ही होता है। नीग्रो के साथ ऐसा नहीं था।”<sup>82</sup>

इस सच्चाई से मुह नहीं मोड़ा जा सकता कि ‘ब्लैक पैंथर’ की तर्ज पर ही 1972 में नामदेव ढसाल और जे.पी. पवार ने मुंबई में ‘दलित पैंथर’ का गठन किया। शरण कुमार लिंबाले अपने एक साक्षात्कार में दलित पैंथर के योगदान को

स्वीकार करते हुए कहते हैं— “दलित पैथर नहीं होता तो दलित साहित्य इतना लड़ाकू तेवर लेकर निर्मित नहीं हो सकता था। वे आगे कहते हैं— “हमने याचना छोड़ दी, हम दया से घृणा करने लगे, हमें मानवता चाहिए आपकी दया नहीं...हमें सियासत में बराबरी का अधिकार चाहिए, हमें सत्ता चाहिए, हमें स्वतंत्रता चाहिए, हमें राजसत्ता की चाबी चाहिए, हमें प्रमुख अधिकारों की जगह चाहिए, हमें अच्छे और सम्मान वाले पद चाहिए, ऐसी भाषा की शुरुआत दलित पैथर के बाद हुई।”<sup>83</sup> लिंबाले ने राजनीतिक सत्ता की तरफ इशारा करके बहुत ही महत्वपूर्ण बिंदु की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कराना चाहते हैं। जिसके पास राजनीतिक सत्ता होती है उसका साहित्यिक पक्ष भी मजबूत होता है।

दलित समस्याओं पर गाँधी जी का दृष्टिकोण पूर्णरूप से धार्मिक और राजनीतिक था, जिसे साहित्य में प्रेमचंद पूरी निष्ठा से प्रस्थापित करते हैं, और डॉ. अम्बेडकर के आन्दोलन को शंकालु दृष्टि से देखते हैं। दलितों के दृष्टिकोण को वे अन्देखा करते हैं। प्रो. तुलसी राम का कहना है—“बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में भारतीय राजनीति में बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर का उदय हुआ। अतः वर्तमान दलित राजनीति तथा साहित्य का जो भी रूप है, उसकी जड़ में डॉ. आंबेदकर का संघर्ष आज भी खाद-पानी की तरह काम आ रहा है।” आगे वे लिखते हैं—“राजनीति में जिस वर्ग या समूह का जितना वर्चस्व होता है, ठीक उसी अनुपात में उसका साहित्य भी पनपता है। यह तथ्य सम्पूर्ण विश्व के इतिहास में प्रकट हो चुका है। भारत के सन्दर्भ में वर्ग की अवधारणा का प्रतिनिधित्व यहाँ की वर्ण-व्यवस्था करती चली आ रही हैं। वर्ण-व्यवस्था सिर्फ एक सामाजिक व्यवस्था नहीं थी बल्कि धर्म पर आधारित एक क्रूर राजनीतिक प्रणाली थी, जिसके मूल में भगवान का भय बड़ी कृत्रिमता से किन्तु निहायत संगठित रूप से खड़ा किया गया था। अतः भारतीय समाज का पूरा इतिहास तथा साहित्य इसी वर्ण प्रणाली के इर्द-गिर्द शुरू से ही चक्कर काटता चला आ रहा है।”<sup>84</sup> इस देश का सबसे समृद्धिशाली साहित्य बुद्धिस्टों का पालि साहित्य रहा है, लेकिन सत्ता परिवर्तन के कारण सब विध्वंश हो गया।

हिन्दुओं में गाँधी पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने अछूतोद्धार का आंदोलन चलाया था। लेकिन इनका अछूतोद्धार वर्ण-व्यवस्था का पोषक था। वे दलितों पर 'हरिजन' उपाधि थोपकर अछूतोद्धार की बात करते थे। उनकी दृष्टि मूलतः आध्यात्मिक और धार्मिक वर्ण-व्यवस्था से सम्पृक्त थी, जिसकी परिणति राजनीति में थी। सही मायने में बाबा साहब अछूतों के हितैषी थे। क्योंकि दलितों का सवाल न तो आध्यात्मिक है और न ही वर्ण-व्यवस्था पोषी। अम्बेडकर दलित समस्या को सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षणिक से जोड़ कर देखते थे। उन्होंने वैज्ञानिक तर्क के आधार पर दलित चेतना का नींव रखा और हिन्दूधर्म-आधारित वर्ण-व्यवस्था का नकार किया।

ओमप्रकाश वाल्मीकि का कहना है—“दलित साहित्य की भूमिका मानव केंद्रित है। डॉ. अम्बेडकर ने दलितों में चेतना जगा कर उन्हें मुक्ति संघर्ष से जोड़ा। वर्ण-व्यवस्था ने जो उन पर गुलामी के बंधन कसे थे, उन्हें तोड़ने में डॉ. अम्बेडकर का आन्दोलन जहाँ एक ओर सामाजिक और वैचारिक आन्दोलन था, वही वह राजनीतिक आन्दोलन भी था। दलित साहित्य उसी संघर्षशील चेतना की अभिव्यक्ति है।”<sup>85</sup>

इस तरह दलित-विमर्श की शुरुआत बुद्ध से लेकर कबीर रैदास, नंदनार, चोखामेला, नानक, नारायण गुरु आदि संतों और इनसे भी पहले नाथों-सिद्धों से मानी जा सकती है, लेकिन परोक्ष रूप से इनमें से बहुतों ने हिन्दूवादी व्यवस्था को ही मज़बूत किया। सिर्फ कबीर और रविदास ही ऐसे, समाज सुधारक संत थे जिन्होंने वर्णव्यवस्था पर तीव्र प्रहार किया। बहुत से संत कवि ईश्वर से ज़ि़रह करते रहे, गुह्य साधना पद्धति और रहस्यावाद में भटक गये, वंचित समाज के सामने कोई विकल्प नहीं रख सके। हाँ दलित-विमर्श की पृष्ठभूमि तैयार करने में इन संत कवियों और समाज सुधारकों के योगदान को नहीं भूलाया जा सकता है। बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर के पूर्व दलित-विमर्श की पृष्ठभूमि तैयार करने में इन संत कवियों और समाज सुधारकों का महत्वपूर्ण योगदान है।



दलित साहित्य को सबल बनाने में पत्र-पत्रिकाओं तथा विभिन्न संगठनों, संस्थाओं की बड़ी भूमिका रही है। सातवें दशक में दलित लेखकों ने अपनी लेखनी के माध्यम से दलित साहित्य की जो जमीन तैयार की उसकी नोटिस गैर-दलित साहित्यकारों द्वारा बहुत बाद में लिया गया, जबकि पत्र-पत्रिकाओं में दलित साहित्य का स्वर गूँज चुका था और आठवें दशक तक सवर्णों के मंच को चुनौती देना आरंभ कर दिया था। सातवें दशक में ही आर. कमल के संपादन में 'निर्णायक भीम' पत्रिका कानपुर से निकल रही थी। इस पत्रिका की बदौलत बहुत से दलित लेखक उभर कर सामने आए। कई सारे संगठन भी सक्रीय हुए। डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर के नेतृत्व में 'भारतीय दलित साहित्य अकादमी' के राष्ट्रीय सम्मलेन होने लगे थे। इस अकादमी ने दलित लेखकों, दलित चेतना समर्थकों एवं गैर-दलित लेखकों को एक मंच पर लाने का काम किया। राजपाल सिंह 'राज' और लक्ष्मी नारायण सुधाकर ने 1981 में दलित साहित्य मंच की स्थापना किया। 'सेंटर फॉर अल्टरनेटिव दलित मीडिया' (कदम) 1990 में अस्तित्व में आया और इसने दलित साहित्य का प्रचार प्रसार तथा 'अभिमूक नायक' अखबार का प्रकाशन कार्य भी सुरु किया। 31 जुलाई 1992 को हंस पत्रिका ने 'दलित चेतना: विशिष्ट संदर्भ प्रेमचंद' विषय पर नई दिल्ली में वार्षिक गोष्ठी का आयोजन किया। जिसकी चर्चा अंत में 'स्त्री दलित है या नहीं' पर केन्द्रित हो गई थी। इस गोष्ठी से एक बड़ा फायदा यह हुआ कि जो दलित साहित्य को नजरंदाज कर रहे थे उनका ध्यान इस ओर गया। अक्टूबर 1993 में 'अखिल भारतीय हिंदी दलित-लेखक-साहित्य सम्मलेन' का आयोजन डॉ. विमल कीर्ति ने नागपुर में किया, जिसकी अध्यक्षता ओमप्रकाश वाल्मीकि और उद्घाटन संचेतना के संपादक डॉ. महीप सिंह ने की थी। 22-23 जुलाई 1995 में 'दलित साहित्य प्रकाशन' ने 'भारतीय हिंदी दलित साहित्यकार सम्मलेन' कराया था। डॉ. चंद्रभान प्रसाद ने 'दलित शिक्षा आन्दोलन' की स्थापना कर ब्रिटिश काल से लेकर आज तक दलितों की शिक्षा के अवरोधों और प्रयासों पर शोध कार्य शुरू किया तथा उस दिशा में पुस्तक प्रकाशन की शुरुआत की। डॉ. कुसुम वियोगी ने 'दलित लेखक संघ' की स्थापना कर साहित्यिक गोष्ठियां और चर्चाओं की शुरुआत की। श्यौराज सिंह बेचैन की अध्यक्षता में 'दलित राइटर्स फोरम' का गठन हुआ। नागपुर में डॉ. विमल

कीर्ति ने 'फुले अम्बेडकरवादी लेखक संघ' का गठन कर बाबा साहेब के दीक्षा-दिवस पर पुरे भारत से हिंदी दलित लेखकों का सम्मलेन बुलाने का ऐतिहासिक कार्यक्रम शुरू किया। 2 अक्टूबर 1995 को नागपुर में ही सुश्री कुमुद पांवड़े द्वारा 'आल इण्डिया प्रोग्रेसिव विमेन अर्गेनाइजेशन' की देख-रेख में दलित महिला लेखिकाओं का प्रथम सम्मलेन का आयोजन हुआ। नागपुर में ही 'दलित लेखिका संघ' ने हिंदी दलित लेखिकाओं को एक मंच पर लाने की योजना बनायी और उसी के तहत रजनी तिलक की पहल पर 3 जनवरी 1996 को दिल्ली में प्रथम सम्मेलन हुआ।

बिहार में 'अम्बेडकर मिशन' का गठन कर बुद्ध शरण हंस ने दलित साहित्यकारों को एकत्रित किया। उज्जैन में अवंतिका प्रसाद 'मरमट' ने 'मध्य प्रदेश दलित साहित्य अकादमी' और पुरुषोत्तम सत्य प्रेमी ने शुरू में 'डॉ. अंबेडकर राष्ट्रीय अस्मितादर्शी साहित्य अकादमी' नाम से संस्था बनायी और बाद में 'भारतीय दलित साहित्य अकादमी' की मध्य प्रदेश शाखा का गठन किया। हीरालाल पिप्पल तथा सुश्री प्रभा वीसे ने 'अखिल भारतीय अनुसूचित जाति परिषद्' का गठन किया। अवंतिका प्रसाद 'मरमट' ने 'पूर्वदेवा' तथा प्रभा वीसे ने 'परिषद् सन्देश' पत्रिकाएँ प्रकाशित करनी शुरू की।

गैर-दलित संस्थाएँ भी दलित साहित्य और साहित्यकारों को मजबूती प्रदान करने का काम किया, जिनमें सबसे पहले 1997 में बिहार में रमणिका फाउंडेशन विनोबा भावे विश्वविद्यालय द्वारा हजारीबाग में पूरे देश स्तर पर दलित साहित्य लेखक सम्मलेन आयोजित किया गया। 14-17 अक्टूबर 1997 में ही 'इंडियन इंस्टीच्यूट ऑफ एडवांस स्टडी' राष्ट्रपति निवास, शिमला में 'ब्लैक और दलित लेखन: कुछ प्रवृत्तियाँ विषय पर डॉ. मृणाल मिरी, डॉ. चमनलाल और डॉ. हरीश नारंग द्वारा चार दिवसीय सेमिनार का आयोजन हुआ, जिसमें देशभर से नामी-गीरामी दलित-गैरदलित, हिंदी-अहिंदी साहित्यकारों ने शिरकत की।

'इंडियन सोशल इंस्टीच्यूट' द्वारा 'दलित और नई शिक्षा प्रणाली' विषय पर जनवरी 5-7, 1998 में बहस आयोजित हुआ था और इसमें एक दलित एजेंडा भी

तैयार किया गया था। इसके अलावा जलेस, जसम और प्रगतिशील लेखक संघ ने भी दलित साहित्य और पुस्तकों पर गोष्ठियाँ एवं चर्चाएँ शुरू की।

दलित साहित्य के विकास में जिन पत्रिकाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, वे हैं— निर्णायक भीम, भारत अश्वघोष, हंस, युद्धरत आदमी, आंबेडकर मिशन, शंबूक (पटना), धम्म दर्पण, हम दलित, हिमायती, अंगुत्तर त्रैमासिक (डॉ. विमल कीर्ति) पश्यंती, दलित साहित्य वार्षिकी, अभिमुख नायक, दलित प्रक्रिया, सजग प्रहरी, समय सरोकार (दिल्ली), लोक सूचक (कानपुर), परिषद् सन्देश, (मध्य प्रदेश), प्रज्ञा (लखनऊ), अंबेडकर इन इंडिया (फाजिलनगर, कुशीनगर से), दलित अस्मिता, दलित दस्तक, सामाजिक न्याय सन्देश, इत्यादि। इनमें से कुछ तो वर्तमान समय में भी प्रकाशित हो रही हैं और कुछ बंद हो चुकी हैं। इस प्रकार बीसवीं सदी में लगभग अस्सी के दशक के बाद विभिन्न दलित, कुछ गैर-दलित संस्थानों एवं पत्रिकाओं ने दलित चिंतन और दलित साहित्य के विकास हेतु उसकी पृष्ठभूमि बनाने, दलित अस्मिता का निर्माण करने, दलित मुद्दों पर विचार-विमर्श करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका तो निभाई, साथ-ही-साथ, सबको एक मंच पर लाकर दलित-गैरदलितों का संवाद भी कायम किया।

महाराष्ट्र में दलित साहित्य युगान्तकारी क्रांति के तौर पर सामने आता है। मराठी दलित साहित्य को आगे बढ़ाने में जिनका महत्त्वपूर्ण योगदान है, वे हैं— महात्मा फूले, विठ्ठल रामजी शिंदे, नामदेव ढसाल, राजा ढाले, अरुण काम्बले, विमल थोराट, बाबूराव बागुल, शरण कुमार लिंबाले आदि। बाबूराव बागुल की मराठी में 'जेव्हामी जात चोरली' (जब मैंने जाति छिपाई), नामक कहानी संग्रह मराठी दलित साहित्य को युगान्तकारी बना दिया। दया पवार की आत्मकथा 'बलुत' (अछूत), लक्ष्मण माने की 'उपरा' (पराया) लक्ष्मण गायकवाड़ की 'उठाईगीर' शंकर राव खरात की 'तराल अंतराल', शरण कुमार लिंबाले की 'अक्करमाशी' (अवैध संतान) बेबी काम्बले की 'जीर्ण अमुच' (जीवन हमारा) तथा प्र. ई. सेन काम्बले की 'यादों के पंछी' जैसी लगभग 24 दलित आत्मकथाओं ने मराठी दलित

साहित्य को मजबूत किया। यह विधा पूरे भारतीय दलित साहित्य में उभर कर आ चुकी है। हिंदी में लिखने वाले लेखकों का ब्यौरा आगे दिया जाएगा।

किसी भी विचारधारा, साहित्य, इतिहास, राजनीति, धर्म, संस्था, समाज इत्यादि के निर्माण प्रक्रिया में बहुत सारे तत्त्व काम करते हैं, निर्माण की पूरी प्रक्रिया में आधारभूत स्तंभ को ये तत्त्व मजबूती प्रदान करते हैं। दलित साहित्य के निर्माण प्रक्रिया में भी विभिन्न विद्वान महापुरुषों, आंदोलनों, संगठनों और पत्र-पत्रिकाओं की सहभागिता रही है, लेकिन इस साहित्य में जो आधारभूत स्तंभ का काम किया है, वह है— अम्बेडकरवाद। डॉ. गंगाधर पानतावाड़े भी इस तथ्य पर जोर देते हैं कि “दलित साहित्य की प्रेरणा न मार्क्सवाद है, न हिन्दूवाद, न नीग्रो साहित्य है, दलित साहित्य की प्रेरणा केवल अम्बेडकरवाद है।”<sup>86</sup> कँवल भारती की भी मान्यता उक्त बातों को और भी प्रामाणित करती है—“आधुनिक हिंदी दलित साहित्य वह है जो दलित मुक्ति के सवालों पर पूरी तरह अम्बेडकरवादी है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में उसके सरोकार वे हैं जो आंबेडकर के थे।”<sup>87</sup> दलित साहित्य की चेतना को व्यापक रूप देते हुए डॉ. सी. बी. भारती का कहना है—“दलित साहित्य का सर्जक सामाजिक सरोकारों से जुड़कर जीवन की विषमताओं, धार्मिक विषंगतियों, शोषण के लिए निर्मित कृत्रिम उपादानों तथा मानव-मानव के मध्य बने अन्तराल को मापने का प्रयास करता है।”<sup>88</sup>

विवेचनोपरांत जो तथ्य सामने आते हैं, उनसे स्पष्ट है कि दलित-विमर्श एक दिन में नहीं उपजा है। इसकी परंपरा हर काल में दिखाई देती है। यह अलग बात है कि इतिहास लिखने वालों ने पूर्वाग्रही होकर इसे इतिहास से मिटाने की कोशिश की। बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर के बाद दलित-विमर्श अपनी सही पहचान बनाने में सक्षम होता है। इस बात को सभी दलित साहित्यकार स्वीकार करते हैं। शरण कुमार लिंबाले मानते हैं कि अम्बेडकर के धर्मान्तरण से ही दलित

साहित्य की सृजना हुई। अम्बेडकर ज्योतिबा फुले के विचारों से बहुत प्रभावित थे। उनकी परंपरा का विस्तार करते हुए 'गुलामों को गुलामी का एहसास करा दो वह विद्रोह कर देगा।' के साथ 'शिक्षित बनो, संघर्ष करो, संगठित रहो' का नारा दिया। अम्बेडकर ने सिर्फ वर्ण-व्यवस्था या मनुवाद को दोषी नहीं ठहराया बल्कि ऊँच-नीच, भेदभाव, छुआ-छूत के कारणों का गहराई से अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हमारा जो भावी समाज होगा वह समता, स्वतंत्रता, बंधुता, करुणा और अहिंसा पर आधारित होगा। यह एक बड़ा विकल्प बाबा साहब ने अछूत समाज के सामने रखा, जिसका परिणाम आज तेज़ी से आगे बढ़ता हुआ दलित साहित्य में दिखाई दे रहा है। आज पूरा का पूरा दलित साहित्य अम्बेडकर के विचारों से अनुप्राणित है।

दलित विमर्श की एक लम्बी परंपरा रही है। साहित्यकारों और आलोचकों ने दलित साहित्य के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। यहाँ दलित शब्द से लेकर दलित-विमर्श की परंपरा तक अनेक विद्वानों के मत दिए गये हैं। कुछ विद्वान दलित शब्द और साहित्य को व्यापक रूप में उन सभी जातियों से जोड़कर देखते हैं जो गरीब पिछड़े और सताए हुए हैं। तो कुछ विद्वान सिर्फ अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, आदिवासियों को ही इसके दायरे में रखते हैं। वास्तव में वही दलित की परिभाषा में फिट बैठ सकता है, जिसने दलित जीवन की यातनाएँ भोगी हों। बाबा साहब ने संविधान में जिसे दलित के रूप में स्वीकारा है, वही दलित है। दलित केवल कल्पना के आधार पर या सुनी-सुनाई बातों को आधार बनाकर साहित्य सृजन नहीं करते हैं, जो यथार्थ से कोसों दूर हो, बल्कि यथार्थता की निधि है इनकी रचनाएँ। सवर्णों के साहित्य में सामाजिक विषमताएँ और नियति का स्वीकारोक्ति हैं, लेकिन दलितों का साहित्य उनके यातनापूर्ण जीवन का प्रस्फूटन है जिसमें व्यवस्था के प्रति नकार है। एक कहावत है कि लोहा लोहे को काटता है, अर्थात् जैसे, मनुवादियों ने दलितों को नकारा उनके साहित्य को कमतर करके आंका, ठीक वैसे ही आज दलित अपने स्वयं साहित्य सृजन द्वारा

उनको नकार रहा है, फिर हाय तोबा क्यों मचाया जा रहा है? परिवर्तन तो प्रकृति का नियम है।

संक्षेप में दलित साहित्य का वैचारिक आधार भारतरत्न डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर का जीवन-संघर्ष है। बुद्ध, कबीर, ज्योतिबा फुले दम्पति का जीवन-दर्शन दलित साहित्य की पृष्ठभूमि है। दलित साहित्य उन लोगों का साहित्य है, जिन्हें हजारों-हजार साल से इंसान नहीं समझा गया, जिन पर अमानवीय अन्याय अत्याचार हुए। यह साहित्य इंसानियत को केन्द्र बिन्दु मानने वाला, अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करनेवाला तथा समता, स्वतंत्रता, बंधुता, करुणा और अहिंसा पर आधारित है। इस साहित्य में 'सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय' का स्वर मुखरित हुआ है। आज दलित साहित्य, साहित्य की सारी विधाओं में रचा जा रहा है।

## संदर्भ-सूची

1. दलित विमर्श की भूमिका- कँवल भारती, पृष्ठ- 17
2. वही. पृ. 17
3. दलित साहित्य के प्रतिमान- डॉ. एन. सिंह, पृष्ठ- 53
4. वही. पृ. 53
5. डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर- सूर्य नारायण रणसुभे, पृष्ठ- 12
6. वही. पृ. 12
7. वही. पृ. 12
8. भारत में जातिप्रथा एवं जातिप्रथा उन्मूलन, भाषाई प्रान्तों पर विचार, रानाडे, गाँधी और जिन्ना- डॉ. बी. आर. अम्बेडकर, सम्पूर्ण वांग्मय खण्ड-1, , पृष्ठ- 27
9. वही. पृ. 28
10. वही. पृ. 28
11. वही. पृ. 28
12. वही. पृ. 29,30,31
13. कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक ऐतिहासिक अध्ययन- डॉ. ओमप्रकाश प्रसाद, पृ. 53
14. फारवर्ड प्रेस, अक्टूबर, 2011, पृ. 52
15. वही. पृ. 52
16. दलित साहित्य के प्रतिमान- डॉ. एन. सिंह, पृ. 54
17. बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर, सम्पूर्ण वांग्मय, खंड, 16, कांग्रेस गाँधी ने अस्पृश्यों के लिए क्या किया- डॉ. बी. आर. अम्बेडकर प्राक्कथन (टग्ण्)
18. दलित अवधारणा एवं ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य, पृ. 15
19. वही. पृ.15
20. वही. पृ.15
21. वही. पृ. 20,21,22
22. आधुनिकता के आईने में दलित, संपादक-अभय कुमार दूबे, पृ. 209
23. दलित मुक्ति के प्रश्न वाया मुक्तिपथ, संपादक- वीरपाल सिंह यादव, प्रथम संस्करण, 2010, पृ. 40
24. भारतीय दलित साहित्य, संपादक- विदुल शिन्दे, मराठी विशेषांक, सितम्बर, 2005, पृ.1

25. दलित अवधारणा एवं ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य, पृ. 35
26. वही. पृ.36
27. वही. पृ.36
28. वही. पृ.34
29. वही. पृ.34
30. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र— ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.13
31. दलित अवधारणा एवं ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य, पृ. 36,37
32. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र— ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.14
33. दलित अवधारणा एवं ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य, पृ.36
34. वही. पृ. 20
35. वही. पृ. 20
36. वही. पृ. 21
37. वही. पृ. 19
38. वही. पृ. 29,30
39. वही. पृ.30
40. वही. पृ.30
41. वही. पृ.35
42. वही. पृ.39
43. दलित साहित्य एक अभ्यास— अर्जुन डांगले, पृ.7
44. दलित अवधारणा एवं ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य, पृ.40
45. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र— शरण कुमार लिंबाले, पृ.52
46. दलित अवधारणा एवं ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य, पृ. 40, (अस्तित्वाच्या रेषा— राजा ढाले— प्रणाली प्रकाशन मुंबई, सप्टे, 1990, पृष्ठ— 91,45)
47. वही. पृ. 41
48. रति शिथिला की थकान बनाम कलाविहीन दलित साहित्य (लेख), प्रो. तुलसी राम, भारत अश्वघोष पत्रिका, मार्च—मई, 1999, पृ.30
49. दलित साहित्य कि क्लोनिंग (लेख)— प्रो. तुलसीराम, बहुजन वैचारिकी पत्रिका, प्रवेशांक विशेषांक— तुलसी राम जनवरी—2016 पृ.24, संपादक— धर्मवीर यादव 'गगन'



50. भारतीय दलित साहित्य, संपादक— पुन्नी सिंह, पृ.325
51. दलित अवधारणा एवं ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य, पृ.44
52. भारतीय दलित साहित्य परिप्रेक्ष्य, संपादक— पुन्नी सिंह 325
53. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र— ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.35,36
54. दलित अवधारणा एवं ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य, पृ.68
55. वही. पृ.69
56. वही. पृ.69
57. मुद्राराक्षस—कथाक्रम, नवंबर 2000, पृ.3
58. हंस पत्रिका— राजेन्द्र यादव, जनवरी 2001, पृ.53
59. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र— ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.38
60. वही. पृ.95
61. वही. पृ.43
62. वही. पृ.43
63. वही. पृ. 25
64. वही. पृ.14
65. दलित साहित्य की अवधारणा— कँवल भारती वही. पृ.15,16
66. दलित मुक्ति के प्रश्न वाया मुक्तिपथ, संपादक— वीरपाल सिंह यादव पृ. 41
67. दलित अवधारणा एवं ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य, पृ. 41
68. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र— शरण कुमार लिंबाले, पृ. 58,59,72
69. दलित अवधारणा एवं ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य, पृ. 45
70. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र— शरण कुमार लिंबाले, पृ.144
71. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र— ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. (ग) भूमिका से
72. पश्यंती पत्रिका, अप्रैल—जून 1998, पृ.90
73. दलित अवधारणा एवं ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य, पृ.45
74. वही. पृ.45
75. दलित अवधारणा एवं ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य, पृ.46
76. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र— ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.50
77. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र— शरण कुमार लिंबाले, पृ.28

78. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र— ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.61
79. वही. पृ. 61
80. वही. पृ. 51,52
81. फुले रत्नावली भाग एक— पृ. 289
82. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र— शरण कुमार लिंबाले, पृ. 11,12
83. युद्धरत आम आदमी पत्रिका संपादक— रमणिका गुप्ता वही. पृ.39, अंक—110, वर्ष 2011
84. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र— ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.67,68
85. वही. पृ.65
86. वही. पृ.30
87. वही. पृ.30
88. वही. पृ.30

## दूसरा अध्याय

### प्रेमचंद का रचना संसार और तत्कालीन परिस्थितियाँ

प्रेमचंद ऐसे रचनाकार हैं जो अपने समय सीमा का अतिक्रमण करते हैं और अपनी लेखनी का केंद्र बिंदु उन सामाजिक समस्याओं को बनाते हैं, जिन पर तत्कालीन लेखकों का ध्यान नहीं गया था। हर रचनाकार पर उसके आस-पास घटित हो रहे सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि नाना प्रकार की घटनाओं तथा परिस्थितियों का दबाव होता है। रचनाकार अपनी उन्हीं परिस्थितियों के दबाव को महसूस करता है और अपनी लेखनी का आधार बनाता है। किसी भी रचनाकार की रचना धर्मिता को समझने के लिए उस काल की परिस्थितियों और समाज में हो रहे गतिविधियों को समझना जरूरी है। यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो साहित्य के माध्यम से कोई ऐसी घटना सामने आये जिस पर कभी किसी का ध्यान नहीं गया हो तो वह विचारणीय प्रश्न बनता है। सूरज बड़त्या लिखते हैं— “रचनाकार अपनी ‘गिवेन सिचुवेशन’ की उपज होता है और महान रचनाकार उस ‘गिवेन सिचुवेशन’ का अतिक्रमण करता है। प्रेमचंद अपनी परिस्थितियों का अतिक्रमण करके एक बड़े यूटोपिया का निर्माण करते हैं। यह यूटोपिया गाँधीवादी नजरिए से निर्मित है, अम्बेडकरवादी नजरिए से नहीं।”<sup>1</sup>

प्रेमचंद जिस युग में अपनी लेखनी चला रहे थे, उस समय भारत पूरी तरह से गुलामी की मार झेल रहा था और पूरे देश में उथल-पुथल मचा हुआ था। एक तरफ राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन चल रहा था तो दूसरी ओर समाज में व्याप्त सामाजिक धार्मिक बुराइयों से लड़ने के लिए अनेक संगठन कार्यरत थे। इसी समय एक बड़े मुद्दे के रूप में अछूतोद्धार उभरकर सामने आया। एक ऐसा तपका जिसके ऊपर अमानवीय अत्याचार हो रहा था, जो हजारों सालों से अपने मानवीय अधिकारों के लिए जूझ रहा था और आज भी संघर्षरत है, उसके दुःख दर्द को पहली बार प्रेमचंद साहित्य के केंद्र में लाते हैं। प्रेमचंद की रचनाओं को पढ़कर-समझकर ऐसा लगता है कि वे तत्कालीन समाज को बहुत भीतर से देखते समझते थे लेकिन कहीं-कहीं पूर्वाग्रह का शिकार भी हुए हैं।

रचनाकार अपने परिवेश को जिस तरह से अनुभव करता है वह वैसा ही अपनी लेखनी या आचरण में उतारता है। प्रेमचंद को समझने के लिए हमें उनके रचना संसार से पहले उनके पारिवेशिक क्रिया-कलाप में हो रहे हलचल या साहित्यिक कार्यों को समझना होगा, तभी हम प्रेमचंद को ठीक से समझ सकते हैं।

प्रेमचंद (1880-1936) का रचना संसार दो महायुद्धों के बीच का समय है। इस कालावधि में उथल-पुथल के साथ बहुत से परिवर्तन भी हुए। इस परिवर्तन का रेखांकन प्रेमचंद की रचनाओं, लेखों आदि में देखने को मिलता है। रामविलास शर्मा लिखते हैं "प्रेमचंद ने अपना साहित्यिक जीवन एक उपन्यासकार और आलोचक की हैसियत से शुरू किया था। मुंशी प्रेमचंद, श्याम नारायण निगम के अनुसार उन्होंने 1905 में उर्दू पत्र 'जमाना' के लिए एक आलोचनात्मक लेख भेजा था और उनकी राय जानने के लिए उन्हें एक उपन्यास का मसौदा भी भेजा था। प्रेमचंद ने अपनी पहली रचना के बारे में लिखा है कि 1901 में उन्होंने उपन्यास लिखना शुरू किया था। उनका एक उपन्यास 1901 में प्रकाशित हुआ और दूसरा 1904 में। प्रेमचंद ने रवीन्द्रनाथ की कहानियों का अनुवाद भी किया था और खुद 1907 से कहानियां लिखना शुरू किया। उनकी शुरू की कहानियां जमाना में छपीं।

"प्रेमचंद की पहली रचना, जो अप्रकाशित ही रही, शायद उनका वह नाटक था जो उन्होंने अपने मामा जी के प्रेम और उस प्रेम के फलस्वरूप चमारों द्वारा उनकी पिटाई पर लिखा था। इसका जिक्र उन्होंने 'पहली रचना' नाम के अपने लेख में किया है।"<sup>2</sup>

प्रेमचंद की पहली रचना को लेकर थोड़ा सा भ्रम होता है। डा. रामविलास शर्मा प्रेमचंद की पहली रचना नाटक को मानते हैं जबकि डा. नामवर सिंह पहली रचना उनके संस्मरण पर आधारित कहानी मानते हैं। नामवर सिंह कहते हैं "जो पहली कहानी या संस्मरणनुमा कहानी लिखी थी, जिसे उन्होंने बहुत दिनों बाद याद किया वह खो गयी, 'मेरी पहली रचना'। डा. रामविलास शर्मा द्वारा दिये गये उद्धरण में स्वयं प्रेमचंद ने अपनी पहली रचना के बारे में लिखा है कि 1901 में

उन्होंने उपन्यास लिखना शुरू किया था इसकी पुष्टि अमृत राय भी करते हैं। भारतीय भाषा केन्द्र जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रो. रामचंद्र अपनी पीएच. डी. की थीसिस में अमृत राय को कोट करते हुए लिखते हैं कि “सन 1901 के आसपास प्रेमचंद ने अपना पहला उपन्यास श्यामा लिखा। मुझे बताया गया है (किताब अब उपलब्ध नहीं है) कि उसमें प्रेमचंद ने बड़े सतेज साहसपूर्ण स्वर में ब्रिटिश कुशासन की निंदा की है। वहीं भावधारा उस काल की कई कहानियों में मिलती है।”<sup>3</sup> रामविलास शर्मा भी मानते हैं कि प्रेमचंद का साहित्यिक जीवन एक उपन्यासकार और आलोचक के रूप में शुरू हुआ था।

प्रेमचंद की पहली कहानी संग्रह ‘सोजे वतन’ प्रकाशित हुआ। इसमें चार पांच कहानियां ऐसी थी जिससे अंग्रेजों को धक्का लगा। उन्होंने सोचा कि ये कहानियां स्वतंत्रतारूपी आंदोलन की आग में घी डालने का काम करेगी, परिणामतः आंदोलन उग्र रूप धारण कर लेगा। तब तक अंग्रेजों को प्रेमचंद का नाम नहीं पता था क्योंकि वे अपना नाम धनपतराय से बदलकर नवाब राय के नाम से लिखते थे। आखिर बकरे की मां कब तक खैर मनाती। खुफिया पुलिस उनके नाम का रहस्य जान गई और तत्कालीन कलेक्टर ने उन्हें बुलाकर ‘सोजे वतन’ पर रोक लगाने का आदेश दे दिया। इसकी पांच सौ प्रतियों में खुद प्रेमचंद से आग लगवाई गई थी।

इस घटना के बाद उन्होंने नवाब राय छोड़कर प्रेमचंद के नाम से लिखना शुरू किया। प्रेमचंद नाम उन्हें उर्दू लेखक और संपादक दयानारायण निगम ने दिया था।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय उनका पहला उपन्यास ‘सेवासदन’ आया। इसके बाद युद्ध की समाप्ति तक इनका दूसरा उपन्यास ‘प्रेमाश्रम’ आया। स्वतंत्रता संग्राम की लड़ाई भी तेज गति से चल रही थी। उसी समय जालिया वाला बाग हत्याकांड, असहयोग आंदोलन छिड़ चुका था। इससे प्रभावित होकर प्रेमचंद ने अपनी सरकारी नौकरी छोड़ दी और कानपुर के एक स्कूल में अध्यापन कार्य शुरू किया। इसी समय उन्होंने हिंदी की कुछ पत्रिकाओं का सम्पादन भी किया, जिसमें

‘मर्यादा’ ‘माधुरी’ (1929–30) जागरण आदि पत्रों का नाम प्रमुख है। 1930 में गांधी के अवज्ञा आंदोलन के समय उन्होंने हंस पत्रिका की नींव रखी। ब्रिटिश सरकार द्वारा हंस पत्रिका पर भी रोक लगी थी। इसका जिक्र उन्होंने जैनेन्द्र कुमार को लिखे पत्र में किया था—“‘हंस पर जमानत’ लगी। मैंने समझा था आर्डिनेंस के साथ जमानत भी समाप्त हो जायेगी पर नया आर्डिनेंस आ गया और उसी के साथ जमानत भी बहाल कर दी गयी। जून और जुलाई का अंक हमने छापना शुरू कर दिया है। पर मैनेजर साहब जब नया डिक्लेरेशन देने गये तो मैजिस्ट्रेट ने पत्र जारी करने की आज्ञा न दी, जमानत मांगी। अब मैंने गवर्नमेंट का एक स्टेटमेंट लिखकर भेजा है। अगर जमानत उठ गई तो पत्रिका तुरन्त ही निकल जायेगी। छप, कट सिलकर तैयार रखी है। अगर आज्ञा नहीं तो समस्या टेढ़ी हो जायेगी। मेरे पास न रुपया है न प्रॉमेसरी नोट, न सिक्क्योरिटी। किसी से कर्ज लेना नहीं चाहता। यह शुरू साल है चार पांच सौ वी.पी. जाते, कुछ रुपये हाथ आते। लेकिन वह नहीं होना है।”<sup>4</sup> तब यह पत्रिका हिंदी साहित्य परिषद से निकलती थी लेकिन हिंदी साहित्य परिषद ने भी इसे बंद करने की सलाह दिया, पर प्रेमचंद ने फिर भी इस पत्रिका को जिंदा रखा।

रामविलास शर्मा लिखते हैं— “प्रेमचंद ने हंस को स्वाधीनता संग्राम का एक सबल सैनिक बना दिया था। उनके जीवन की सबसे सुंदर उमंगे इस पत्र के साथ जुड़ी हुई थी। जैनेन्द्रकुमार जी के शब्दों में “‘हंस के समारम्भ को लेकर वह उस समय नव युवक की भांति अपने को अनुभव करते थे।” (हंस, मई 1937)<sup>5</sup>

प्रेमचंद ने अपने जीवन काल में बहुत ही महत्वपूर्ण उपन्यासों की रचना की थी। जिसमें सेवासदन (1918), वर्दान (1921), प्रेमाश्रम (1922), रंगभूमि (1925), कायाकल्प (1926), निर्मला (1927) गबन (1931), कर्मभूमि (1933) मंगलसूत्र (अधूरा), गोदान (1936), उनके महत्वपूर्ण औपन्यासिक रचनाएं हैं। सेवासदन में वेश्यावृत्ति और नारी पराधीनता उत्पीड़न जैसी समस्याओं को उठाया गया है। पहले यह उपन्यास उर्दू में लिखा गया था बाद में यह हिंदी में अनूदित होकर छपा। प्रेमाश्रम उपन्यास किसान जीवन पर आधारित है। इस उपन्यास की शुरुआत 2 मई 1918 में हुई थी, जो 20 फरवरी 1920 को पूरा हुआ। 1921 में

शुरू हुआ अवध के किसान आंदोलन की पृष्ठभूमि इस उपन्यास में दिखाई देती है। इस उपन्यास से पहले चम्पारन का किसान आंदोलन हो चुका था, निश्चित रूप से चम्पारन आंदोलन से प्रेरणा ग्रहण कर प्रेमचंद ने प्रेमाश्रम लिखा। अवध का किसान आंदोलन और प्रेमाश्रम पर काफी बहस हुआ है। मुरली मनोहर प्रसाद सिंह ने लिखा है—“अवध के किसान आंदोलन पर उपलब्ध ऐतिहासिक दस्तावेज बताते हैं कि प्रेमचंद ने उपन्यास के केंद्र में उत्पीड़ित किसान जनता को क्यों रखा?... पायोनियर के संवाददाता ने 1921 के जनवरी में लंदन प्रेस को रायबरेली के किसान उपद्रव की रिपोर्ट टेलीग्राम द्वारा भेजी कि बागी किसानों ने अपने नियंत्रण के संपूर्ण क्षेत्र पर ‘सोवियतें’ स्थापित कर ली है। अवध के किसानों के जुझारू संघर्ष का यह ब्यौरा जब लंदन स्थित भारत के राज्य सचिव ने पढ़ा तो घबराहट से वह कांप उठा।”<sup>6</sup> इसलिए प्रेमचंद अपने समय के सचेत रचनाकार सिद्ध होते हैं।

निर्मला और गबन में मुख्यतः नारी समस्याओं को उठाया गया है। प्रेमचंद ने इसमें बेमेल विवाह स्त्रीपुरुष-सम्बन्ध, स्त्रियों का गहनों के प्रति आकर्षण आदि पर विचार किया गया है। निर्मला की बुनावट गबन से थोड़ी भिन्न है। भिन्नता इस मामले में है कि पहली बार स्त्री की समस्या के साथ देश स्वतंत्रता की समस्या भी जोड़ा गया है जिससे गबन की दिशा बदली हुई लगती है। कायाकल्प उपन्यास में दो वर्गों की समस्याओं को उठाया गया है। एक तरफ जागीरदार और रानियां हैं तो दूसरी तरफ किसान मजदूर।

प्रेमचंद का कर्मभूमि उपन्यास किसानों के दोहरे शोषण का चित्रण करता हुआ आत्मानंद जैसे विद्रोही चरित्र का भी निर्माण करता है। किसानों का लगान और धर्म के नाम पर शोषण किया जाता है। मध्यवर्ग से आये हुए अमरकांत जैसे लोग खुद को नेता बनने के लिए लिजलिजेपन से बाज नहीं आते हैं। ऐसे लोगों पर विश्वास करना ठीक नहीं है। मोटामोटी यही इस उपन्यास की केंद्रबिंदु है।

1924 में लिखा गया उपन्यास रंगभूमि 1925 में छपकर सामने आया। 31 जुलाई 2004 में भारतीय दलित साहित्य अकादमी द्वारा इसे जलाने की उद्घोषणा

के साथ यह उपन्यास विवाद के घेरे में आया। रामविलास शर्मा लिखते हैं “रंगभूमि की मुख्य कथा अंधे भिखारी सूरदास को लेकर रची गई है, जो अपनी और गांव की जमीन के लिए मरते दम तक लड़ता है। उसकी जमीन पर जॉन सेवक अपना कारखाना बनाना चाहता है, लेकिन वहाँ गाँव के जानवर भी चरते हैं। सूरदास वह जमीन बेंचने से इनकार करता है। वह बड़ा सहृदय और परोपकारी व्यक्ति है। वह सुभागी को अपने घर में टिका लेता है, जब उसका पति भैरो उसको बहुत मारता है। लोग सूरदास को बदनाम करते हैं और कुछ सलाह भी देते हैं कि वह जमीन बेंच दे लेकिन वह अपनी बात पर अटल रहता है। झूठे मुकदमें में जेल हो जाती है, जनता उसका जुर्माना भरकर उसे छोड़ा लाती है।”<sup>7</sup>

उपर्युक्त उदाहरण से तो यही सिद्ध होता है कि सूरदास बहुत ही जुझारू और साहसी व्यक्ति है लेकिन उसे उपन्यास की तह में जिस तरह प्रस्तुत किया गया है, वह निश्चय ही गलत है। इस पर सवाल उठने ही चाहिए। इस उपन्यास में सूरदास दलित जाति का है, उसके पास दस बीघा जमीन भी है लेकिन काम करता है। भीख मांगने का गाने बजाने का। इस पर सूरज बड़त्या सवाल भी उठाये हैं और उपचार के तरीके भी बताएं हैं। सूरज बड़त्या लिखते हैं—“दलित वर्ग के साथ भलमानसी और प्रतिबद्धता दिखाने के तहत सूरदास (दलित) के पास 10 बीघा जमीन का ‘यूटोपिया’ गढ़ा है तो फिर सूरदास को भिखारी दिखाने का क्या औचित्य? यानी कि एक दलित के पास इतनी जमीन है लेकिन वह करता क्या है, उसका पेशा क्या है—भीख मांगना! क्या यह एक दलित को श्रम से ‘जी चुराऊ व्यक्ति’ के रूप में दिखाना चाहते थे प्रेमचंद जरा ‘कफन’ कहानी को याद करें। घीसू और माधव के पास काम है लेकिन वे करना नहीं चाहते। दोनों बाप—बेटे श्रम से ‘जी चुराऊ’ हैं। वहां भी दोनों दलित हैं क्यों? यही है प्रेमचंद का एक बड़ा अन्तर्विरोध और उपचार की समस्या। अगर यह अन्तर्विरोध प्रेमचंद में मौजूद है, तो फिर वह सवालों के घेरे से परे कैसे हो सकते हैं? इसलिए कृपया प्रेमचंद को मसीहा न बनाएं, उन्हें मानवीय कमजोरियों और अन्तर्विरोधों से युक्त एक इंसान बना रहने दें। एक ऐसा इंसान जिसमें इंसानी दुर्बलताएं हैं। सामाजिक



संस्कार हैं लेकिन वह इंसान अपने समकालीन रचनाकारों से आगे की सोचता है। इसलिए प्रेमचंद दलित मुक्ति आंदोलन में हमारे हमसफर हैं।<sup>8</sup>

प्रेमचंद का बहुत ही चर्चित और अंतिम समय का उपन्यास 'गोदान' है। इस उपन्यास में सीधे-सीधे किसान आंदोलन नहीं है लेकिन किसानों की दारुण कथा जरूर है। डॉ. रामविलास शर्मा के शब्दों में— "गोदान की गति धीमी है, होरी के जीवन की गति की तरह। यहाँ सैलाब का वेग नहीं, लहरों के थपेड़े नहीं। यहाँ उपर से शांत दिखनेवाली नदी की भँवरें हैं जो भीतर-ही-भीतर मनुष्य को दबाकर तलहटी से लगा देती है और दूसरों को वह तभी दिखाई देता है जब उसकी लाश उतराती हुई बहने लगे।"<sup>9</sup>

प्रेमचंद ने उपन्यास के साथ-साथ लगभग तीन-चार सौ के आस-पास कहानियां लिखी है। इन कहानियों में भी सामाजिक आदर्शात्मक यथार्थ की झलक मिलती है। इसके अलावा इनके लेखों और टिप्पणियों में भी किसानों की दशा और स्वतंत्रता आंदोलन के लिए चल रहे क्रिया-कलापों को देखा जा सकता है। जमींदार और तत्कालीन सरकार की मिलीभगत पर टिप्पणी करते हुए कहा है। "उन्हीं जमींदारों में बहुत ऐसे हैं, जिनका अधिकांश जीवन नगरों की विलासिता में व्यतीत होता है। उन्हें अपनी प्रजा से केवल इतना सम्बन्ध है कि प्रजा उनकी सीधी, बेजबान दुधारू गाय है। उनका काम केवल गाय का दूध दुह लेना है। गाय को भूसी-खली भी मिलता है या नहीं इसकी उन्हें बिल्कुल चिंता नहीं होती। कितने ही तो अपने इलाके का दर्शन तक नहीं करते। मुख्तार उन्हें रुपये देता जाए, बस, और उनसे प्रजा के सुख-दुःख से प्रयोजन नहीं। ऐसी जमींदारों की रक्षा करके सरकार उनकी विलासी मनोवृत्ति को और भी प्रोत्साहित करेगी।"<sup>10</sup>

प्रेमचंद कोई किसान नहीं थे जाति से भी किसान नहीं थे। वे शहरी मध्यवर्ग के अन्तर्गत आते थे लेकिन ऐसे लोगों में से थे जिसका जुड़ाव गांव से था। गांव में आना-जाना होता था। इसलिए गांव के लोगों की पीड़ा को उन्होंने समझने की कोशिश की और किसान की समस्याओं को अपनी लेखनी का केंद्रबिंदु बनाया।

प्रेमचंद के साहित्य का सही मूल्यांकन तत्कालीन ब्रिटिश उपनिवेशवाद और भारतीय राष्ट्रवाद के आंदोलनों के परिप्रेक्ष्य में करना होगा। भारतीय साहित्य इतिहास और संस्कृति का आधुनिक काल मुख्यतः 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से शुरू होता है। हिंदी साहित्य में आधुनिक काल को प्रवृत्तियों के आधार पर बांटा गया है। भारतेंदु युग (जागृत राष्ट्रीयतावादी) द्विवेदीयुग (इतिवृत्तात्मक नैतिकावादी), प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा और प्रेमचंद युग (छायावादी राष्ट्रीयतावादी), प्रगतिवादी, समकालीन आदि ऐसे ही विभाजन हैं। 90 के दशक के बाद अब एक कालखण्ड और जुड़ गया है अस्मितावादी विमर्श फुले अम्बेडकरवादी युग।

सुधार आंदोलनों की दृष्टि से आधुनिक काल में अंग्रेजों का आगमन बहुत ही महत्वपूर्ण रहा है। भारत में अंग्रेजों के आगमन के पश्चात ही दलितों को अपनी दयनीय स्थिति के प्रति नवीन चेतना का संचार और नये दृष्टिकोण का आभास हुआ। इसी चेतना के आधार पर उन्होंने अपनी लड़ाई अपने ढंग से लड़ने की शुरुआत की। इस संबंध में बाबा साहब अम्बेडकर ने लिखा है— “अंग्रेजों के आगमन से पहले अस्पृश्य, अस्पृश्य रहने में ही संतुष्ट थे। अस्पृश्यों का भाग्य हिन्दू भगवान द्वारा पूर्व निर्दिष्ट था और हिंदू राजा द्वारा इस पर आचरण कराया जाता था। इसलिए उससे छुटकारा पाने की कोई गुंजाइश नहीं थी। भाग्यवश अथवा दुर्भाग्यवश ‘ईष्ट इंडिया कंपनी’ को उसकी फौज में सिपाहियों की आवश्यकता थी और उसे अस्पृश्यों के अतिरिक्त और कोई नहीं मिला। ‘ईष्ट इण्डिया कंपनी’ ने आरंभ में अपनी सेना में अस्पृश्यों को रखा, यद्यपि अब अस्पृश्य लड़ाकू जातियों से बाहर कर दिये गये हैं, ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना में भारतीय सैनिकों तथा उनके बच्चों के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था थी। अस्पृश्यों को सेना में जो शिक्षा मिली और उससे उनको जो लाभ हुआ वह अभूतपूर्व था। इससे उन्हें नयी दशा और दृष्टि मिली। उनमें चेतना जगी कि उनकी दुर्दशा चिरस्थायी नहीं है, उससे बचा जा सकता है। वह उनके व्यक्तित्व पर पुजारियों के षडयंत्र का नतीजा है, जो कलंक है। इससे उन्हें बड़ी लज्जा का अनुभव हुआ। ऐसा अनुभव उन्हें पहले कभी नहीं हुआ था। इसलिए उन्होंने इससे छुटकारा पाने का

निश्चय किया।<sup>11</sup> सामाजिक सुधार के लिए जितने भी आंदोलन चल रहे थे सबका मानना यही था कि अंग्रेजी सरकार सुधारों के लिए वरदान सिद्ध हुई है। स्वयं दयानंद सरस्वती का मानना था कि "अगर भारत में अंग्रेजी राज्य न होता, उसकी जगह मुसलमानी या सनातनी हिन्दुओं का राज होता तो उन्हें धार्मिक—सामाजिक सुधार करने की स्वतंत्रता हर्गिज नहीं मिलती।"<sup>12</sup>

इसी चेतना के फलस्वरूप लगभग भारत के सभी हिस्सों में दलित आंदोलन चल पड़े। महाराष्ट्र में 'महाड़ आंदोलन', 'दलित पैथर आंदोलन', बंगाल में 'नामशूद्र', उत्तर भारत में 'आदि हिंदू', तमिलनाडु में 'आदि द्रविड़', आंध्र प्रदेश में 'आदि आंध्र', केरल में नारायण गुरु का आंदोलन, पंजाब में 'आदि धर्म', आंदोलन, उड़ीसा में भीमभोई का 'महिमाधर्म' आंदोलन, बिरसा मुण्डा का आंदोलन आदि शुरू हुआ। तब से लेकर आज तक दलित चेतना अपने विभिन्न रूपों में सक्रिय भूमिका निभा रहा है। इन आंदोलनों की चर्चा पहले अध्याय में विस्तार से हो चुका है, अब हमें उन आंदोलनों पर भी दृष्टिपात कर लेना समीचीन जान पड़ता है जो तथाकथित सवर्णों द्वारा सामाजिक, धार्मिक बुराइयों को दूर करने के लिए चलाये जा रहे थे।

अंग्रेजी राज्य स्थापना के साथ भारतीय समाज में नवजागरण का आर्विभाव हुआ। इस जागरण ने साहित्य, संस्कृतिक, धर्म, जाति, वर्ण और लिंग सभी स्तर पर भारतीय समाज को प्रभावित किया। अंग्रेजी शिक्षा, पश्चिमी ज्ञान—विज्ञान, यातायात के साधन नई अर्थव्यवस्था ने भारतीय सामाजिक—सांस्कृतिक जड़ता को तोड़ने लगा। नये और पुराने संस्कार और मूल्यों में द्वन्द्व शुरू हो गया। नये—पुराने मूल्यों और संस्कारों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए बहुत सारे संगठन सक्रिय हुए। इस सामंजस्य और संघर्ष के बीच भारत में नये समाज के निर्माण की प्रक्रिया शुरू हुई जिसे पुनर्जागरण, पुनरुत्थान, नवजागरण आदि नामों से जाना गया। यह प्रक्रिया 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से शुरू होकर 20वीं शताब्दी के आरंभ तक चलती रहीं। इस नवजागरण में जिन महापुरुषों ने अपनी सक्रिय भागीदारी निभाई उसमें राजाराम मोहन राय, केशवचंद सेन, दयानंद सरस्वती स्वामी विवेकानंद, बालगंगाधर तिलक, आगरकर रानाडे आदि प्रमुख थे। इस सुधार आंदोलन में ब्रह्म

समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, सत्यशोधक समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसायटी इत्यादि ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

ब्रह्म समाज (1830) भारतीय नवजागरण का सबसे पहला धार्मिक सामाजिक सुधारक संगठन था। इसने पूरे भारत में अपनी शाखाएं खोल रखी थी लेकिन बिहार, पश्चिमोत्तर और अवध प्रान्त में इसके अनुयायी नहीं मिले। ब्रह्मोसमाज का इतिहास लिखते हुए विश्वनाथ शास्त्री ने लिखा है कि—“पचास सालों तक काम करते रहने के बावजूद इन प्रान्तों के देशी लोगों के बीच ब्रह्मोसमाज की जड़े जम नहीं पाईं। यहां इसका असर बाहर से आकर बसे शिक्षित बंगालियों तक सीमित रहा। बिहार में ब्रह्मोसमाज की शाखाएं भागलपुर (1863) मुंगेर (1867) बॉकीपुर और गया (1866) में कायम हुईं पर स्थानीय बिहारी इसमें बहुत कम शामिल हुए।”<sup>13</sup>

इस आंदोलन का असर बंगालियों के साथ-साथ शिक्षित पंजाबियों पर बहुत अधिक पड़ा। पंजाब के शिवनारायण अग्निहोत्री ब्रह्मोसमाज के प्रभावशाली नेता हुए। पति-पत्नी दोनों ब्रह्मसमाजी थे और शिक्षित परिवारों में जाकर ब्रह्मसमाज की शिक्षा देते थे। लाहौर इस आंदोलन का गढ़ बना। यह आंदोलन विदेशी शिक्षा का समर्थक था और बाल-विवाह, विधवा विवाह, बहु-विवाह, सती प्रथा के खिलाफ कार्यरत था। एक बहुत ही रोचक तथ्य है, आमतौर पर लोगों की यह धारणा है कि राजाराम मोहन राय ने सती प्रथा के खिलाफ आवाज उठाई थी। निर्विवाद रूप से यह सही है, लेकिन यह भी एक तथ्य है कि जब तक दूसरी औरतें सती प्रथा का शिकार होती रहीं तब तक राजाराम मोहन राय के कानों पर जूं तक नहीं रेंगी। बी. आर. सांपला लिखते हैं—“जब राजाराम मोहन राय अपनी युवा भाभी को अपने मृत पति के शव के साथ जबरदस्ती चिता में धकेलते देखा तो उनका कलेजा फट गया। उन्होंने बरतानिया में सम्राट को एक स्मरण पत्र भेजकर विधवाओं पर धर्म की आड़ में होने वाले इस अत्याचार को कानूनी तौर पर बंद करने की अपील की। भला हो अंग्रेज गर्वनर जनरल विलियम बेंटिन्टग का जिसने सती की रस्म को कानून में अपराध करार दे दिया और सती की रस्म का खात्मा कर दिया। बंगाली कुलीन ब्राह्मणों ने सैकड़ों व्यक्तियों के हस्ताक्षर

करवाकर मलिका विक्टोरिया को भिजवाए और प्रार्थना की कि सती को कानून रूप से बंद करना हमारे पवित्र धर्म में हस्तक्षेप करना है तथा हिन्दू संस्कृति और धर्म की जड़ काटना है। लेकिन अंग्रेजी सरकार ने इन जन्मजात मुफ्तखोर और हरामखोर ब्राह्मणों की बकवास पर कोई ध्यान नहीं दिया और सती की रस्म को कानून से बंद करा दिया।<sup>14</sup>

हिन्दू धर्म की आड़ में स्त्रियों के ऊपर जितने जुल्म ढाये गए हैं जितनी बर्बताएं की गई हैं। इस सन्दर्भ संत ब्रह्मदास कहा करते थे—“हिन्दुओं ने करोड़ों युवतियों को अपने मृत पति के साथ सती (चिता में जीवित दग्ध) कर दिया। इन बेगुनाह देवियों को सोने के जेवर पहना दिये जाते थे, उनको जलती चिता में फेंकने से पहले ब्राह्मण जोर-जोर से मंत्र पढ़ते और ढोल बजाते ताकि उनकी चीखें इस शोर में दब जाएं। ब्राह्मणों ने हिन्दुओं के दिमाग में ये बातें अच्छी तरह बिठा दी थी कि चिता में अपने पति के शव के साथ राख हो जाने वाली विधवा युग-युगान्तरों तक स्वर्ग, बैकुण्ठ में वास करेगी और अपने अगले जन्मों में अपने पति की विवाहिता पत्नी बनती रहेगी और फिर किसी जन्म में विधवा नहीं होंगी। जब चिता ठण्डी हो जाती तो ब्राह्मण जेवरों में ढले हुए सोने पर अपना कब्जा कर लेते।”<sup>15</sup> सिर्फ अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए ब्राह्मणों ने कितने जघन्य अपराध किये धर्म की आड़ में इसको समझना बहुत कठिन नहीं है बशर्ते कि हमें सम्यक दृष्टि से हिन्दू धर्म का आलोचनात्मक विश्लेषण करना होगा।

ब्रह्मसमाज का कार्य बहुत ज्यादा क्रांतिकारी नहीं था, फिर भी न सिर्फ तत्कालीन हिन्दू धर्म के रखवालों ने बल्कि भारतीय नवजागरण के अग्रदूत कहे जाने वाले भारतेंदु हरिश्चन्द्र और बालकृष्ण भट्ट सरीखे हिन्दी के साहित्यकारों ने भी इसका जमकर विरोध किया। वीर भारत तलवार लिखते हैं— “काशी धर्म सभा के जरिए ब्रह्मसमाज द्वारा प्रस्तावित नए विवाह विधान का विरोध करने वाले भारतेन्दु ने ‘वैदिकी हिंसा हिंसा न भवित’ में ब्रह्मसमाजी जैसे लगते एक चरित्र पर और ब्राह्मण लोगों द्वारा प्रचारित विधवा विवाह के विचार पर कटाक्ष किया है। कविवचन सुधा के एक अंक में उन्होंने ब्रह्मसमाज को हिन्दू समाज के खिलाफ उभरा ‘नया औरंगजेब’ बताने वाली टिप्पणी छापी। ब्रह्मसमाज ने हिन्दू धर्म की

पतनशील प्रवृत्तियों की आलोचना करके हिन्दू धर्म का बुरा नहीं, बल्कि कुछ भला ही किया था— इसे भारतेन्दु ने काफी बाद (स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन) में जाकर स्वीकार किया। तब भी उन्होंने इसका खुलकर समर्थन नहीं किया, सिर्फ इस पर लगाये गये कुछ इलजामों से इसे बरी कर दिया।<sup>16</sup> ऐसे ही जब शिवनारायण अग्निहोत्री ने ब्राह्मण होते हुए अपना जनेऊ उतारकर फेंक दिया और जनेऊ प्रथा का खण्डन किया, तब हिंदी प्रदीप (अक्टूबर 1879) में बालकृष्ण भट्ट ने उनका विरोध करते हुए लिखा— “उक्त महाशय ने यज्ञोपवीत प्रतिमापूजन की जड़ और सिवा ताली बाँधने के और कोई लाभ न समझ जनेऊ उतारकर फेंक दिया है, इस साहस के कर्म से उक्त महाशय ने कौन सा बड़ा लाभ समझा।” इस पर वीर भारत तलवार ने बहुत ही सटीक टिप्पणी किया है— “जनेऊ में कौन—सा ऐसा धार्मिक मूल्य छिपा हुआ था कि उसे पहनना बालकृष्ण भट्ट इतना पवित्र और विवेक सम्मत कार्य समझते थे? उसकी धार्मिक निस्सारता को दिखाने के लिए उसे तोड़कर फेंक देने के साहसपूर्ण कार्य को भट्ट जी ने सुधार नहीं, ‘भ्रष्टता’ का नमूना माना, जो लोग अंधकार और नये उजाले के बीच रास्ता टटोल रहे हैं, उन्हें अपने नमूने से इधर भी भ्रष्टता, उधर भी भ्रष्टता का सत्य दिखाया।” आगे कहते हैं— “आज बहुत से शिक्षित लोग जनेऊ नहीं पहनते, इसे पहनना बेकार मानते हैं। यहां तक पहुंचने के लिए सवा सौ साल पहले जो संघर्ष हुआ था, उसे हम भूल चुके हैं। वह संघर्ष जितना साहसपूर्ण था उतना ही विवेकपूर्ण भी। तब हिंदी नवजागरण के अग्रदूत समझे जाने वाले लेखक उस संघर्ष के विरोध में खड़े थे।<sup>17</sup> अर्थात्, भारतेन्दु मण्डल के ही अन्य अनेक साहित्यकार यथास्थिति के ही समर्थक बने रहे।

दयानंद सरस्वती ‘आर्य समाज’ के माध्यम से जो आंदोलन चला रहे थे, वह भी बस नाम का ही सुधारवादी आंदोलन था, क्योंकि उसमें सबसे ज्यादा भागीदारी शिक्षित और मध्यवर्ग की थी। दयानंद सरस्वती ने ऐसा कोई कार्य नहीं किया जो अछूतों, दलितों के जीवन में गुणात्मक परिवर्तन लाया हो। दयानंद सरस्वती के जीवनी में जे. टी. एफ. जोर्डन ने लिखा है कि “जब तक दयानंद साधू सन्यासियों के मठों—अखाड़ों में घूमते रहे या गांवों के द्विज जातियों के बीच

संस्कृत पाठशालाएं खोलकर अपने विचारों के ग्राहक तलाशते रहे, उन्हें रस्तीभर भी सफलता नहीं मिली। सुधारों की चेतना जगाने और उन्हें लागू कराने में उन्हें सफलता सिर्फ तभी मिली जब वे कलकत्ता, बम्बई और लाहौर जैसे महानगरों में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भद्रवर्ग के बीच गए।<sup>18</sup> इससे साफ जाहिर होता है कि दयानंद सरस्वती का सुधार आंदोलन द्विजों के बीच और मध्य वर्ग के लिए था। जो अछूत और आमजन की समस्या थी उससे वे कटे हुए थे। इस आंदोलन की धारा बहुत क्रांतिकारी या तर्कधारित नहीं थी। वैदिक मत के अन्तर्गत ही सारा सुधार समाहित था। वीर भारत तलवार लिखते हैं— “उनकी दृष्टिकोण को पूरी तरह आधुनिक नहीं माना जा सकता। उनकी तर्कशीलता स्थूल ढंग की थी और बुद्धि विवकेशीलता की कसौटी को उन्होंने वैदिक मत तक सीमित कर दिया था। 19वीं सदी का नवजागरण हर दृष्टि से बड़े शहरों के आधुनिक शिक्षा प्रद भद्रवर्ग का सांस्कृतिक आंदोलन था, जिसका सम्बन्ध व्यापक अशिक्षित जनता से और गैर द्विज जातियों से बहुत कम था। राजनीतिक—साम्प्रदायिक कारणों से बाद में उसका सम्बन्ध शुद्धि आंदोलन के जरिए कुछ हद तक दलितों शूद्रों से बना पर यह सम्बन्ध बहुत सीमित और सतही था।<sup>19</sup>”

आर्य समाजी आंदोलन ने मुख्य रूप से प्राचीन आर्य गौरव को फिर से लौटाने और आर्यों का चक्रवर्ती साम्राज्य फिर से कायम करने के लिए शुद्ध वैदिक धर्म की फंडामेंटलिस्ट धारणा पेश की। सभी धर्मों और सम्प्रदायों के खिलाफ प्रचार—प्रसार चलाने, उन पर अपनी श्रेष्ठता कायम करने और उनके विरुद्ध हिन्दुओं को संगठित करने की राजनीति शुरू की। इसका सुधारवादी रूप मंद पड़ गया और आक्रामक साम्प्रदायिक रूप जोड़ पकड़ता चला गया, जो उसकी प्रगतिशील प्रवृत्तियां थीं वह कुंद पड़ गईं। प्रेमचंद जो आर्य समाजी थे, पहली बार आर्य समाज के आंदोलन को आलोचनात्मक दृष्टि से देखते हुए उसके विकास की दिशा पर सवाल उठाए, लेकिन तब तक आर्य समाज अपनी प्रगतिशीलता खो चुका था।

‘आर्य समाज भारतीय नवजागरण का सबसे प्रभावशाली संगठन था लेकिन बनारस और इलाहाबाद जैसे हिंदी लेखकों पर इसका असर बहुत कम पड़ा।

इसका कारण था कि इस क्षेत्र में परंपरागत सनातन धर्म की जड़े बहुत मजबूत थीं। उसे हिन्दू राजाओं का संरक्षण मिला हुआ था और वह काफी संगठित भी था। वह मथुरा वृन्दावन और अयोध्या को केन्द्र बनाकर फैली वैष्णव भक्तिधारा को गलदश्रुपूर्ण भावुकता मानता था, उसे पुरुषार्थपूर्ण धर्म से विचलन समझता था। बल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय को बेलाग शब्दों में भगंदर और दूसरे और रोग फैलाने वाला 'कुष्टी सम्प्रदाय' कहता था। हिंदी नवजागरण के लेखकों के लिए आर्य समाज के सामाजिक सुधारों को भी गले उतारना आसान नहीं था। खासकर ब्राह्मणों के वर्चस्व का विरोध करने, जाति-पांति छोड़कर सभी आर्यों के साथ भोजन करने, शूद्रों दलितों को संस्कृत समेत सभी तरह की विद्या और वेदपाठ का अधिकारी मानने और विधवा विवाह का समर्थन करने संबंधी विचार उन्हें काफी परेशानी में डालते थे।'

आर्य समाज का प्रभावशाली रूप उत्तराखंड के कुमाऊँ में देखने को मिलता है, क्योंकि 1875 में कायम होने के बाद इसने वहां दलित शूद्रों पर होने वाले सामाजिक अत्याचार के खिलाफ डोला-पालकी आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी, लेकिन बिहार और अवध के प्रान्तों में इसका खास असर नहीं दिखा। असल में जिसे हिन्दी का नवजागरण कहा जाता है वह नवजागरण के विरोध में खड़ा हुआ था। "ब्रह्मोसमाज के सुधारों के खिलाफ बंगाल के ब्राह्मणवादियों ने 1830 के दशक में 'धर्म सभा' और 1860 के दशक में 'सनातन धर्म रक्षिणी सभा' कायम की थी। महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज के खिलाफ भी रुढ़िवादी ब्राह्मणों ने अपनी सभा बनाई। पश्चिमोत्तर प्रान्त में ब्रह्मोसमाज और आर्यों के सुधार आंदोलन के खिलाफ 'काशी धर्म सभा' 'प्रयाग हिन्दू समाज', 'मध्य हिन्दू समाज' और 'श्रीभारत धर्म महामंडली' जैसी सनातनी संस्थाएं उठ खड़ी हुईं। 19वीं सदी के ज्यादातर हिंदी लेखक-जिनके साहित्य में मिलने वाली चेतना को 'हिन्दी नवजागरण' कहा जाता है, वास्तव में इन्हीं सनातनी संस्थाओं से जुड़े हुए लेखक थे।"<sup>20</sup> 'श्री भारत धर्म मण्डली' जिसका नेतृत्व मदन मोहन मालवीय करते थे उस संस्था से बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिका दत्त व्यास, बालकृष्ण भट्ट, रामकृष्ण वर्मा (संपादक भारत जीवन) और पंडित दुर्गा मिश्र, (सं. भारत



मित्र) जैसे प्रभावशाली नेता, लेखक और पत्रकार जुड़े हुए थे। 'काशी धर्म सभा' 1870 में मुख्य रूप से हिन्दू धर्म सम्बन्धी आलोचना करने वाले संगठनों से मुकाबला करने के लिए बनाई गई थी। इसके अध्यक्ष खुद काशी नरेश थे। इनके अलावा सनातन धर्म के रखवाले समझे जाने वाले पंडित बाल शास्त्री, पंडित बस्तीराम, बापूदेव शास्त्री, राजाराम शास्त्री और सखाराम शर्मा इसके प्रमुख सदस्य थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थोड़ा नरमदिल थे, वे कुछ हद तक आर्य समाज और ब्रह्मोसमाज के सुधार को समर्थन देते थे, लेकिन "भारतेन्दु और राधाकान्त देव दोनों अपनी-अपनी बिरादरी के चौधरी और सनातन हिन्दू धर्म के रक्षक नेता थे। दोनों के पुरखों ने क्लाइव की मदद की थी। राधाकांत ने ब्रह्मोसमाज के धार्मिक सुधारों के खिलाफ 'धर्मसभा' की स्थापना की तो भारतेन्दु ने आर्यों के खिलाफ 'काशी धर्म सभा' की। विद्या सागर के विधवा विवाह आंदोलन के विरोध में राधाकांत ने हजारों दस्तखतों के साथ सरकार को पेटिशन दी तो भारतेन्दु ने दयानंद के मूर्ति पूजा खण्डन के खिलाफ दूषण मलिका तैयार की।"<sup>21</sup> राधाकांत देव भारतेन्दु की अपेक्षा ज्यादा प्रभावशाली व्यक्ति थे। वे सभी सार्वजनिक कार्यों में आगे रहते थे, लेकिन परंपरागत धर्म और सामाजिक प्रथाओं के कट्टर समर्थक थे। उन्हीं लेखकों में प्रताप नारायण मिश्र भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। वे बहुत ही धार्मिक व्यक्ति थे और छुआछूत जातिवाद, मूर्तिपूजा के साथ जुड़ी पवित्रता का सहज ही समर्थन करते थे। प्रताप नारायण मिश्र ने लिखा कि "ठाकुर जी के मंदिर में ब्राह्मण तक बिना नहाए नहीं जा सकते और मूर्ति को उच्च जाति का हिंदू भी नहीं छू सकता, ऐसी हालत में हर देवमूर्ति को उन कपड़ों से क्यों सजाते हैं जो विलायत के कोरियों का बुना हुआ है और खलीफा जी के द्वारा सुई में थूक लगा-लगा के सिया जाता है, क्या देश के कपड़ा बुनने वाले हिंदू दर्जी मर गये हैं।"<sup>22</sup>

जाहिर है परंपरागत धर्म और दकियानूसी विभिन्न प्रकार की प्रथाओं से बंधे हिंदी के तथाकथित बड़े-बड़े लेखक धर्म के क्षेत्र में किसी नये सृजनात्मक विचार को ग्रहण करने में असमर्थ थे और धार्मिक नवीनता का ज्यादा विरोधी थे। सहवास के लिए लड़कियों की जरूरी उग्र दस से बारह वर्ष बढ़ाने से संबंधित बिल पर

रूढ़िवादियों ने तिखी प्रतिक्रिया की। सबसे ज्यादा विरोध बंगाल में हुआ जहां बाल विधवाओं की संख्या सबसे ज्यादा थी। ब्रह्मोसमाज के सदस्यों को छोड़कर किसी ने भी बिल का समर्थन नहीं किया। 1867 में श्री महादेव गोविंद रानाडे ने 'प्रार्थना समाज' की स्थापना की। इसका मुख्य कार्य सामाजिक तथा धार्मिक बुराइयों को दूर करना था। स्त्री शिक्षा और विधवा विवाह आदि के पक्ष में प्रार्थना समाज आंदोलनरत था। इस आंदोलन के मराठी सुधारकों ने सहवास बिल का समर्थन करते हुए सुधारों के लिए अखिल भारतीय संगठन बनाने पर विचार किया और रानाडे के नेतृत्व में 1887 में 'नेशनल सोशल रिफार्म कांफ्रेंस' की स्थापना हुई। रानाडे के विरोधी बालगंगाधर तिलक ने जनता में बढ़ रही ब्रिटिश विरोधी भावनाओं का इस्तेमाल करते हुए सहवास बिल के खिलाफ राष्ट्रवादी भावनाओं का उन्माद खड़ा कर दिया। इसका एक मकसद कांग्रेस के अंदर रानाडे के खिलाफ अपनी राजनीतिक स्थिति को मजबूत करना भी था।

बाबा साहब डा. भीमराव अम्बेडकर ने तत्कालीन आंदोलनों और चालबाजियों का बहुत ही बारीकी से अध्ययन किया था। उन्होंने रानाडे की तुलना राष्ट्रपिता ज्योतिबा फुले से किया। बाबा साहब का मानना था कि रानाडे समाज सुधारक के साथ-साथ एक कुशल राजनीतिज्ञ भी थे, लेकिन समाज सुधार हमेशा राजनीतिक सुधार से महत्वपूर्ण होता है। इस संबंध में बाबा साहब का विचार इस प्रकार है— "इतिहास समान्यतः इस प्रस्ताव को बल देता है कि राजनीतिक क्रांतियाँ हमेशा सामाजिक और धार्मिक क्रांतियों के बाद हुई हैं। लूथर द्वारा आरंभ किया गया धार्मिक सुधार योरोप के लोगों की राजनीतिक मुक्ति का अग्रदूत था। इंग्लैण्ड में प्यूरिटनवाद के कारण राजनीतिक स्वतंत्रता की स्थापना हुई प्यूरिटनवाद ने नए विश्व की स्थाना की। प्यूरिटनवाद ही ने अमरिकी स्वतंत्रता संग्राम को जीता। प्यूरिटनवाद एक धार्मिक आंदोलन था। यही बात मुस्लिम साम्राज्य के संबंध में भी सत्य है। अरबों के राजनीतिक सत्ता बनने से पहले वे पैगम्बर मुहम्मद साहब द्वारा आरंभ सम्पूर्ण धार्मिक क्रांति से गुजरे थे। यहां तक भारतीय इतिहास भी उसी निष्कर्ष का समर्थन करता है। चन्द्रगुप्त द्वारा संचालित राजनीतिक क्रांति से पहले भगवान बुद्ध की धार्मिक और सामाजिक क्रांति हुई थी।

शिवा जी के नेतृत्व में राजनीतिक क्रांति भी महाराष्ट्र के संतों द्वारा किये गये धार्मिक और सामाजिक सुधारों के बाद हुई थी। सिखों की राजनीतिक क्रांति से पहले गुरु नानक द्वारा की गई धार्मिक और सामाजिक क्रांति हुई थी।<sup>23</sup> बाबा साहब राजनैतिक सुधार की तुलना में सामाजिक सुधार को ज्यादा महत्वपूर्ण मानते थे। इस संबंध में डा. तुलसीराम का कहना है— “डा. अम्बेडकर ने सामाजिक सुधारों को राजनीतिक सुधारों से हमेशा ऊपर समझा। इसलिए उन्होंने रानाडे की सही तुलना महान सुधारक ज्योतिबा फुले से की। रानाडे ने बाल विवाह, विधवा विवाह, विदेश यात्रा में देशवासियों की स्वतंत्रता, स्त्रियों को सम्पत्ति का अधिकार तथा स्त्री शिक्षा आदि समस्याओं को लेकर सुधार आंदोलन चलाया था।<sup>24</sup> रानाडे पूरी तरह सामाजिक बुराइयों के विरोध में खड़े थे लेकिन श्री चितलेकर जो रूढ़िवादिता में विश्वास रखने वाले बुद्धिजीवी थे और श्री तिलक दोनों रानाडे के विरुद्ध एकजुट हो गये और उन्होंने उनके मार्ग में यथासंभव अधिक से अधिक कठिनाइयां उपस्थित की। एक सच्चे समाज सुधारक के लिए कितनी बाधाएं उत्पन्न की जाती हैं, इसका विश्लेषण करते हुए बाबा साहब रानाडे के पक्ष में खड़े होते हैं— “जब समाज सुधारक समाज को चुनौती देता है, तब कोई भी व्यक्ति उसको शहीद कहकर उसका स्वागत नहीं करता। कोई भी व्यक्ति उसका मित्र तक बनने के लिए तैयार नहीं होता। उससे लोग घृणा करते हैं और बचकर रहते हैं, परंतु जब राजनीतिक देशभक्त सरकार को चुनौती देता है तो सारा समाज उसका समर्थन करता है। उसकी प्रशंसा की जाती है, उसकी सराहना की जाती है और उसे उद्धारक के रूप में तथा मुक्तिदाता के रूप में आदर किया जाता है।” बाबा साहब कुछ सवाल भी खड़े करते हैं और उसका उत्तर भी सुझाते हैं—“कौन अधिक साहस दिखाता है? वह समाज सुधाकर जो अकेला लड़ता है, या वह राजनीतिक देशभक्त जो बहुत बड़ी संख्या में अपने समर्थकों के सहयोग से लड़ता है? इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि रानाडे ने समाज सुधार के कार्य को हाथ में लेते समय साहस दिखाया था। वास्तव में उन्होंने उच्चकोटि का साहस दर्शाया था। क्योंकि आप यह बात याद रखे कि उनके समय में सामाजिक तथा धार्मिक प्रयासों तथा रीति-रिवाजों को, चाहे वे जितने घटिया तथा अनैतिक थे, परम पवित्र तथा अलंघनीय माना जाता था तथा जब उनके दैवी व

उत्कृष्ट तथा नैतिक आधार पर कोई संदेह प्रकट करता था, या उन पर कोई प्रश्न खड़ा करता था, चुनौती देता था तो उसकी बात को केवल एक अपसिद्धांत शासन विरुद्ध ही नहीं माना जाता था, बल्कि उसे असहनीय ईशनिंदा तथा धर्मविरोध व देवद्रोह के रूप में माना जाता था।<sup>25</sup> रानाडे का निष्कर्ष था कि यदि जीवित रहना है तो कठोर सामाजिक सुधार करने होंगे। उनका मुख्य जोर हिन्दू समाज के नैतिक स्तर में सुधार लाना था। रानाडे एक तर्कनिष्ठ व्यक्ति थे। वे अपने विचारों को तर्क पर कसने के पक्षधर थे। मुख्यतः वे समाज सुधारक थे, लेकिन वे ऐसे राज नेता नहीं थे जो राजनीति को व्यापार करता है। उनकी राजनीति ठोस और तर्काधारित थी, इसलिए भारतीय राजनीतिक प्रगति में उनका महत्वपूर्ण योगदान है।

तत्कालीन लेखक अपनी लेखनी द्वारा उन तमाम बुराइयों के विरोध में लिखने के बजाए समर्थन में लिख और छाप रहे थे। सहवास बिल पास हो जाने की संभावना से प्रताप नारायण मिश्र घबरा उठे। 'ब्राह्मण' (15 फरवरी 1992) में उन्होंने सम्पादकीय लिखकर पहले तो उन्हें कोसा जो बाल विवाह का खुला समर्थन करते थे। फिर बिल के विरोध में उन्होंने लिखा—“जिन स्त्रियों की परदादारी को भारतीय सदा प्राणों से अधिक रक्षणीय समझते हैं, उस परदादारी की जड़ में मानो दिन-रात कुठार रखी होगी। बहू-बेटियों का डॉक्टर के सामने अपमानित और कचहरी में आकर्षित होना अमिट हो जाएगा। बड़े-बड़े प्रतिष्ठितों का लाख का घर खाक हो जायेगा।”<sup>26</sup> मिश्र जी को स्त्री से जुड़ी समस्याओं की चिंता नहीं है बल्कि प्रतिष्ठित कहे जाने वाले लोगों की नाक की चिंता है। इस पर वीरभारत तलवार की टिप्पणी काबिले तारीफ है —“मिश्र जी छुटपन में ब्याही जाने वाली लड़कियों की दुर्दशा को लेकर उतने चिंतित नहीं थे, जितना भद्रवर्गीयों की पारिवारिक प्रतिष्ठा को लेकर। मिश्र जी जैसे लेखकों के लिए स्त्री के अपने जीवन का महत्त्व न था। स्त्री एक व्यक्ति नहीं सिर्फ प्रतीक भर थी, पुरुषों की इज्जत का प्रतीक भद्रवर्गीय घरों की प्रतिष्ठा का प्रतीक। सिर्फ प्रताप नारायण मिश्र का नहीं, भारतेंदु समेत नवजागरण के ज्यादातर पुरुष सुधारकों का यही दृष्टिकोण था। स्त्री कभी हिन्दू धर्म का प्रतीक थी, कभी राष्ट्र की मर्यादा का

प्रतीक।<sup>27</sup> मिश्र जी के सामने स्त्री शिक्षा या स्त्री समस्या प्रमुख नहीं थी, उनकी चिंता थी 'शीघ्रबोध' जैसे ग्रन्थों के बचाव का जिन्हें वे आदर से 'हमारे शास्त्र' कहते थे।

अखिल भारतीय नवजागरण में स्त्रीदशा के सुधार के लिए ईश्वरचंद्र विद्यासागर का कार्य सराहनीय था। उन्होंने पहली बार लोक में प्रचलित स्त्री की यौन सूचिता की धारणा को तोड़ा। उन्होंने स्त्री-पुरुष के बीच यौन-मामलों में बरते जाने वाले दोहरे मापदण्डों की वैधता को चुनौती दी और लिंगभेद पर आधारित अन्याय के खिलाफ आवाज उठाई। हालांकि वे भी स्त्री को समानता के बजाए संरक्षण देने के पक्ष में थे।

19वीं सदी के धार्मिक आंदोलन में एक आंदोलन थियोसॉफिकल सोसायटी (1875-न्यूयार्क) का भी था। वस्तुतः इसकी स्थापना एक रूसी महिला ब्लैवत्सकी और अमरीकी कर्नल अल्काट ने की थी और बाद में भारत आकर इसकी शाखाएं खोली। इसमें तर्काधारित कुछ भी नहीं था। बल्कि पुराने धर्मों को ही वैज्ञानिक बताने की कोशिश की जा रही थी। इसमें आत्मा को बुलाने उससे बातें करना, किसी की खोई हुई चीज वापस मिल जाना इत्यादि चमत्कारिक ढंग से चीजों को परोसना। एक ताज्जुब की बात यह थी कि इसके विरोध में कभी भी भारतेंदु हरिश्चन्द्र जैसे समाज सुधारक खड़े नहीं हुए। हाँ राजा शिव प्रसाद सिंह ने इस सोसायटी का जमकर विरोध किया था।

1887 में बना 'कायस्थ महासभा' के आंदोलन का भी तत्कालीन समय में महत्वपूर्ण स्थान था। इस आंदोलन पर हिंदी लेखकों की कोई टिप्पणी नहीं मिलती है। इस संस्था का निर्माण पूरे भारत में चल रहे आंदोलनों को एक साथ मिलाकर व्यापक स्तर पर सुधारों को फैलाने के ध्येय से हुआ था। इसमें सिर्फ सामाजिक सुधार की चर्चा होती थी। धार्मिक सवालों से यह संस्था अपने को दूर रखती थी। इसका वार्षिक आयोजन कांग्रेस के साथ उसी के पाण्डाल में होता था, जिसमें सारे धर्मों के लोग शामिल होते थे। इसके नेशनल सोशल कांफ्रेंस को हिंदी लेखक सख्त नापसंद करते थे। बालकृष्ण भट्ट इसके बड़े विरोधी थे, उन्होंने

अपनी पत्रिका में रानाडे, भंडारकर और आगरकर जैसे सुधारकों को होटलिए कहते हुए लिखा— “हम कई बार लिख चुके हैं, बराबर कहते आए हैं कि यह सोशल कांफ्रेंस बड़ी बला है। थोड़े से होटलिए बाम्बे और पूना के मरहट्टे इसके जन्मजाता हैं जिनका प्रयोजन सिर्फ हिंदू समाज को छिन्न-भिन्न करने और हिन्दू धर्म को जहां तक हो सके, तहस-नहस कर देने का है क्योंकि वे ही इसमें अधिक सिर उठाये हुए हैं। इसलिए इस बला का जहां तक हो सके, अभी ही मूलोच्छेद हो जाना चाहिए।”<sup>28</sup> बालकृष्ण भट्ट पोंगापंथी ब्राह्मण थे। होटल में ठहरने वालों को वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। सोशल कांफ्रेंस उन्हें हिन्दूधर्म और समाज को विध्वंशकारी लगा, क्योंकि इसके नेताओं ने बारह साल से छोटी पत्नी के साथ संभोग करने को जुर्म ठहराने वाले सहवास बिल (एज ऑफ कंसेष्ट बिल) का समर्थन किया था, जातिप्रथा तोड़ने, अपनी आजीविका खुद कमाने और अपना धर्म बदलकर भी हिन्दू विधवाओं की मदद करने वाली पंडिता रमाबाई को अपना समर्थन दिया था।

19वीं सदी के नवजागरण में ‘सीमंतनी उपदेश’ नामक पुस्तक की महत्ता को नहीं भुलाया जा सकता है। इसकी लेखिका एक अज्ञात हिन्दू औरत है, जिनके नाम का पता नहीं चल सका है। यह पुस्तक पूरी तरह से स्त्री समस्याओं पर आधारित है। इस किताब की तुलना वीरभारत तलवार ने महाराष्ट्र की लेखिका ताराबाई शिंदे की मराठी पुस्तक ‘स्त्री-पुरुष तुलना’ से किया है जो उसी साल छपी थी। लेखिका ने भारतीय पितृ सत्तात्मक समाज को स्त्रियों के लिए जेलखाना बताया है। अंग्रेजी राज को वे सतयुग की उपाधि से संबोधित करती हैं। “मुसलमान जमाने के वक्त बेशक कलयुग था, लेकिन अब श्रीमती विक्टोरिया महारानी का राज है, जिसमें इंसाफ सूर्य की तरह चमक रहा है। वही सतयुग है।” जेवर को सुहाग के प्रतीक रूप में पहनने वाली स्त्रियों से सवाल करती हैं—“तुम्हारे वास्ते तुम्हारे खाविन्द कौन सी निशानी रखते हैं।” 19वीं सदी में फैले व्यभिचार में स्त्रियों की भागीदारी को पुरुष स्त्रियों की मूर्खता और उसकी कामवासना की अधिकता या शास्त्रीय धर्म में घुस आई विकृतियों से जोड़कर देखते थे। ऐसे में स्त्रियों पर अनेक मर्यादाएं थोपी जाती थी। मर्यादा थोपने वाले पुरुषों को वे जवाब

देती हैं कि यदि स्त्रियां इस व्यभिचार में फंसी हैं, तो उसके निम्नलिखित कारण हैं—“अव्वल विवाह न होने से, दूसरा बेवा होने से, तीसरा बूढ़े से शादी होने से, चौथा जिसकी छोटे लड़के से शादी हुई हो, पांचवा सास-ननद के बहुत दिक करने से, छठा खाविन्द की बदफैलियों से दिल जलकर, सातवां रोटी-कपड़ा न मिलने से, आठवां मुफलिसी से, नौवा जो दौलतमंद मुख्तार हो।” तफसील के साथ उसने व्यभिचार की राह में पहला कदम रखने की मनोवैज्ञानिक स्थिति से लेकर उसकी आखिरी मंजिल तक का सफर दिखाया कि कैसे इन सबके लिए पुरुषों का बर्ताव और नजरिया जिम्मेदार है।<sup>29</sup>

19वीं सदी में इतने यथार्थ और क्रांतिकारी अभिव्यक्ति अपने आप में बहुत ही साहस का कार्य था। इतना ही नहीं सेक्स संबंधी खुलकर अभिव्यक्ति सीमांतनी उपदेश में हुई है। इस पुस्तक की सबसे क्रांतिकारी पक्ष पवित्र धर्म की आलोचना है “हिन्दुस्तान को नेक राह पर लाना चाहते हो तो पहले उन किताबों को आग में फूंक दो, जिनमें स्त्रियों के वास्ते इस धर्म की हिदायत है और मर्दों के वास्ते कुछ नहीं।” इस सम्बन्ध में बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर और अज्ञात हिन्दू औरत के विचार काफी मेल खाते हैं, जिसमें दलितों पर कड़ी पाबंदियां थोपने और अत्याचार करने की व्यवस्था देने वाले शास्त्रों को फूंक देने का आह्वान किया गया था। अम्बेडकर और अज्ञात हिन्दू औरत, दोनों व्यापक समुदायों के शोषण-उत्पीड़न के खात्मों के लिए आवाज उठा रहे थे। एक की लड़ाई वर्णाश्रम धर्म से थी, दूसरे की पतिव्रत धर्म से। दोनों ने इस लड़ाई में लोगों के संस्कारों पूर्वाग्रहों को गढ़ने वाले इन शास्त्रों को एक बड़ी रुकावट पाया, जिनकी विचारधारा पर भारतीय संस्कृति की बुनियादें खड़ी थी।

19वीं सदी के भद्रवर्गीय नवजागरण ने भारतीय समाज में किसी बुनियादी परिवर्तन का आंदोलन नहीं खड़ा किया था। लेकिन 20वीं सदी में जातिप्रथा को जड़ से उखाड़ने के लिए दलित आंदोलन खड़ा करने वाले डा. अम्बेडकर ने ऐसे बुनियादी परिवर्तन की लड़ाई जरूर छेड़ी थी। इस लिहाज से उन्हें भारतीय नवजागरण की दूसरी धारा का नेता मानना चाहिए।<sup>30</sup> एक स्त्री के लिए धर्मग्रन्थों

को जलाने की बात करना एक क्रांतिकारी कदम था। 19वीं सदी के नवजागरण में इस तरह की बात करने वाली वह लेखिका बिल्कुल अलग थी।

उस दौर की दूसरी महत्वपूर्ण लेखिका ताराबाई शिंदे थी, जिनकी 'स्त्री-पुरुष तुलना', सती स्त्री समस्या एवं विमर्श की महत्वपूर्ण पुस्तक है। उन्होंने भद्रवर्गीय पुरुष सुधारकों के आंदोलन की सीमाओं को पार करते हुए उनकी कड़ी आलोचना भी की। ताराबाई की किताब का अंग्रेजी अनुवाद और विश्लेषण करते हुए रोजालिंद ओहॉनलेन ने उनका जीवन परिचय दिया है। ताराबाई के परिवार का संबंध ज्योतिबा फुले के ब्राह्मणवाद विरोधी आंदोलन से था। बापूजी हरिशिंदे ताराबाई शिंदे के पिता सत्य शोधक समाज के सदस्य थे और ज्योतिबा फुले उनके परिवारिक मित्र थे। एक सुधारक संस्था से जुड़े होने के कारण स्वाभाविक था कि वे अपनी बेटी को शिक्षित करते। अपनी पढ़ाई के सिलसिले में ताराबाई ने मराठी के अलावा अंग्रेजी और संस्कृत का भी कुछ ज्ञान प्राप्त किया। इस पुस्तक में "ताराबाई ने हर तरह का दोष स्त्रियों के मत्थे मढ़ने की पुरुषों की प्रवृत्ति की और उन्हीं के बनाए स्त्री धर्म (पतिव्रत धर्म) की ऐसी तीखी आलोचना की, जिससे बहुत से पुरुष सुधारक बौखला उठे थे। यहां तक कि एक ब्राह्मण विरोधी लेखक ने भी ताराबाई की किताब की आलोचना की। जब ताराबाई की किताब पर पुरुषों के हमले हो रहे थे, ज्योतिबाई फुले ताराबाई के पक्ष में खड़े हुए फुले। फुले ने उनकी किताब देखी थी। ब्राह्मणों द्वारा स्त्रियों को अशिक्षित रखने और उन पर तरह-तरह के दोष मढ़ने की प्रवृत्ति के खिलाफ आवाज बुलंद करते हुए उन्होंने स्त्रियों की लड़ाई लड़ रही पंडिता रमाबाई का नाम लिया और लिखा कि रमाबाई से भी पहले यह लड़ाई ताराबाई शिंदे ने लड़ी।"<sup>31</sup> ताराबाई शिंदे स्त्रियों की स्थिति में सुधार और उन्नति का कारण ब्रिटिश शासन को मानती हैं। भारत में जब से ब्रिटिश शासन कायम हुआ, तब से दलितों और शूद्रों की तरह स्त्रियों की हालत में भी बदलाव आने शुरू हुए। ताराबाई लिखती है –"जब से यह राज शुरू हुआ, स्त्रियों को शिक्षा का वर्दान मिला और उनमें इतनी मानसिक दृढ़ता आ गई कि वे हर तरह की मानसिक और व्यावहारिक कठिनाइयों का हिम्मत से मुकाबला कर सके। उनके दिल-दिमाग में घर बनाकर बैठा अज्ञान का अंधकार दूर हुआ और



उनमें यह समझ आनी शुरू हुई कि उनके लिए क्या भला और क्या बुरा है। किससे कैसा बर्ताव करना चाहिए और जीवन की गाड़ी सही ढंग से कैसे चलानी चाहिए। उन्हें इसकी कुछ-कुछ समझ आने लगी कि सत्य क्या है, धर्म और पतिव्रत क्या है। इस सबसे इस भारत देश में चीजें काफी बदलने लगी।<sup>32</sup>

ताराबाई शिंदे ने उन छद्म सुधारवादी आंदोलन चलाने वालों की जमकर खिंचाई की है, जो सामाजिक सुधार तो चाहते हैं, लेकिन अपने अंदर इतना साहस नहीं जुटा पाते कि पारंपरिक परिपाटी को तोड़कर नई व्यवस्था कायम कर सकें। उनकी दिखावेपन और कथनी-करनी पर चोट करती हैं— “ये पुरुष सुधारक बड़े विद्वान और महान हैं, फिर भी जातिप्रथा के नियमों का उल्लंघन करने से इतना डरते हैं। विधवा हो गई स्त्री का पुनर्विवाह कराने की हिम्मत वे नहीं जुटा पाते। तुम लोग बड़ी-बड़ी बातें करते हो, पर कोई उन पर अमल भी करता है? तुम लोग बड़ी-बड़ी सभाएं करते हो, उन सभाओं में सुंदर शालें ओढ़कर और सिर पर कढ़ाई की हुई पगड़ियां पहनकर जाते हो, ढेरो सुपारी चबा जाते हो, हर वक्त पान खाते रहते हो, सैकड़ों मालाएं गले में पहन लेते हो, हौज भरकर इत्र उड़ेल लेते हो और फिर सभाओं से वापस घर आ जाते हो। बस इतना ही तुम लोग करते हो। पिछले चालीस-पचास सालों में तुम्हारी बड़-बड़ करने वाली सुधार सभाएं चल रही है। इनका फायदा क्या है? तुम सब खुद ही अपनी पीठ थपथपाते रहते हो।”<sup>33</sup> ताराबाई शिंदे ने अपनी पैनी आलोचनात्मक दृष्टि से 19वीं सदी में चल रहे सुधारवादी आंदोलन की सच्चाई को बेनकाब किया। ऐसा साहसी कदम उठाने वाली उस दौर की पहली भारतीय महिला थी। हालांकि उन पर माता सावित्रीबाई फुले और ‘सत्यशोधक समाज’ का विशेष प्रभाव पड़ा था। फुले दम्पति के आंदोलन की वजह से ही ताराबाई शिंदे जैसी स्त्री नवजागरण में अपनी मुखर अभिव्यक्ति के साथ पुरुषों के विरोध में खड़ी होती है। इस तरह की कोई स्त्री पश्चिमोत्तर प्रान्त में नहीं दिखाई देती है। वीर भारत तलवार कहते हैं कि—“यह तथ्य पश्चिमोत्तर प्रान्त के नवजागरण पर अपने आप में एक टिप्पणी है।” इनकी टिप्पणी बिल्कुल सही भी है। आखिर नवजागरण किसका था, क्यों कोई स्त्री हिंदी

प्रदेशों में दिखाई नहीं देती। जाहिर सी बात है पश्चिमोत्तर प्रान्त में कोई ऐसा आंदोलन नहीं चल रहा था, जो फुले दम्पति के सत्यशोधक समाज की तरह हो।

उपर्युक्त सभी आंदोलनों का उद्देश्य प्रकारान्तर से एक ही था कि हिन्दुत्व के ढांचे में भारतीय समाज का सुधार करना। अर्थात् वर्णवादी व्यवस्था के ढांचे को बरकरार रखते हुए उस संस्कृति का पुनरुत्थान करना। असल में यह बाह्य संस्कृतियों से हिंदू संस्कृति की रक्षा के प्रयास थे। जिसमें बहुत हद तक सफलता भी मिली। सुमित सरकार लिखते हैं—“पुनर्उत्थानवाद स्पष्ट रूप से एक आक्रामक हिन्दू अस्मिता को स्थापित करने में सहायक हुआ।”<sup>34</sup> शूद्र—अतिशूद्र और स्त्रियों की समस्या उनके शोषण को लेकर तत्कालीन समय में सबसे चिंतित और पीड़ित ज्योतिबा राव फुले दम्पति थी। उन्होंने ब्राह्मणवाद, मनुवाद के खिलाफ आक्रामक आंदोलन छेड़ा था। उधर दक्षिण भारत में पेरियार स्वामी नायकर ने क्रांतिकारी समाज सुधार और जाति व्यवस्था के विरुद्ध अपना आंदोलन चलाया था। इन्हीं पृष्ठभूमि के आलोक में बाबा साहब डा. भीमराव अम्बेडकर ने पूरे राष्ट्र के लिए अद्वितीय कार्य किया, जिसकी आज भी कोई सानी नहीं है। यदि बाबा साहब न होते तो गांधी का जातिप्रथा और छुआछूत विरोधी आंदोलन न चलता। ज्योतिबा फुले के आंदोलन का ही प्रभाव था कि 1857 में ईस्ट इंडिया कंपनी सरकार ने एक आदेश जारी कर अछूत बच्चों को भी स्कूल जाने की अनुमति दे दी। वर्ना तो वेद—पुराणों में दलितों के लिए क्या विधान है, सर्वविदित है।

19वीं सदी आते—आते केरल के शूद्र, अतिशूद्रों ने सार्वजनिक सड़कों पर चलने के लिए अपने अधिकार की लड़ाई जीत ली। दलितों ने सामाजिक मुद्दों के साथ—साथ आर्थिक मुद्दों की भी लड़ाइयां लड़ते हुए भूमि का बंटवारा, जातिगत बेगारी और दिहाड़ी आदि के श्रम से मुक्ति के लिए भी आंदोलन चलाया। नागपुर और बम्बई के मिलों में काम करने वाले दलित मजदूरों को संगठित किया गया और श्रम शोषण के विरुद्ध कार्यक्रम चलाए गये। इन कार्यों में डा. अम्बेडकर की भूमिका अग्रणी थी।

नवजागरण का प्रभाव जिस तरह पंजाब और महाराष्ट्र में पड़ा वैसा हिंदी क्षेत्र में नहीं दिखाई देता है। इसका मुख्य कारण यह था कि यहां कोई वैसा समाज सुधारक काम नहीं कर रहा था। जितने आंदोलन चल रहे थे, उनका क्षेत्र हिंदी पट्टी नहीं था। आर्य समाज एक बड़ा आंदोलन था, जिसकी पैठ उत्तर भारत में थी, लेकिन आर्य समाज को इस क्षेत्र और साहित्य के क्षेत्र में वह महत्व नहीं मिला, जो पंजाब में मिला। शिवकुमार मिश्र लिखते हैं— “नवजागरण की चेतना जब हिंदी क्षेत्र में आई, न केवल बिलंब हो चुका था, उसकी उठान और उर्जा भी काफी कम हो चुकी थी।<sup>35</sup> उत्तर भारत में किसी भी आंदोलन का प्रभाव न पड़ने का एक और कारण था कि यहां सनातनियों का बोलबाला था। वे अपने सनातन विचारों के अलावा किसी भी नए विचार को ग्रहण करने के सख्त विरोधी थे। भारतेन्दु मण्डल के साहित्यकारों ने नव-जागरण में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था, लेकिन उसकी सीमा भी बहुत संकुचित थी। दयानंद सरस्वती ने ईसाई मिशनरियों की तर्ज पर हिन्दू धर्म से बहिष्कृत या धर्मान्तरित लोगों को हिन्दू धर्म में पुनः दीक्षित करने के लिए ‘शुद्धि आंदोलन चलाया, लेकिन इसका भी हिंदी क्षेत्र पर कुछ खास प्रभाव नहीं था। नामवर सिंह लिखते हैं—“हिंदी प्रदेश में नवजागरण का कार्य मुख्यतः लेखकों और साहित्यकारों को ही संपन्न करना पड़ा, क्योंकि यहां बंगाल और महाराष्ट्र की तरह प्रखर समाज सुधारक और विचारक अगुआई करने के लिए नहीं मिले। हिंदी प्रदेश को मिले भी तो दयानंद सरस्वती, जिनकी भूमिका का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उन्नीसवीं सदी के बड़े लेखकों में से एक भी उनसे प्रभावित न हो सका। स्वयं भारतेन्दु दयानंद की अपेक्षा बंगाल के केशवचन्द्र सेन को अधिक श्रेयस्कर समझते थे।”<sup>36</sup> भारतेन्दु मण्डल के साहित्यकार भी यथार्थिति के समर्थक बने रहे। द्विवेदी युग भी प्रायः आर्य समाज की प्रवृत्ति और प्रभावों से ही अधिक प्रेरित दिखाई पड़ता है। प्रसाद और मैथिली शरण गुप्त आदि तो आर्य समाज के दूसरे संस्करण नजर आते हैं। हिंदी क्षेत्र में आर्य समाज का कुछ प्रभाव जरूर देखने को मिलता है। “यद्यपि उनका उद्देश्य हिन्दुत्व को ईसाईयत और इसलामियत के प्रभाव से बचाना था, फिर भी उन्होंने न केवल धर्म को व्यवहारिक बनाकर उसे समाज से जोड़ने की कोशिश की; बल्कि हिन्दू धर्म और समाज में प्रचलित मिथ्या बाह्याडम्बर, जात-पात, छुआछूत, मूर्तिपूजा,

जादू-टोना तथा धार्मिक एवं सामाजिक अंधविश्वासों पर प्रहार भी किया। उन्होंने सारी समस्याओं का समाधान वेदों में ही खोजा और स्त्री समस्या, बाल विवाह, विधवा विवाह आदि का शास्त्र सम्मत समाधान प्रस्तुत किया। उनका आचार पक्ष बड़ा प्रबल था। आर्य समाजियों ने अपने समाज में खान-पान सह भोज आदि आयोजित कर दैनिक व्यवहार और विवाह में भी जातिबंधन का बहिष्कार किया और अन्तर्जातीय भोज एवं विवाहादि पर बल दिया। इसीलिए दयानंद सरस्वती फुले के एक अच्छे मित्र बने और दक्षिण यात्रा के समय फुले ने ब्राह्मणों के आक्रमण से दयानंद की रक्षा की।<sup>37</sup> यह सही है कि आर्य समाज ने समाज सुधार के लिए शुरू में थोड़ा क्रांतिकारी कदम उठाया था, लेकिन बाद में उसके सारे उद्देश्य हिन्दुत्व की गोदी में जाकर धूल-धूसरित हो गये। सही मायने में देखें तो उत्तर भारत में शुद्ध रूप से दलित चेतना का उभार और सामाजिक क्रांति का स्वर केवल स्वामी अछूतानंद हरिहर के आंदोलन में दिखाई देता है।

आर्यसमाज अपने मूल धर्म को बचाए रखने के लिए ईसाईयत और इसलामियत से दलित पिछड़ों को वंचित रखना चाहता था, यह उस आंदोलन का एक मुख्य उद्देश्य था। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व में 1910 में 'हिन्दू महासभा' की स्थापना प्रयाग में किया गया। इसमें मुख्य रूप से भूमिका मदन मोहन मालवीय के अतिरिक्त लाला लाजपत राय और स्वामी श्रद्धानंद का था। 1922 के आस-पास हिन्दू महासभा द्वारा शुद्धि आंदोलन चलाया जा रहा था। हिन्दू महासभा का मुख्य कार्य वर्णव्यवस्था को बनाए रखना और मजबूत करना था। उस समय जातीयता का दंश झेलने वाले जितने दलित-पिछड़े हिन्दू धर्म छोड़कर ईसाई बन रहे थे और इस्लाम कबूल कर रहे थे, उन सबको फिर से हिन्दू धर्म में लाने का कार्य हिन्दू महासभा शुद्धि आंदोलन के माध्यम से कर रहा था। हिन्दू महासभा को यह बात अच्छी तरह पता था कि यदि दलित-पिछड़े दूसरे धर्मों में चले जायेंगे तो तथाकथित हिन्दुओं की जनसंख्या और दशा बहुत ही दयनीय हो जाएगी। इसलिए किसी भी कीमत पर वे बड़ी चालाकी से शुद्धिकरण द्वारा उन्हें हिंदू धर्म का हिस्सा बनाये रखना चाहते थे। जिससे वर्णव्यवस्था की नींव मजबूत रहे और मनु का विधान फलता-फूलता रहे।

दूसरी तरफ मुसलमानों ने शुद्धि आंदोलन के विरुद्ध 'तबलीग' या 'तंजीम' आंदोलन शुरू कर दिया था। हिन्दू धर्म की वर्जनाओं और शोषण से तंग आकर बहुजन समाज के लोग ईसाई और इस्लाम को कुबुल कर रहे थे।

बीस के दशक में भारतीय जनमानस के बीच बाबासाहेब डा. भीमराव अम्बेडकर का क्रांतिकारी उभार होता है। बाबा साहब पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने जातिप्रथा को छुआछूत से जोड़ा। इन्होंने छुआछूत के सवाल को सामाजिक और राजनीतिक सवाल बनाया। उस समय जितने भी बुद्धिजीवी और नेता थे, वे जाति प्रथा और वर्ण-व्यवस्था को छुआछूत से नहीं जोड़ते थे। उन्हें यह लगता था कि वर्णव्यवस्था और जातिप्रथा को मिटाए बिना छुआछूत को मिटाया जा सकता है। 19वीं सदी में जितने भी आंदोलन चल रहे थे, कुछ आंदोलनों को छोड़कर सबका उद्देश्य एक ही था – वर्ण व्यवस्था के अंदर ही सुधार करना। बाबा साहब परंपरावादी हिन्दू दृष्टिकोण पर प्रहार करते हुए आधुनिक दृष्टिकोण और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को लेकर राष्ट्र निर्माता के रूप में आते हैं। आधुनिक दृष्टिकोण और परंपरावादी हिन्दू दृष्टिकोण में फर्क करते हुए सर पी.एस. शिवस्वामी अय्यर ने लिखा है— "आधुनिक दृष्टिकोण और परंपरागत हिन्दू दृष्टिकोण में अन्तर यह है कि हिन्दू किसी नियम की मूल की खोज किसी शास्त्र में या किसी प्रमाणित परंपरा में करके संतुष्ट हो जाता है और उसके विवेक सम्मत होने या न होने का प्रश्न नहीं उठता। वहीं आधुनिक दृष्टिकोण का व्यक्ति उस नियम के सिर्फ शास्त्र सिद्ध होने से संतुष्ट नहीं होता, वह उसकी नैतिकता की जांच करता है, उसे लेकर तर्क-वितर्क करता है और उसे विवेक की कसौटी पर कसता है।"<sup>38</sup> जाहीर है इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण के तहत मानवतावादी-समतावादी विचारधारा को बुद्ध के बाद फुले और बाबासाहेब अम्बेडकर ने पुरजोर तरीके से अपनाया। बाबासाहेब की पूरी सामाजिक विचारधारा धर्म सम्मत अनैतिकता के विरुद्ध नैतिकता और न्याय पर आधारित है। उन्होंने सभी सम्प्रदायों के धर्मग्रन्थों का विशद् अध्ययन करके न सिर्फ निष्कर्ष निकाला है, बल्कि उससे निपटने के लिए विकल्प भी दिया हैं। यही कारण है कि बाबासाहेब 20वीं सदी की राजनीतिक लड़ाई से ज्यादा सामाजिक समस्याओं पर बल देते हैं और तत्कालीन राजनीतिज्ञ एवं समाज

सुधारकों से बिल्कुल अलग अपना स्टैण्ड रखते हैं। बाबासाहेब हिन्दू धर्म की सामाजिक धार्मिक आदर्श पर प्रश्न खड़ा करते हैं—“क्या विश्व में ऐसा कोई समाज है, जहां ऐसे लोग रहते हों, जो एकदम अलग-अलग रहते हों और जिनकी परछाई पड़ना और जिन्हें देखना पाप हो? क्या कोई ऐसा समाज है जिसमें अपराधिक जनजातियां रहती हो? क्या कोई ऐसा समाज है जिनमें नंगधड़ंग आदिवासी एवं वनवासी हों? वे गिनती में कितने हैं? क्या सैकड़ों की संख्या में हैं? क्या हजारों की संख्या में हैं? मेरी कामना है कि उनकी संख्या नगण्य हो। दुःख की बात यह है कि उनकी संख्या लाखों में है। लाखों अछूत हैं, लाखों जरायमपेशा जनजातियां हैं, लाखों आदिम जनजातियां हैं। घोर आश्चर्य! हिन्दू सभ्यता, सभ्यता है या उसके नाम पर कलंक? यह तो आदर्श का हाल है।”<sup>39</sup> आगे लिखते हैं—“ब्राह्मणों ने हर तरह के पापों और अपराधों का समर्थन किया। अस्पृश्यता का समर्थन किया। अस्पृश्यता ने लाखों लोगों को दासता के नरक में धकेल दिया। उन्होंने जातिवाद का समर्थन किया। उन्होंने बाल-विवाह का समर्थन किया, बाध्यकारी वैधव्य का समर्थन किया। वर्णव्यवस्था के ये दो घोर कलंक हैं। उन्होंने सती प्रथा का समर्थन किया। उन्होंने बहु विवाह की नियमावली क्रमिक असमानता की समाज व्यवस्था का समर्थन किया। उसके कारण राजपूतों ने अपनी हजारों पुत्रियों का गला जन्म लेते ही घोट दिया। घोर लज्जाजनक! घोर पाप! क्या ऐसा समाज सभ्य राष्ट्रों को अपना मुंह दिखा सकता है।”<sup>40</sup> जो लोग भारतीय सभ्यता और संस्कृति का गुणगान कर अपने को गौरवान्वित महसूस करते हैं, बाबासाहेब उनकी संस्कृति और सभ्यता के खोखले आदर्श को दुनिया के सामने प्रस्तुत करते हैं तथा उसकी निस्सारता पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करते हैं। बाबासाहेब जिस आंदोलन का नेतृत्व कर रहे थे उसके केंद्र में जाति और अछूतपन की समस्या थी, लेकिन उसी समय जो पूंजीपतियों और हिन्दुओं के द्वारा आंदोलन चलाया जा रहा था, उसके केंद्र में पूर्णरूपेण सत्ता हथियाने का कार्य था और हिन्दू वर्णव्यवस्था को बनाये रखने का आंदोलन था। बाबासाहेब के अलावा उनके समय में कोई भी ब्राह्मणवाद या मनुवाद पर हमला नहीं कर रहा था। भारतीय समाज और संस्कृति के अंदर छुपे यथार्थ और खोखलेपन का उन्होंने न केवल पर्दाफाश किया, बल्कि उसे जड़ से दूर करने का प्रयास भी किया। आधुनिक भारतीय

समाज और संस्कृति के निर्माण में स्त्री शिक्षा का अधिकार दिलवाने, छुआछूत जैसे अमानवीय कर्म को अपराध घोषित करवाने में बाबा साहब का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

बाबासाहेब डा. अम्बेडकर ने अछूतों के मंदिर प्रवेश, सार्वजनिक स्थानों से पानी भरने पर प्रतिबन्ध आदि के खिलाफ व्यावहारिक आंदोलन आरंभ किया। सही मायने में तो बाबासाहेब का आंदोलन 1917-18 से ही शुरू हो चुके थे, किन्तु 1927 से उनके आंदोलन ने धारदार रूप ले लिया। उनके प्रमुख आंदोलनों में 'महाड़ा सत्याग्रह' (1927), मंदिर प्रवेश आंदोलन (1929-30 कालाराम एवं अन्य मंदिर) लेबर पार्टी की स्थापना (1936), नागपुर सम्मेलन (1942), धर्म परिवर्तन आंदोलन (1956) आदि महत्वपूर्ण हैं।

जब बाबा साहब छुआ-छूत और जातिप्रथा के मुद्दे को सामाजिक समस्या के साथ राजनीति से जोड़े, तब तत्कालीन नेताओं पर इसका थोड़ा सा सकारात्मक प्रभाव पड़ा। इसी प्रभाव की वजह से डा. अम्बेडकर के उभार के बाद श्री गांधी ने 1932-33 में सविनय अवज्ञा आंदोलन को रोकते हुए जब अछूतोद्धार आंदोलन का आह्वान किया तो तथाकथित सवर्ण कांग्रेसी नेताओं को अच्छा नहीं लगा। राजीव रंजन गिरी लिखते हैं— "देश की स्वतंत्रता जैसे बड़े राजनीतिक लक्ष्य के सामने गांधी जी के अछूतोद्धार जैसे सामाजिक लक्ष्य के महत्व को तत्कालीन नेतृत्व नहीं समझ रहा था, यही वजह थी कि अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अछूत-सवालियों पर प्रस्ताव पारित किया था, लेकिन इस प्रस्ताव के मद्देनजर सकारात्मक कदम नहीं उठाया। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा 'मेरी कहानी' में गांधी जी के अछूतोद्धार जैसे रचनात्मक आंदोलन की घोषणा के समय अपने विचारों को दर्ज किया है। इससे पता चलता है कि कांग्रेस में सक्रिय तत्कालीन नेतृत्वकारी तबके के साथ नेहरू जैसा बौद्धिक एवं प्रगतिशील व्यक्ति भी अछूतोद्धार आंदोलन का महत्व नहीं समझ पाया था।"<sup>41</sup> यदि नेहरू बौद्धिक और प्रगतिशील थे, तो निश्चित रूप से अछूतोद्धार आंदोलन के महत्व को समझ रहे थे। यहां बात समझ ना समझ की नहीं थी, जो मूल गंतव्य था वह वर्चस्ववाद की राजनीति को कायम रखने की थी। मनुष्य मनुष्य में भेदभाव बरकरार रखने की

थी, जो आज भी जारी है। बाबा साहेब द्वारा चलाये जा रहे सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों के दबाव में और प्रतिद्वंद्विता में गांधी जी ने 1932 में 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना किया। गांधी ने इस संगठन और अपनी पत्रिका 'हरिजन' के बैनरतले दलितों की स्थिति में सुधार और अस्पृश्यता निवारण के लिए अनेक कार्यक्रम चलाये। किन्तु गांधी के दलितोद्धार की सीमा यह थी कि वे अछूतोद्धार भारतीय जाति व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था को कायम रखते हुए ही करना चाहते थे। वर्णव्यवस्था को तोड़ने में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी। गांधी के अछूतोद्धार कार्यक्रम का कुछ लोग बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करते हैं कि गांधी ने अस्पृश्यता खत्म करने के लिए बड़ा काम किया। प्रश्न यह है कि क्या गांधी वर्णव्यवस्था के श्रेणीबद्ध ढांचे को तोड़ने के लिए आगे आये थे? क्या यह कार्यक्रम अछूतों को हिन्दू स्वामियों से मुक्ति दिलाने और सामाजिक-राजनीतिक समानता प्राप्त करवाने में सहायक सिद्ध हुआ? हरिजन सेवक संघ का उद्देश्य क्या था? इसकी गहराई को बाबासाहेब ने बहुत ही बारीकी से पकड़ा था। उन्होंने लिखा है— "हरिजन सेवक संघ' का कार्य अछूतों का उत्थान नहीं है। जैसा कि प्रत्येक स्वाभिमानी अछूत जानता है, उनका मुख्य उद्देश्य भारत को हिन्दुओं और हिन्दुत्व के लिए सुरक्षित रखना है। वे अछूतों की लड़ाई निश्चित रूप से नहीं लड़ रहे। इसके विपरीत 'हरिजन सेवक संघ' के माध्यम से शूद्र-अछूतों को शूद्र उपहार बांटकर उन्हें खरीद रहे हैं। उन्हें नकारा बना रहे हैं। अछूतों के विरोध को अशक्त कर रहे हैं, जिसके विषय में वे जानते हैं कि वे जाति प्रथा पंगु बना देंगे और भारत में वास्तविक लोकतंत्र स्थापित करेंगे। श्री गांधी हिन्दुत्व और हिन्दुओं को जीवंत रखना चाहते हैं। श्री गांधी अछूतों को हिन्दू ही रखना चाहते हैं। पर कैसा? एक सहचर के रूप में नहीं, पद-दलितों के रूप में। श्री गांधी अछूतों के प्रति दयालु नहीं है, बल्कि प्यार के भुलावे में वे उन्हें और हिन्दुओं से अलग तथा स्वतंत्र रहने के उनके आंदोलन को मटियामेट करना चाहते हैं। हरिजन सेवक संघ उनके इन हथकंडों में से एक है, जिससे उनका प्रपंच चल रहा है।"<sup>42</sup>

गांधी नहीं चाहते थे कि अछूत वर्ग अपना कोई स्वतंत्र निर्णय लेने में सक्षम बन सके। उसे वे हिन्दू संस्कृति के बधुंआ मजदूर बनाकर रखना चाहते थे, अर्थात् अछूत वर्ग को न हिन्दुओं के साथ रहने दिया जाएगा न अलग होने दिया



जायेगा। अछूतों का कोई स्वतंत्र अस्मिता बने, इसके खिलाफ थे गांधी। गांधी की मंशा यहां तक थी कि अछूत वर्ग मुसलमान या ईसाई बन जाए, लेकिन अलग अस्तित्व न बनकर उभरे। गांधी ने कहा था— “मुझे परेशानी नहीं होगी, यदि अस्पृश्य लोग इस्लाम या ईसाई धर्म में धर्मान्तरित हो जाते हैं। मैं उसे सहन कर लूंगा, लेकिन मैं यह सहन नहीं कर पाऊंगा कि हिन्दू धर्म को खतरा बनाते हुए देहातों में हिन्दुओं के दो भाग बन जाए।”<sup>43</sup> अन्ततः गांधी की चिंता हिन्दू धर्म को बचाए रखना और दलितों को गुलाम बनाए रखने की ही थी। वास्तविक रूप में उनका दलितों से और दलित समस्या से कोई खास सरोकार नहीं था। चूंकि अंग्रेजों की मदद और बाबासाहेब के व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रभावित होकर दलित लामबंद हो रहे थे तथा हिन्दू धर्म पर राजनीतिक धमक का धार्मिक खतरा बनते जा रहे थे। इसलिए गांधी ने ‘हरिजन सेवक संघ’ के द्वारा अछूतोंद्वारा को एक उपकरण के रूप में इस्तेमाल किया। वर्ण व्यवस्था को बनाए रखने के लिए जितना भी करना था, गांधी ने अपने जान की बाजी लगाकर किया, लेकिन उधर अछूतों की ओर डा. अम्बेडकर के रूप में दलितों की प्राथमिकता अस्पृश्यता को मिटाने की थी। दोनों के सामाजिक हित और प्राथमिकताएं अलग-अलग थी, जो बार-बार टकरा रही थी। गांधी राजनीतिक आजादी को महत्व दे रहे थे, जबकि डा. अम्बेडकर सामाजिक आजादी को। डा. बाबासाहेब अम्बेडकर का कहना था कि सामाजिक आजादी वालों को राजनीतिक आजादी खुद-ब-खुद मिल जायेगी। बाबासाहेब एक प्रश्न उठाते हैं कि आखिर इस देश को राजनीतिक गुलामी क्यों मिली? इसका एक मात्र कारण था सामाजिक गुलामी। भारतीय समाज में लोगों को सामाजिक आजादी प्राप्त नहीं थी, “यदि समाज एकजुट और मजबूत होता तो राजनीतिक आजादी एक बार राजनीतिक कारणों से हिलने पर पुनः प्राप्त कर ली जाती, लेकिन राजनीतिक गुलामी टिकाऊ इसलिए रही है क्योंकि सामाजिक गुलामी उससे ज्यादा टिकाऊ थी। सामाजिक गुलामी ने ही विदेशियों की राजनीतिक गुलामी को अर्थ और स्थायित्व दिया है। कहा जा सकता है कि हिन्दू समुदाय, धर्मशास्त्रों का हिन्दू रहते हुए, राजनीतिक रूप से गुलाम रहने के लिए बाध्य और अभिशप्त है। कोई अवतार या देवता या खुद भगवान भी इसे राजनीतिक गुलामी से आजाद नहीं कर सकते। इसकी बेड़ियां इसके धर्मशास्त्रों में

है। यह ऐसा बालक है, जो अपनी रस्सी में आप बंधा पड़ा रो रहा है। इसकी इस राजनीतिक परिणति का कोई निदान नहीं है, क्योंकि इसने अपने धर्म शास्त्रों को महान कहना नहीं छोड़ा है। इसके धर्मशास्त्र इसे मनुष्य नहीं रहने देते हैं।<sup>44</sup> जो धर्म मानव, मानव में भेद करे वो धर्म, धर्म कहलाने का हकदार नहीं। इसीलिए बाबासाहेब ने हिन्दू धर्म पर गहरी चोट किया है, क्योंकि हिन्दू धर्म शास्त्रों ने मनुष्यों के बीच खाई बनाने का काम किया है। गांधी अच्छे व्यक्ति हो सकते हैं, लेकिन अच्छे इंसान नहीं। अच्छे इंसान के जो मूल्य होते हैं, उसे हिन्दू धर्म कभी भी पनपने नहीं देते। कोई भी व्यक्ति तब तक अच्छा इंसान नहीं बन सकता, जब तक कि उसके सिर पर हिन्दू धर्म का भूत सवार है। यही काम गांधी नहीं कर सके, लेकिन बाबासाहेब 14 अक्टूबर 1956 को हिन्दू धर्म को तिलांजलि देकर बुद्ध धम्म को अपनाकर कर लिया था।

गांधी और अम्बेडकर की वैचारिक टकराहट से यह बात स्पष्ट हो जाता है कि डा. अम्बेडकर स्वयं दार्शनिक थे। उन्हें अपने मिशन की गहरी समझ थी। दार्शनिक का एक विशेष गुण होता है कि वह किसी भ्रम में नहीं जीता है। वह हर भ्रम का ऑपरेशन करता है और उसके परिणाम को सामने लाता है। इस दृष्टि से डा. अम्बेडकर देश के उन क्रांतिकारियों में सुमार हैं। जिन्होंने आधुनिक भारत में फूले के बाद बहुजनों में सामाजिक-सांस्कृतिक और शैक्षणिक क्रांति का बिगुल फूँका। वहीं गांधी जी अछूतों की समस्या को लेकर परंपरावादी तथा वर्ण आधारित व्यवस्था के पोषक विचार रखते थे। उन्होंने ब्राह्मणी संस्कृति और ब्राह्मणों को सर्वोपरि माना। 1934 के अपने पत्र 'हरिजन' के एक अंक में लिखा था—“हिन्दू धर्म में मनुष्यता का सबसे सुंदर फूल ब्राह्मण है। मैं ऐसी कोई बात नहीं होने देना चाहता, जिससे वह मुरझा जाए। यह मैं जानता हूँ कि वह अपनी रक्षा कर सकता है। अब्राह्मणों के सिर पर यह कलंक नहीं होना चाहिए कि उन्होंने फूल की सुगंध तथा ज्योति छीनने की चेष्टा की।<sup>45</sup> युक्त उदाहरण गांधी को बहुत बड़ा ब्राह्मण हितैषी सिद्ध करता है। वे ब्राह्मण को 'मनुष्यता का सबसे सुंदर फूल' फूल की सुगंध तथा ज्योति कहते हैं। यहां गांधी पूरी तरह से हिन्दू धर्म के गुलाम, ब्राह्मणों के प्रशंसक और मानसिक बीमार लगते हैं। सर्वविदित है कि ब्राह्मणों ने तैंतीस करोड़ देवता पैदा किया, भुखमरी, गरीबी, अशिक्षा को जन्म दिया। वर्णव्यवस्था,

जातिवाद और छुआछूत जैसी घृणित व्यवस्था को बनाया, बहुजनों को जानवर से बद्तर जीवन यापन करने के लिए मजबूर किया। स्त्रियों पर तमाम तरह की वर्जनाएँ थोपकर उन्हें मात्र भोग-विलास की वस्तु माना, ऐसे घाघ प्राणियों को गांधी ने ऐसी उपाधियों से नवाजा, यह पूर्णरूपेण असंगत है। डा. धर्मवीर अपने एक लेख 'महापुरुषों का बंटवारा में लिखते हैं'—“यूँ गांधी अच्छे व्यक्ति थे, लेकिन हिन्दू होने की वजह से पूरा इंसान बनने का मौका नहीं मिला। कोई द्विज हिन्दू दलितों के लिए अच्छा इंसान बनकर कभी पेश नहीं हो सकता। अच्छा इंसान होने के लिए उसे पहले हिन्दू होना छोड़ना पड़ता है, जो काम गांधी नहीं कर सके।”<sup>46</sup> ब्राह्मणों के चरित्र को उजागर करते हुए शान्ति स्वरूप बौद्धाचार्य लिखते हैं—“इसमें कोई संदेह नहीं कि ब्राह्मण बहुत बुद्धिमान प्राणी होता है। किन्तु दुःख इस बात की है कि उसने अपनी बुद्धि का उपयोग कभी भी सृजनात्मक कार्यों और कल्याणकारी कार्यों के लिए नहीं किया।”<sup>47</sup> बाबा साहब डा. अम्बेडकर लिखते हैं—“यदि आज भारत की अधिकांश जनसंख्या में लोग पौरुषहीन हैं, उनका मनोबल नष्ट हो गया है और अमानवीय हैं, तो उसका मुख्य कारण है— ब्राह्मणों की शूद्र-द्रोही नीति, जिसे वे युग-युगान्तर से अपनाते चले आ रहे हैं। कोई भी ऐसी सामाजिक कुरीति तथा सामाजिक कुप्रथा नहीं है जिस पर ब्राह्मणों की मुहर न लगी हो... स्त्रियों को जितने घोर कष्ट उठाने पड़े उनकी संसार के किसी अन्य भाग से तुलना नहीं की जा सकती। भारत में विधवाओं को सती होने के नाम पर जीवित आग में झोंक दिया जाता था। ब्राह्मणों ने सती प्रथा को पूर्ण समर्थन दिया। विधवा स्त्रियों को पुनर्विवाह करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। ब्राह्मणों ने इस आचरण को दृढ़ता से स्थापित किया। बालिकाओं का विवाह आठ वर्ष की अवस्था में पहले कर दिया जाता था और पति को अधिकार था कि किसी भी समय वह विवाह तोड़ सकता था।”<sup>48</sup> इस देश का पतन हुआ है तो सिर्फ और सिर्फ ब्राह्मणवादियों के कारण हुआ है और वह ब्राह्मणवादी किसी भी जाति, धर्म का हो सकता है। ब्राह्मणवाद से गांधी भी मुक्त नहीं हो पाये थे।

गांधी का अछूतोद्धार आंदोलन वर्णव्यवस्था का पोषक था, तोड़क नहीं। गांधी जी बार-बार जब इस बात पर जोर देते हैं कि अछूत गंदे रहते हैं। खाने-पीने की आदतें ठीक नहीं हैं, उनके अंदर गंदे संस्कार हैं, इसे छोड़ना

चाहिए। गांधी इसके मूल पहलू को एकदम अनदेखा कर देते हैं। वे यह नहीं चिन्हित करना चाहते हैं कि दलितों की ये पीड़ादायी परिस्थितियां किसके बदौलत हैं। कहीं भी उन्होंने वर्णव्यवस्था को इन समस्याओं के लिए दोषी नहीं ठहराया है, जबकि इन सारी आदतों का मूल वर्णव्यवस्था है। समाज में श्रेणीबद्ध व्यवस्था को बनाए रखने वाले लोग ही सारी समस्याओं की जड़ हैं।

ब्रिटिश उपनिवेशवादी साम्राज्य से छुटकारा पाने के लिए उस समय स्वराज आंदोलन बड़े जोर-शोर से चल रहा था, लेकिन उस आंदोलन में दलितों का हित कहीं नजर नहीं आ रहा था। बाबासाहेब इकलौते व्यक्ति थे जो अछूतों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। जो लोग स्वराज के नाम पर पूरे देश को एक सूत्र में बांधने की डींग हांक रहे थे, उसे बाबा साहब बहुत बारीकी से समझ चुके थे कि यह स्वराज किसका होगा? स्वराज का मतलब क्या है? बाबा साहब लिखते हैं— “भारत में आजादी का जो कोलाहल मचा है, उसमें यदि कोई हेतु है तो वह है अछूतों का हेतु। हिन्दुओं और मुसलमानों की लालसा स्वाधीनता की आकांक्षा नहीं है। यह तो सत्ता संघर्ष है, जिसे स्वतंत्रता बताया जा रहा है। इसी कारण मुझे इस बात पर आश्चर्य हो रहा है कि किसी दल अथवा किसी संगठन ने अपने आपको अछूतों के प्रति समर्पित नहीं किया। ... कांग्रेस जैसी आजादी चाहती है, यदि उसे वह मिल जाती है, तो इसमें कोई संदेह नहीं कि अछूतों का ठीक वही हाल होगा जो अतीत में होता रहा है।”<sup>49</sup> इसलिए बाबा साहब जातीय लड़ाई को स्वराज की लड़ाई से ज्यादा कठिन मानते हैं। वे लिखते हैं—“जाति मुख्य रूप से हिन्दुओं की श्वास है। किन्तु हिन्दुओं ने वायु को सब जगह दूषित बना दिया है, जिससे हर कोई— सिख, मुसलमान, ईसाई सभी पीड़ित हैं। अतः जाति विरोधी लड़ाई में सारा देश एक तरफ है, किन्तु जातिविरोधी लड़ाई सारे देश के विरुद्ध है। अतः वह स्वराज से अधिक महत्वपूर्ण है। स्वराज प्राप्ति का कोई महत्व नहीं है, यदि इसे सुरक्षित नहीं रखा जा सके।”<sup>50</sup>

डा. अम्बेडकर ने हिन्दुओं की दोहरी नीति और दलितों की सामाजिक-राजनीतिक स्थिति को देखते हुए दोहरे मत का अधिकार तथा अलग बस्ती की मांग किया। जब 20 अगस्त 1932 को कम्युनल अवार्ड की घोषणा हुई, जिसमें अछूतों के पृथक निर्वाचन को स्वीकार किया गया तथा आम चुनाव में वोट

देने एवं चुनाव लड़ने का अधिकार भी दिया गया था, तब गांधी जी इस खबर से विचलित हो उठे और ब्रिटिश प्रधानमंत्री को लिखे गए एक पत्र में 20 सितंबर 1932 से आमरण अनशन की धमकी दे डाली तथा अनशन शुरू भी कर दिया। उनकी संभावित मृत्यु के लिए बाबासाहेब को जिम्मेदार ठहराया जाने लगा तथा यह कहा गया कि वे ही गांधी जी के जीवन को बचा सकते हैं। इस पर डा. अम्बेडकर लिखते हैं— “यह अतिशयोक्ति नहीं है कि उस समय जितनी दुविधा में मैं था, उतना कोई अन्य नहीं। यह एक भिन्न स्थिति थी, जिसमें मुझे दो के बीच चुनाव करना था। एक में आम मानवता के हिस्से के रूप में गांधी जी को निश्चित मृत्यु से बचाना तथा दूसरा प्रधानमंत्री (ब्रिटिश) द्वारा अछूतों को दिए गये राजनैतिक अधिकारों की रक्षा। अतः मैंने मानवता की पुकार को सुना तथा कम्युनल अवार्ड में सुधार करने के लिए राजी होकर गांधी जी को मरने से बचा लिया।”<sup>51</sup> यह समझौता पूना पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध हुआ। समझौते में विभिन्न प्रान्तों में अछूतों के लिए सीटें केंद्रीय विधायिका में सुरक्षित सीटे, दलित शिक्षा के लिए अलग धन की व्यवस्था आदि बातें शामिल थी।<sup>52</sup>

गांधी के मंदिर प्रवेश आंदोलन पर डा. अम्बेडकर ने अछूतों को आगाह करते हुए लिखा—“अगर मंदिर प्रवेश की योजना अन्ततोगत्वा अछूतों को उनके कानूनी अधिकार से वंचित रखती है, तो यह आंदोलन न सिर्फ दैवी है, बल्कि सकारात्मक रूप से शरारतपूर्ण भी है। अतः सभी ईमानदार व्यक्तियों का यह कर्तव्य होगा कि वे अछूतों को यह चेतावनी दें कि गांधी से सावधान रहें।”<sup>53</sup> उन्होंने अछूतों को धार्मिक प्रवृत्तियों से सावधान करते हुए राजनैतिक अधिकारों के लिए लड़ने पर बल दिया। ‘अछूतों को तो दो बातें अपने दिमाग में अवश्य रखनी चाहिए। पहली, यह सोचना व्यर्थ है कि सामाजिक न्याय हिन्दू धर्म द्वारा लाई जाएगी, चाहे भले ही यह कार्य इस्लाम, ईसाई या बौद्ध धर्म द्वारा किया जा सकता हो। किन्तु हिन्दू धर्म अपने आप में अछूतों के लिए गैर बराबरी तथा अन्याय पर खड़ा है।’<sup>54</sup>

बाबासाहेब डा. अम्बेडकर हिन्दू धर्म के कट्टर आलोचक थे तथा अछूतों की दुर्दशा का कारण मानवकृत हिन्दू धर्म को मानते थे, जबकि गांधी जी का विचार बिल्कुल उल्टा एवं आधारहीन था। प्रसिद्ध दार्शनिक एवं चिंतक प्रो.

तुलसीराम लिखते हैं— गांधी छुआछूत को मानव की देन बताकर उसका विरोध करते थे, किन्तु जाति व्यवस्था को ईश्वरीय देन बताकर उसका समर्थन करते थे। डा. अम्बेडकर इन सभी को मानव (ब्राह्मण) की देन बताकर सबके विरुद्ध खड़े होते थे। डा. अम्बेडकर अकेले ऐसे नेता हैं, जो जनता में जीवित हैं। ब्रिटिश शासन को लेकर डा. अम्बेडकर को कुछ लोग आज तक देशद्रोही सिद्ध करने की कोशिश करते रहे हैं, किन्तु उनकी सबसे बड़ी यही विशेषता थी कि वे अपने सिद्धांतों के चलते हमेशा धारा के विरुद्ध खड़े रहे। अपने कर्मों के बारे में डा. अम्बेडकर यह कभी नहीं सोचते थे कि दूसरे लोग क्या कहेंगे। वे ब्रिटिश विरोधी आंदोलन में जाति व्यवस्था की समस्या को एक मूल मुद्दा बनाने का संघर्ष चला रहे थे, जिसे अन्य लोगों ने देशद्रोही कहा। वे इसी मुद्दे को लेकर साइमन कमीशन के पास गये थे, तो फिर देशद्रोही कहलाए, किन्तु अंग्रेजों के उसी साइमन कमीशन में कश्मीर के राजा हरिसिंह और पटियाला नरेश जैसे अन्य भारतीय स्वयं सदस्य थे, उन्हें कभी देशद्रोही नहीं कहा गया। उल्टे उन्हीं ब्रिटिश सेवकों के बेटे—पोते आज कांग्रेस के सम्मानित नेता हैं।<sup>55</sup> बाबासाहेब सवर्णों के आंख की किरकिरी इसलिए बन गये थे कि वे दलित हित की लड़ाई के साथ ही वर्णव्यवस्था की जड़ पर प्रहार कर रहे थे। तुलसीराम लिखते हैं— “डा. अम्बेडकर भारत की सदियों पुरानी गुलामी का कारण सीधे—सीधे जाति व्यवस्था को मानते थे। वहीं ब्रिटिश शासन में वे दलितों को दोहरी गुलामी का शिकार बताते थे। इस संदर्भ में उनका कहना था कि एक ओर दलित ब्रिटिश के गुलाम थे, दूसरी तरफ जाति व्यवस्था के इसी दोहरी गुलामी से मुक्ति दिलाने के सवाल पर डा. अम्बेडकर का गांधी तथा उनके समर्थकों से टकराव हुआ। परिणाम यह हुआ कि ‘अंग्रेज चले गये किन्तु डा. अम्बेडकर द्वारा जाति व्यवस्था से संबंधित उठाई गई समस्या कायम रही’।<sup>56</sup>

बाबासाहेब द्वारा ‘दोहरे मत का अधिकार’ को स्पष्ट करते हुए आगे लिखते हैं— “ब्रिटिश शासन के दौरान जातीय भेदभाव दूर करने की दिशा में डा. अम्बेडकर दलितों के लिए पृथक मतदान की मांग उठाकर एक क्रांतिकारी परिवर्तन लाना चाहते थे, क्योंकि इससे राजनीति में दलित समाज का सही प्रतिनिधित्व संभव था। इस संदर्भ में हैरत की बात यह थी कि गांधी पृथक

मतदान की मांग को सिक्खों, मुसलमानों, ईसाइयों सहित कुछ अन्य के लिए उचित मानते थे, किन्तु दलितों के लिए इनका प्रबल विरोध करते थे। गांधी जी का सबसे बड़ा तर्क था कि दलित हिन्दू के अभिन्न अंग हैं। गांधी जी के ये तर्क दलितों के लिए खतरनाक सिद्ध हुए। हिन्दू समाज उच्च वर्ग गांधी जी को भले ही अपना मसीहा समझे, किन्तु दलित समाज उन्हें हमेशा अपने हितों के विरुद्ध मानता है। यही कारण है कि जैसे-जैसे समय बीतता जा रहा है, दलित समाज में शैक्षिक जागरूकता बढ़ने के साथ-साथ सही और गलत के बीच फर्क करने में सक्षम होता जा रहा है। इसी प्रक्रिया के चलते गांधी और गांधीवाद दलितों के लिए अमान्य होता जा रहा है। वहीं डा. अम्बेडकर की प्रासंगिकता दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। सवर्ण समाज डा. अम्बेडकर को चाहे जितना भी गद्दार समझे, किन्तु जाति व्यवस्था उन्मूलन के लिए उनके संघर्ष को दलित कभी नहीं भूलेंगे।<sup>57</sup>

उस समय भी गांधी का विरोध अछूतों द्वारा हुआ था, लेकिन बड़ी चालाकी से इसे छिपा दिया गया और गांधी को दलितों का सच्चा हितैषी बताया जाता रहा। "गोलगेज सम्मेलन से जब 1931 में गांधी जी लौटकर मुंबई आए तो उनका कांग्रेसियों ने बहुत भव्य स्वागत किया। किन्तु जिस बात का कहीं उल्लेख नहीं किया जाता है, वह है हरिजनों द्वारा गांधी को दिखाए गए काले झण्डे की बात। डा. अम्बेडकर और देश के हरिजन उस समय गांधी जी की भूमिका से बहुत असंतुष्ट थे। इस संदर्भ में अछूतों ने उन्हें काले झण्डे दिखाए तो उपस्थिति कांग्रेसियों से उनकी भिड़ंत हो गई, जिसमें दोनों पक्ष में लगभग 40 लोग खून से लथ-पथ हो गये थे। पहली बार गांधी जी इस बात से अवगत हुए कि उन्हें भी काले झण्डे दिखाए जा सकते हैं।"<sup>58</sup>

गांधी न तो समाज सुधारक थे और न ही क्रांतिकारी, बल्कि वे बहुत ही चालाक राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ थे। उनकी 'हरिजन भक्ति' बाबासाहेब डा. अम्बेडकर के दलित आंदोलन की प्रतिक्रिया थी। अन्यथा वे तो वर्णव्यवस्था पोषक थे और वर्ण व्यवस्था को बनाए रखते हुए समाज सुधार करना चाहते थे। यद्यपि उन्होंने अंग्रेजों के नस्ल भेद का दंश झेला था फिर भी भारतीय सन्दर्भ में वे वर्ण व्यवस्था के मोह से मुक्त नहीं हो सके।

तत्कालीन समय में गांधी जी, डा. अम्बेडकर, और स्वतंत्रता आंदोलन से प्रेमचंद कैसे प्रभावित थे, इसे देखना जरूरी है। हिन्दी साहित्य के प्रगतिशील आंदोलन में प्रेमचंद की भूमिका क्या थी? किस तरह वे अन्य लेखकों से अलग थे? उनकी सीमा क्या थी? इसे समझे बिना प्रेमचंद और तत्कालीन परिस्थितियों को समझना मुश्किल है। हर व्यक्ति का अपना परिवेश होता है। व्यक्ति जिस परिवेश में पलता-बढ़ता है, उसकी विचारधारा भी वहीं से आकार-प्रकार ग्रहण करती है। जो जिस परिवेश में रहता है वह उस परिवेश में रहनेवाले समाज के क्रिया-कलाप के बारे में उतना ही गहराई से जानता है और उसे अभिव्यक्त करता है। भारतीय इतिहास में बहुत बड़ी विडंबना और समस्या रही है वर्ण व्यवस्था। इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप ही यथार्थ जानते हुए भी ठीक से उस यथार्थ की अभिव्यक्ति नहीं हो पाई, जिसकी दरकार थी। भारतीय जातिवादी व्यवस्था के इतिहास में एक ऐसे वर्ग की पीड़ा, संघर्ष, क्रिया-कलाप, कला, सौन्दर्य, वीरता, जीवनयापन हेतु जद्दोजहद अंकित नहीं है, जिसकी संख्या पिच्चासी प्रतिशत है। इसी घेरे में प्रगतिशील लेखनी भी आबद्ध है।

प्रगतिशील साहित्य में कई सारी प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं— नई कविता, प्रयोगवादी कविता, रहस्यवादी कविता और अस्तित्वादी कविता; ये कविताएं वास्तविक सामाजिक यथार्थ से कटी हुई नजर आती हैं। नई कविता में साहित्यकार लघुमानव की तलाश, अतृप्त प्रेम की कुण्ठा तो कहीं दुर्लबलताओं का चित्रण कर रहा है। प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रयोगवादी कविता आई। इसके पुरोधा अज्ञेय माने जाते हैं, जो अभिजात्य मूल्यों के रचनाकार थे। रहस्यवादी कविता कल्पना की अनुभूतियों की उपज है, जिसमें भौतिक संसार गौण है। अस्तित्वादी कविता पर सार्त्र के दर्शन का प्रभाव है। इस कविता का जन्म फ्रांस में सामंतवाद के पतन तथा पूंजीवाद के उदय के बाद हुआ। इसे आत्महन्तावादी कविता भी कहा जाता है, अर्थात् आत्महत्या के माध्यम से मृत्यु की सच्चाई का साक्षात्कार करना।

प्रगतिशील साहित्यकारों के यथार्थ अभिव्यक्ति में भी जाति का संघर्ष नहीं था, अमीर और गरीब, सामंत और किसान के संघर्ष थे। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि प्रगतिशील साहित्य वर्ग संघर्षों का साहित्य है। लेकिन यह बात



बिल्कुल सही है और सोलहों आना सही है कि जब देश में स्वतंत्रता का आंदोलन चल रहा था, अनेक हिन्दुत्व की रक्षावादी आंदोलन चल रहे थे, ऐसे समय में प्रेमचंद अपनी समसामायिक लेखकों से भिन्न दलित समस्या को साहित्य में लाने के लिए कटिबद्ध थे। कंवल भारती लिखते हैं— “साहित्य में प्रेमचंद एकमात्र ऐसे लेखक हैं जिनकी संवेदना ने भारतीय समाज में मौजूद दलित समस्या को स्पर्श किया।”<sup>59</sup> बाकी जितने लेखक थे, उन्होंने जातीय यथार्थ की उपेक्षा की। जबकि प्रेमचंद ने इसी कसौटी पर प्रगतिशील लेखक संघ की जरूरत समझी कि इसमें यथार्थ का चित्रण हो। रामविलास शर्मा लिखते हैं— “प्रेमचंद ने देश की किन्हीं खास परिस्थितियों में प्रगतिशील लेखकों का आंदोलन उपयोगी समझा था। यह सन 36 का जमाना था, जब कांग्रेसी नेता काले कानून के मातहत मंत्री मण्डल बनाने की तैयारी कर रहे थे, जब किसानों और मजदूरों के अपने संगठन अधिक सक्रिय रूप में आगे आ रहे थे, जब हिन्दी साहित्य छायावाद की देहरी पार करके एक नई मंजिल की तरफ कदम उठा रहा था।”<sup>60</sup> उस समय साहित्यकारों की कमी नहीं थी, लेकिन प्रेमचंद प्रगतिशील आंदोलन के माध्यम से उन लेखकों की जांच पड़ताल कर रहे थे कि कितने ऐसे साहित्यकार हैं जो यथार्थ के धरातल पर प्रगतिशीलता का परिचय देते हैं। प्रेमचंद ऐसे साहित्य का प्रसार चाहते हैं, जिसमें जीवन की सच्चाइयां प्रतिबिंबित हों। इसी आधार पर वे परंपरा से चली आ रही पुरानी साहित्यिक धारा को अलग करते हैं। वे उन कहानियों को खारिज करते हैं, जिसमें जादुई चमत्कार, तिलिस्म, भूत-प्रेत की कथाएं और प्रेम-वियोग के आख्यान शामिल थे। प्रेमचंद उन कविताओं का खण्डन करते हैं, जहां प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था। प्रेमचंद कहते हैं—“हमारे लिए कविताओं के वे भाव निरर्थक हैं, जिनसे संसार की नश्वरता का आधिपत्य हमारे हृदय पर और दृढ़ हो जाए, जिनसे हमारे हृदयों में नैराश्य छा जाए। वे प्रेम कहानियां, जिनसे मासिक पत्रों के पृष्ठ भरे रहते हैं। हमारे लिए अर्थहीन है, यदि वे हममें हरकत और गरमी पैदा नहीं करती।”<sup>61</sup> प्रेमचंद उन लोगों और साहित्यकारों पर व्यंग्य करते हैं, जिन्हें भौतिक दुनिया से कुछ लेना देना नहीं है, बल्कि अपने काल्पनिक दुनिया में ही रमे रहते हैं, जो उनकी अनुभूति की दुनिया है। ऐसे लोगों को यदि उनकी वास्तविक जिम्मेदारी का एहसास कराया जाए, तो उन्हें अच्छा नहीं लगता

है। “देश में लोग भूखों मरें, संसार में युद्ध की आग सुलगाई जाए, जनता पर दमन चक्र चले, जातियों की भाषा और संस्कृति को कुचला जाए, उसके शाश्वत सिद्धांतों को आंच नहीं आती। उनका सौन्दर्य—प्रेम ऐसा कमाल है, जिस पर जीवन का छींटा नहीं पड़ता और उसकी शाश्वत सुगन्ध से दिशाएं महका करती हैं। प्रेमचंद का सौंदर्य—प्रेमी साहित्यकार दूसरी तरह का है। “जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है— चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत या वकालत करना उसका फर्ज है।”<sup>62</sup>

प्रेमचंद का मानना था कि साहित्यकार को और वकिल को अपनी सत्यनिष्ठा से विचलित नहीं होना चाहिए। “अक्सर होता यह है कि यथार्थ जीवन का अनुभव पास न होने पर साहित्यकार वास्तविकता का ध्यान छोड़कर शब्दों की झड़ी लगाकर उत्युक्ति से जोश पैदा करने की कोशिश करता है। वह क्रांति की लपटों से दसों दिशाएं लाल कर देता है, भूकंप और प्रलय से धरती—आकाश एक कर देता है, उसके वर्णन से जनता की दशा का पता तो नहीं चलता, लेकिन अपने शब्द जाल से वह पाठक को यह विश्वास दिलाने की कोशिश करता है कि क्रांतिकारी यथार्थवाद यही है।”<sup>63</sup>

प्रेमचंद में यथार्थ और कल्पना की गहरी समझ दीखती हैं, लेकिन अपनी सम्पूर्ण लेखनी में वे खुद कहीं—कहीं उपरोक्त बातों का शिकार हो गये हैं। चाहे वह कफन कहानी हो या डा. अम्बेडकर और गांधी का आंदोलन। प्रेमचंद कुछ जगहों पर खुद बिचलित हो गये हैं। वे प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी साहित्यकार में भेद बताते हुए पहले कोटि के साहित्यकार के लिए कहते हैं— “उसका दर्द से भरा हृदय इसे सहन नहीं कर सकता कि एक समुदाय क्यों सामाजिक नियमों और रूढ़ियों के बंधन में पड़कर कष्ट भोगता रहे, क्यों न ऐसे सामान इकट्ठे किए जाएं कि वह गुलामी और गरीबी से छुटकारा पा जाए? वह इस वेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव करता है उतना ही उसकी रचना में जोर और सच्चाई पैदा होती है।” जो सज्जन साहित्यकार को स्वभावतः प्रगतिशील मानते हैं, अपने दिल पर हाथ रखकर देखें, सामाजिक अन्याय को देखकर कहीं उसमें गर्मी पैदा होती है, अपने अमल को देखकर सोंचे गुलामी और गरीबी से छुटकारा पाने के लिए वह कोई समान जुटा रहे हैं?”<sup>64</sup>

वस्तुतः प्रेमचंद प्रगतिशील साहित्य को स्वाधीनता और जनतंत्र का साहित्य मानते थे और अपनी रचनाओं का मुख्य ध्येय स्वाधीनता प्राप्त मानते थे। उनके अनुसार जनतंत्र ऐसा होना चाहिए “जिसमें शक्ति आम जनता के हाथ में हो। इसलिए उन्होंने किसानों की समस्या को इतने तीखे ढंग से उठाया था और किसानों की लड़ाई को स्वाधीनता आंदोलन का अभिन्न अंग बना दिया था।” “जिस नए साहित्य के सृजन और प्रचार के लिए प्रेमचंद आंदोलन कर रहे थे, वह एक विशेष युग की आवश्यकता की पूर्ति करने वाला साहित्य था। वह युग साम्राज्यवादी पराधीनता का युग था। किसानों की सामंती दासता का युग था, बड़े पूंजीपतियों और उनके प्रतिनिधियों की कूटनीति का युग था। इस युग में जनता को स्वाधीनता और जनतंत्र के लक्ष्य तक ले जाने वाले साहित्य का नाम विशिष्ट अर्थ में प्रतिशील साहित्य है।”<sup>65</sup>

यहां एक सवाल उठता है, वह यह कि क्या स्वाधीनता मिल जाने से भारतीय समाज में लोकतंत्र या जनतंत्र कायम हो जाता? निश्चित रूप से आजादी मिल जाने मात्र से लोकतंत्र कायम नहीं हो सकता था, क्योंकि भारतीय समाज में एक विकराल समस्या जाति-व्यवस्था की थी और आज भी है, जिसकी लड़ाई तत्कालीन समय में बाबासाहेब लड़ रहे थे। ऐसा लगता है प्रेमचंद के लिए भी जातीय समस्या और छुआछूत की समस्या सेकेन्द्री थी और राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राइमरी। यदि थोड़ी बारीकी से पूरे आंदोलन की जांच पड़ताल की जाए तो यही लक्ष्य उभरकर सामने आता है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता की लड़ाई मुख्य रूप से अंग्रेजों से भूमि छुड़ाने की थी न कि दलित पिछड़ों को आजाद करने से।

निर्विवाद रूप से इतना तो कहा जा सकता है कि प्रेमचंद अपने समकालीन लेखकों में सबसे ज्यादा प्रतिबद्ध और सामाजिक सरकारों से जुड़े साहित्यकार थे, लेकिन प्रेमचंद के बाद प्रगतिशील धारा आगे नहीं बढ़ी। इसके मूल में एक उत्तरदायी कारण था, वह यह कि जो प्रगतिशीलता की धारा चली, उसमें सभी लेखक अभिजात्य वर्ग से आते थे। इसलिए उनके लिए वर्ग और सम्प्रदाय तो महत्वपूर्ण बना, लेकिन जाति का प्रश्न एकदम छूट गया। प्रेमचंद जिस यथार्थ की बात कर रहे थे, वह यथार्थ प्रगतिशील धारा के साहित्यकारों में ठीक से आ नहीं पाया। कंवल भारती लिखते हैं— “प्रगतिशील धारा के ये सारे कवि समाज व्यवस्था

में सम्मानित वर्ग के हैं। सामाजिक अपमान की पीड़ा का वह यथार्थ, जिसे दलित जीता है, न उन्होंने देखा और न भोगा है। इसलिए उनकी अनुभूतियां नितांत वैयक्तिक हैं, जिसके कारण उनकी अभिव्यक्तियों में सारी खुराफातें हैं, पर वर्णव्यवस्था की सामाजिक सच्चाईयां नहीं हैं और जब यह यथार्थ ही नहीं है, तो नये समाज की परिकल्पना भी नहीं है। अनुभूति की जटिलता ऐसी कविताओं का खास गुण होता है। हिंदी कविता की इस जटिलता को यदि किसी ने तोड़ा है तो वह दलित कविता ही है।<sup>66</sup> कंवल भारती की टिप्पणी अक्षरसः सही है। किसी भी समाज, सभ्यता, संस्कृति की मूल्यांकन के लिए उस काल एवं समाज में हो रहे क्रिया-कलाप की वास्तविक जानकारी होनी चाहिए तभी हम सत्यता के करीब जा सकते हैं। अन्यथा यथार्थ की संकल्पना धरी की धरी रह जाती है और यही प्रगतिशील साहित्य के साथ भी हुआ। प्रगतिशील साहित्य के बरक्स दलित साहित्य को कंवल भारती ज्यादा यथार्थवादी मानते हैं और अनुभूति एवं स्वानुभूति के बीच स्पष्ट भेदक रेखा भी खींचते हैं। वे लिखते हैं— “हिंदी में सवर्णों का प्रगतिशील साहित्य 1936 में लिखा जाना शुरू होता है, वह भी मार्क्सवादी विचारधारा से। और हिंदी के सवर्णों ने इस विचारधारा को एक आदर्श के रूप में ही अपनाया था, लेकिन दलितों का साहित्य अपने जन्म से ही प्रगतिशील रहा है। हीराडोम और स्वामी अछूतानंद को मार्क्स की जरूरत नहीं पड़ी। उन्हें उनके यथार्थ ने ही प्रगतिशील बनाया। इसलिए अनुभूति की प्रमाणिकता और स्वानुभूति जैसे शब्द मूलतः दलित साहित्य के शब्द हैं, जो दलितों के यथार्थवादी सृजन से उपजे हैं।<sup>67</sup> अनुभूति और स्वानुभूति चाहे शब्द जिसके हों, लेकिन इतना जरूर है कि दलित साहित्य ने ही इन शब्दों को सही अर्थों में अर्थवान बनाया है, इसे हमें स्वीकार करना चाहिए। कविता के नये प्रतिमान में नामवर सिंह ने छायावाद की अनुभूति को ईमानदारी का इजहार कहा है। उनके अनुसार: “छायावादी स्वानुभूति ईमानदारी नहीं तो क्या थी? छायावादी कवि अपने समझ से आत्माभिव्यक्ति ही कर रहे थे। यदि आत्मकथा को अभिव्यक्ति का एक प्रमाण माना जाये तो हंस के आत्मकथांक के लिए प्रसाद ने कविता लिखकर अपनी आत्मकथा का संकेत दिया और निराला ने अपनी कन्या सरोज की मृत्यु पर ‘सरोज स्मृति’ शीर्षक शोकगीत में आत्मचरित का काफी उद्घाटन किया।<sup>68</sup> कंवल भारती का मानना है कि

‘प्रगतिशील साहित्य में प्रमाणिक अनुभूति और स्वानुभूति, जो ईमानदारी का इजहार है, वह सिर्फ आत्माभिव्यक्ति है। जैसे निराला ने अपनी पुत्री सरोज की मृत्यु से व्यथित होकर ‘सरोज-स्मृति’ शोकगीत की रचना किया। यह एक पिता द्वारा अनुभव किया हुआ दर्द है, जो सबके लिए उसी तरह न तो अनुभव होता है न उसके यथार्थ को समझा जा सकता है। आत्मकथा की कसौटी स्वानुभूति होती है, लेकिन यह स्वानुभूति जब नितांत वैयक्तिक हो जाती है, तो पूरे समाज द्वारा उसे स्वीकृति नहीं मिलती, जबकि यही स्वीकृति अनुभूति की प्रमाणिकता का मापदण्ड है। उस सम्बन्ध में वे दलित आत्मकथाओं को सामाजिक स्तर पर व्यापक स्वीकृति प्राप्त मानते हैं। दलित आत्मकथाओं में सारी स्थितियां लेखकों की अपनी भोगी हुई वैयक्तिक हैं, परंतु इन सारी स्थितियों में मौजूद यथार्थ वैयक्तिक नहीं, वह पूरे समाज का सच है। आगे वे कहते हैं कि—“ऐसा नहीं कि सिर्फ दलित साहित्य का यथार्थ ही प्रमाणिक है। यथार्थ वहां भी है जो स्वर्ग भोगता है। ब्राह्मण, ठाकुर और वैश्य तीनों की तिगड़ी कैसे सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करती है। उससे दलित का संघर्षमय जीवन कितना प्रभावित हो रहा है, ये सारी वास्तविकताएं सवर्ण समाज की हैं, लेकिन ये सारे यथार्थ सवर्ण लेखकों के साहित्य में यथार्थ बोध के रूप में नहीं है। सवर्ण लेखकों का रचनाकर्म पौराणिक है, जो लोकतांत्रिक मूल्यों के इस युग में खतरनाक आदर्श परोस रहा है। आदर्श सर्वथा खतरनाक नहीं होता है, यथार्थवादी लेखन में भी आदर्श होता है, ऐसा नहीं कि नहीं होता है। जैसे— जब कोई परंपरा में विश्वास रखने वाला कुछ रचता है तो उसके आदर्शवादी लेखन में ‘परंपरा का निर्वाह’ आदर्श होता है, लेकिन जब कोई लोकतांत्रिक मूल्यों में विश्वास रखने वाला कुछ लिखता है, तो उसके यथार्थवादी दलित लेखन में ‘परंपरा का विरोध’ आदर्श होता है। आदर्शों का यह टकराव ही सवर्ण और दलित लेखन का मुख्य द्वंद्व है।’

यथार्थ के धरातल पर देखा जाये, तो दलित आत्मकथाएं सर्वोच्च शिखर पर विराजमान हैं। यथार्थता के संबंध में स्मृतिशेष प्रो. तुलसीराम ने अपने एक साक्षात्कार में बहुत ही धारदार टिप्पणी की है— “दलित आत्मकथाओं के पैरलल गैर—दलित आत्मकथाओं का महत्व हो सकता है, बशर्ते गैर—दलित अपने जीवन

काल में दलितों के ऊपर कितने अत्याचार किये हैं, कितने शोषण किए हैं, उनका सही लेखा-जोखा और यथार्थ अपनी आत्मकथाओं में लिखें।<sup>69</sup> तुलसीराम ने यथार्थ की जिस बिंदु की तरफ इशारा किया है, वह सवर्ण साहित्यकारों में छायामात्र भी नहीं दिखता है। इसीलिए प्रगतिशील साहित्य में भी वैसा यथार्थ नहीं उभरकर सामने आता है, जैसा दलित विमर्श में आया है। दलित विमर्श के यथार्थ के सामने सवर्ण साहित्य का यथार्थ काल्पनिक लगता है। दलित साहित्य की यथार्थवादी भूमिका सवर्ण साहित्य में विद्यमान यथार्थ पर प्रश्न खड़ा कर रहा है। प्रगतिशील लेखन में निराला का भी महत्वपूर्ण स्थान बताया जाता है। उन्हें भी दलितों का हितैषी माना जाता है। उनके द्वारा दिए गए एक स्टेटमेंट को मुद्राराक्षस ने कोट किया है— “अंग्रेजों के शासन में यह कैसी न्याय प्रक्रिया है, जिसमें एक चाण्डाल और एक कुलीन ब्राह्मण एक ही तरह का न्याय पाये और एक ही जगह बैठकर शिक्षा पाये।”<sup>70</sup> निराला से मिलता-जुलता विचार (टिप्पणी) स्वामी विवेकानंद ने भी दिया है। ब्रिटिश राज के चलते अछूतों को अपने जीवन को बेहतर बनाने का बड़ा मौका मिला, जिसमें बाबासाहेब डा. अम्बेडकर और अन्य लोगों का काफी योगदान था। इस बेहतरी को द्विज समाज पचा नहीं पा रहा है। एस. के. विश्वास की अंग्रेजी में लिखी एक किताब है, जिसका नाम ‘हिन्दू राज: टूड़े-यस्टरडे-टुमारो’ है। इसमें विवेकानंद का विचार इस प्रकार है— “जब तक भारत का शासन ऐसे राजा द्वारा किया जाता रहेगा, जो (बुरे और अच्छे) कार्यों के लिए बिना उनके वर्णों और जातियों का अंतर किए समान दण्ड और पुरस्कार देता है, तब तक निम्न जातियों की प्रगति जारी रहेगी और वे जीवन के हर क्षेत्र में आगे निकल जायेंगी। आगे वे अपने धर्मावलंबियों को चेताते हैं— “...अब यूरोपियन लोग उन गंवारों और अनपढ़ निम्न जातियों को जो धोतियों को ऊपर सिकोड़े खेतों में काम करती हैं और अनार्य नस्ल की हैं। शिक्षा प्रदान कर रहे हैं। वे हमारी कुछ नहीं लगती। यह बात हमें कमजोर करती जा रही है तथा यूरोपियनों और निम्नजाति के लोगों को फायदा पहुंचा रही है।”<sup>71</sup> यदि यह मान भी लिय जाए कि निराला ने अपनी कविता ‘वह तोड़ती पत्थर इलाहाबाद के पथ पर’ और कहानी ‘चतुरी चमार’, उपन्यास ‘कुल्ली भाट’ जैसी रचनाएं देकर अपनी प्रगतिशीलता का परिचय देते हैं। लेकिन उतने से उनके जातिवादी चरित्र को भुलाया तो नहीं जा

सकता, जिसे उन्होंने उपरोक्त वक्तव्य में दिया है। इसलिए बिना किसी पूर्वाग्रह के रचनाकार की प्रतिबद्धता और सीमा का सही आकलन होना चाहिए।

प्रेमचंद भी इन चीजों से अछूते नहीं हैं। उनकी भी एक सीमा है, उस सीमा के भीतर ही वे प्रगतिशील हैं, बाहर नहीं। प्रेमचंद के समय में बाबासाहेब डॉ. अंबेडकर और गांधी, दोनों का आंदोलन समानांतर चल रहा था, लेकिन प्रेमचंद पूरी तरह से परंपरा का निर्वाह करते हुए गांधी के साथ खड़े दिखाई देते हैं।

प्रेमचंद परंपरा का निर्वाह करने में पहले आर्य समाजी थे। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपने एक साक्षात्कार में बताते हैं—“छायावाद पर यूरोप के रोमांटिक प्रभाव को देखा जा सकता है। निराला पर विवेकानंद और रामकृष्ण परमहंस का प्रभाव देखा जा सकता है। प्रेमचंद पर आर्य समाज का प्रभाव, गांधीवाद का प्रभाव देखा जा सकता है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद पर मार्क्स का प्रभाव देखा जा सकता है। जनवादी दौर की तमाम कहानियां वामपंथी प्रभाव से मुक्त नहीं हैं।”<sup>72</sup> ठीक इसी प्रकार प्रेमचंद के समय दबाव से या वर्णव्यवस्था के बोध से गांधीवादी हैं। 19 दिसंबर 1932 में ‘महानतप’ लेख प्रेमचंद द्वारा लिखा जाता है। जब यरवदा जेल में गांधी बाबासाहेब द्वारा उठाये गये मुद्दे (दोहरे मत का अधिकार) के खिलाफ अनशन पर बैठे थे। उस समय तक बाबासाहेब अपनी काबिलियत का झंडा गाड़ चुके थे। लेकिन प्रेमचंद अछूतहीत की रक्षा के लिए गांधी को सर्वेसर्वा घोषित करते हैं। वे लिखते हैं— “हम किसी ऐसे दूसरे व्यक्ति का नाम नहीं जानते, जिसने इस एकाग्रता, इस प्रेम और इस उत्साह से दलित समाज की सेवा की हो।” “हम स्वीकार करते हैं, शूद्रों के साथ हमने अन्याय किया है। हमने उन्हें जी भर कर रौंदा—कुचला—छला। इस अन्याय ने जिस हृदय को सबसे ज्यादा दुःखी किया है, वह तपस्वी का हृदय है, जिसने अपना जीवन दलित भाईयों की सेवा में ही व्यतीत किया।”<sup>73</sup> यहां प्रेमचंद न तो प्रगतिशील दिखते हैं न ही अछूत समस्या के पक्षधर, बल्कि पूरी तरह से वर्णवादी समाज व्यवस्था के हिमायती नजर आ रहे हैं। एक सवाल प्रेमचंदी प्रशंसकों से पूछा जाना चाहिए कि प्रेमचंद जिस प्रगतिशील विचारधारा को लेकर चले थे, क्या वह उसे खुद के जीवन में उतार पाये थे? यदि प्रेमचंद यथार्थ पर विश्वास करते थे तो होना यह चाहिए था कि वह

सच्चाई को भी लिखते, बाबासाहेब के आंदोलन की नोटिस लेते। ऐसा नहीं था कि प्रेमचंद बाबासाहेब डा. अम्बेडकर को नहीं जानते थे। राजा ढाले ने अपने निबंध 'प्रेमचंद और दलित साहित्य' में लिखते हैं— "हमें यह नहीं भूलना होगा कि प्रेमचंद शुरू से ही डा. अम्बेडकर और आंदोलन से परिचित थे।" उन्होंने 1933 में हंस के मुखपृष्ठ पर डा. अम्बेडकर की फोटो छापी थी। उसके नीचे उनकी विनम्रतापूर्ण टिप्पणी थी, "आपने अनेक कष्ट झेलकर तथा सतत् विद्वता से यह प्रमाणित कर दिया कि तथाकथित अछूतों को भगवान किन्हीं असमान्य तत्वों से नहीं बनाता। आप विश्वविख्यात महापुरुषों में से एक हैं।"<sup>74</sup> यदि हम राजा ढाले की बात को ही सही माने तो प्रेमचंद यथार्थ से आंखे चुराते हुए नजर आते हैं। अछूतोंद्वारा के लिए जितना संघर्षपूर्ण कार्य डा. अम्बेडकर ने किया है, उसका आज भी कोई विकल्प नहीं है। दलित हीत में बाबासाहेब के बरक्स गांधी कही नहीं ठहरते। इसलिए प्रेमचंद सवालों के घेरे में आते हैं और आने भी चाहिए। प्रेमचंद की गांधी भक्ति आगे और स्पष्ट हो जाती है— "दलितों के लिए अब मंदिर खुलते जा रहे हैं, कुओं पर भी वो रोक-टोक नहीं रही। कट्टरता बड़ा कष्ट साध्य रोग है, लेकिन लक्षण कह रहे हैं कि उसका आसन उखड़ गया है। पृथक निर्वाचन से इस स्वाभाविक क्रिया के मार्ग में ऐसी बाधा आ खड़ी हुई है, जो रोग और रोगी दोनों का ही अन्त कर देगी। इसी बाधा को हरने के लिए महात्मा जी अपने प्राणों की भेंट चढ़ाने जा रहे हैं।"<sup>75</sup>

जहां तक मंदिर खुलने का सवाल है तो गांधी का 'मंदिर प्रवेश आंदोलन' और बाबासाहेब का 'मंदिर प्रवेश आंदोलन' दोनों में वैचारिक दृष्टिकोण का बहुत फर्क था। बाबासाहेब का आंदोलन अछूतों के लिए अस्मिता और अधिकार का आंदोलन था, जबकि गांधी का मंदिर प्रवेश सिर्फ और सिर्फ हरिजनोद्धार का मसला था। दूसरी बात, प्रेमचंद पृथक मतदान को स्वाभाविक क्रिया में बाधा मानते हैं। कौन सी स्वाभाविक क्रिया? जाहिर है प्रेमचंद गांधी की तरह वर्णव्यवस्था की पारंपरिक स्वाभाविक क्रिया की बात कर रहे हैं, जो हजारों सालों से चली आ रही है, जिसमें एक वर्ग शोषण करता है, तो दूसरा शोषण का शिकार बनता है। सब जानते हैं कि पूना पैक्ट अछूतों के लिए 'काला दिवस' के रूप में सामने आया,



जिसके परिणाम स्वरूप आरक्षण थोपा गया और राजनीति में सही अनुपात में भागीदारी को खत्म किया गया। इसके लिए गांधी ने एड़ी-चोटी का दम लगा दिया था। उस गांधी की प्रेमचंद महिमा मण्डन करते नहीं अघाते हैं। मुद्राराक्षस कहते हैं—“प्रेमचंद साफ शब्दों में पूना पैक्ट को लेकर गांधी के समर्थक हैं। गांधी ने पूना पैक्ट के लिए अम्बेडकर को इसलिए मजबूर किया था कि हिन्दुत्व का बहुमत बना रहे। इस स्थिति को दलित ने कभी स्वीकार नहीं किया तथा पूना पैक्ट के समर्थक और पक्षधर प्रेमचंद को कैसे स्वीकार करेंगे? प्रेमचंद गांधी को सैकड़ों बार दिव्य महात्मा के रूप में याद करते हैं और अम्बेडकर का नाम भी नहीं लेते। भले प्रेमचंद बड़े कथाकार हों, पर इन विचारों के कारण इनकी निंदा तो होगी ही होगी।”<sup>76</sup> मुद्राराक्षस अपने एक साक्षात्कार में कहते हैं—“उन्हें संत के तौर पर उभारा गया, मगर उन्होंने भी इतिहास के साथ गद्दारी की। सवाल यह नहीं कि वे बकरी का दूध पीते थे या नीम की चटनी खाते थे। सवाल यह है कि उन्होंने देश के इतिहास के साथ क्या किया? उन्होंने सबके लिए अलग निर्वाचन की सिफारिश की, मगर दलितों के लिए नहीं, क्यों? क्योंकि वे अल्पसंख्यक हो जाते। सो उन्हें हिन्दुओं के साथ रखकर हिन्दुओं को बहुसंख्यक बनाया गया। ऐसा इसलिए भी किया गया ताकि उनका शोषण किया जा सके, और उन्हें लतियाया जा सके। प्रेमचंद और निराला भी गांधी के साथ खड़े हैं।”<sup>77</sup> प्रेमचंद भी जातीय मोह से उभर नहीं पाए हैं। इसलिए उनका यथार्थ आदर्शोन्मुखी यथार्थ है। यह आदर्श भारतीय समाज व्यवस्था के पारंपरिक वर्णव्यवस्था को बनाए रखने में है, तोड़ने में नहीं। तभी तो एक परंपरावादी दूसरे परंपरावादी के पक्ष में खड़ा होता है, जबकि पारंपरिक आदर्श व्यवस्था, बल्कि यून कहें कि ‘शोषणमूलक व्यवस्था’ को तोड़ने की समानान्तर धारा बाबासाहेब द्वारा चलाया जा रहा था, लेकिन प्रेमचंद उस ओर कोई ध्यान नहीं देते हैं। मुद्राराक्षस प्रेमचंद पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं—“आखिर प्रेमचंद को अम्बेडकर के ऐतिहासिक आंदोलन दलित के उत्थान के लिए चलाया गया वह लंबा संघर्ष क्यों नहीं दिखाई देता। यह हवाई बातें नहीं उनके निबंधों की सीधी व्याख्या है। हमारे नेता अम्बेडकर ने 25 दिसंबर 1927 को मनुस्मृति जलाई थी।”<sup>78</sup> यह तो एक ऐतिहासिक विरोध था, जिसका जिक्र कहीं भी प्रेमचंद नहीं करते हैं, जबकि गांधी द्वारा किये गये अनशन को

युगान्तकारी आंदोलन कहते हैं। गांधी दलितों का इतना बड़ा अहित कर गये, जिसकी भरपाई नहीं हो सकती है। आज भी उसका खामियाजा सबसे ज्यादा शिक्षण संस्थाओं में दलित छात्रों को भुगतना पड़ रहा है।

जहां तक स्वाधीनता आंदोलन का सवाल है, तो गांधी जिस निजी दर्शन पर राष्ट्रीय आंदोलन को टिका रहे थे, उस बुनियाद पर बाबासाहेब के बाद रवीन्द्रनाथ ठाकुर दूसरे व्यक्ति थे, जिन्होंने गांधी पर आलोचनात्मक टिप्पणी की। गांधी के असहयोग आंदोलन के परिणामस्वरूप 1920-21 में अंग्रेजों के खिलाफ जिस तरह का वातावरण बना था, रवीन्द्रनाथ टैगोर उससे बहुत खिन्न थे। ब्रिटिश राज्य के प्रति पूरे भारत में जो विरोधी ज्वार उमड़ा था, गांधी और कांग्रेस के इस राष्ट्रवाद को टैगोर ने आलोचनात्मक दृष्टि से देखा और कड़ी चुनौती देते हुए कहा— “अंग्रेज सिर्फ वो नहीं हैं, जो हिन्दुस्तान में शासक के रूप में हमें दिखाई दे रहे हैं। इंग्लैण्ड में अंग्रेज एक बड़ा समाज है, बड़े विभिन्न वर्ग हैं, उसमें शोषित उत्पीड़ित लोग भी हैं और हमारे जैसे कई मनुष्य भी हैं वहां, जो हिन्दुस्तान की आजादी के लिए वहां भी जुलूस निकालते हैं। आप अंग्रेजों के खिलाफ आंदोलन में घृणा ऐसी मत पैदा करें कि सारी अंग्रेज जाति ही हमें घृणित लगने लगे और हिन्दुस्तान की आजादी एक दौर की बात है, आजादी की लड़ाई। हिन्दुस्तान आजाद हो जाएगा, उसके बाद इंग्लैण्ड और सारी दुनिया से हमारे संबंध होंगे। तब हम कौन-सा दृष्टिकोण अपनायेंगे।”<sup>79</sup>

यहां तीन बिन्दुओं पर ध्यान देने की जरूरत है। पहला, रवीन्द्रनाथ टैगोर की मुख्य चिंता है अंग्रेजों से रिश्ता बनाये रखना। वो नहीं चाहते थे कि ब्रिटिशर्स से हमारे संबंध खराब हों क्योंकि आज भी और पहले भी वही लोग ज्यादा अमरिका और इंग्लैण्ड में रहते हैं, जिनके लिए समुद्र पार करना निसिद्ध था। टैगोर अपने तरह के वर्ग का हित अंग्रेजों से जोड़कर देखते हैं। इसीलिए वो गांधी को फटकार लगाते हैं कि आप अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह और घृणा मत फैलाओ। दूसरी, टैगोर के बातों से ऐसा लगता है कि गांधी असहयोग आंदोलन के माध्यम से अंग्रेजों के प्रति बेहद ही आक्रामक तरीके से विद्रोह भड़का रहे थे। इससे गांधी की अहिंसावादी नीति का पोल खुलता है। तीसरी, बहुत ही महत्वपूर्ण बात है वो

यह कि— जब टैगार गांधी जी को फटकार लगाते हुए अंग्रेजों के हिमायती बनते हैं, तो कोई उन्हें आक्षेप नहीं लगाता, जबकि डा. अम्बेडकर भारत देश में रहने वाले मजलूमों, कामागारों और अछूतों की लड़ाई लड़ते हैं। उस संघर्ष के सन्दर्भ में जब बाबासाहेब इस देश की संस्कृति, सभ्यता और वर्णव्यवस्था का कच्चा चिट्ठा अंग्रेजों के सामने खोलते हैं, तो इसी देश के लोग उन्हें देशद्रोही कहते हैं। क्या बाबासाहेब के देशहीन से ज्यादा महत्वपूर्ण विदेश संबंध बनाए रखना था? टैगोर को देशद्रोही क्यों नहीं कहा गया?

बाद में प्रेमचंद भी राष्ट्रवाद की वास्तविक सच्चाई को समझ गये थे। पहली बार कोई लेखक राष्ट्रवाद को आलोचनात्मक दृष्टि से देखता है, वह थे प्रेमचंद। एक लंबे सफर के बाद प्रेमचंद का मोह उस देशभक्ति से भंग होता है, जिसमें राष्ट्र का कोई आकार-प्रकार कुछ नहीं है, कोई ठोस समझ नहीं है। ये चीजे प्रेमचंद में लगभग एक दशक तक ज्यादा थीं, लेकिन 1917 में दो महत्वपूर्ण घटनाएं घटती हैं— एक गांधी के नेतृत्व में चम्पारन में किसानों का आंदोलन जो राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के लिए नई चीज थी, क्योंकि इसमें किसान आ गये थे। दूसरी उसी वर्ष नवंबर में रूस में हुई बोल्शेविक क्रांति। इन दोनों घटनाओं का देश-दुनिया पर विशेष प्रभाव पड़ा। इन घटनाओं ने भारत में चल रहे स्वंत्रता आंदोलन के चरित्र को बदल दिया तथा प्रेमचंद की देशभक्ति भरी भावुकता भी टूटी। अब प्रेमचंद राष्ट्रवाद के आंदोलन को वर्गीय दृष्टिकोण से देखना शुरू किए, जिसमें किसान केंद्र में था। 1921 में प्रेमचंद ने एक महत्वपूर्ण निबंध लिखा 'स्वाराज आंदोलन के रास्ते की रूकावटें' इसमें राष्ट्रीयता के प्रश्न को बखूबी उठाया गया है। जब असहयोग आंदोलन के द्वारा आंदोलन की ऊंची लहर उठी थी, देश की अधिकांश जनता उस लहर से सराबोर थी। उस समय प्रेमचंद ने आंदोलन का विश्लेषण किया कि कौन से लोग इस आंदोलन के साथ हैं? कौन से लोग इसके विरोधी हैं। विरोधी वर्ग में प्रेमचंद ने पाया कि शीर्ष उत्थान पर जमींदार वर्ग था, दूसरे पर पूंजीपति वर्ग, तीसरे पर सरकारी अफसर और चौथे पर बड़े-बड़े व्यापारी वर्ग था। इसी से प्रभावित होकर प्रेमचंद 1922 में 'चकमा' नामक कहानी लिखे थे, जिसमें दिखाया गया कि बड़े-बड़े लोग स्वतंत्रता आंदोलन के

पीछे कैसे चकमा दे रहे थे। उसी दौर में प्रेमचंद ने 'पुराना जमाना नया जमाना' एक लेख लिखा। उसमें उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के नेतृत्वकारी वर्ग की खूब खिंचाई की है— "हमारे स्वराज के नेताओं में वकील और जमींदार ही सबसे ज्यादा हैं, मगर कितने शर्म और अफसोस की बात है कि उन दोनों में से एक भी जनता का हमदर्द नहीं है। वे अपने ही स्वार्थ और प्रभुत्व की धुन में मस्त हैं। वे अधिकार और शासन की मांग करते हैं, धन और ऐश्वर्य—वैभव के इच्छुक हैं, जनता की भलाई के नहीं। आप स्वराज की हांक लगाइए, सेल्फ गवर्नमेंट की मांग कीजिए, जनता को इन चीजों से मतलब नहीं। वह आपकी मांगों में शरीक नहीं है। कोई कारण नहीं कि वह दूसरे देश के हाकिमों के मुकाबले में आपकी हुकुमत को ज्यादा पंसद करें। जनता को इन चीजों से मतलब नहीं।" उस समय कांग्रेस के अधिकतर नेता वकील और जमींदार थे। यहीं लोग गांव में किसान—मजदूरों का शोषण करते थे और शहर में छद्म आजादी की मांग करते थे, जिसमें कुछ भी निश्चित नहीं था, कि इस देश की जनता की भागीदारी कैसे सुनिश्चित की जाये। आजादी के बाद भी बर्चस्व उन्हीं का है जो पहले से तानाशाह रहे हैं। दलितों के साथ जो उनका अंतर्विरोध था, उसको बाबासाहेब बहुत ही बारीकी से समझ रहे थे। इसलिए उन्होंने देशहित की भावना से अछूतों की लड़ाई लड़ी। प्रेमचंद की एक जो विशेषता है वह निश्चितरूप से प्रगतिशील लेखक संघ के साहित्यकारों से उन्हे अलग करती है। वे पहले लेखक थे जिन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के चरित्र की आलोचना की और किसानों की दृष्टि से देखा। किसान के सवाल को लेकर गांधी और प्रेमचंद में थोड़ा मतभेद दिखता है।

जब अवध प्रांत के फैजाबाद में किसानों का आंदोलन चल रहा था तो वहीं 1921 में गांधी ने भाषण दिया था कि किसानों को जमींदारों से अभी नहीं लड़ना चाहिए। वो भी हमारे दोस्त हैं। अभी हमारी लड़ाई अंग्रेजों से है। यदि किसान और जमींदार आपस में लड़ने लगे तो हमारी लड़ाई कमजोर हो जायेगी। कैसे कमजोर हो जायेगी, यह गांधी जी बताने में असमर्थ थे। गांधी जी ने अपने भाषण में कहा था कि वे जमींदारों से न लड़े और यदि जमींदार उन पर अत्याचार करते हैं तो वे उसे सह लें और अगर फिर न सहा जाये तो पंडित मोतीलाल नेहरू से

बतायें। ये था गांधी का किसानों के लिए कार्यक्रम। उसी दौरान प्रेमचंद ने किसानों पर आधारित 'प्रेमाश्रम' उपन्यास और विध्वंस नामक कहानी लिखी, जिसमें किसानों और जमींदारों को प्रेमचंद ने आमने-सामने खड़ा किया है। लेकिन बाद के दिनों में प्रेमचंद गांधी के साथ खड़े हो जाते हैं। प्रेमचंद लिखते हैं— "हमारा किसान भाइयों से यही अनुरोध है कि वे महात्मा जी को सच्चा नेता मानें और उनके बताये हुए मार्ग से जौ भर भी विचलित न हों। गरीबों का महात्मा जी से बड़ा शुभचिंतक संसार में दूसरा नहीं है।"<sup>80</sup> इतना तो सही है कि प्रेमचंद किसानों के कुछ मुद्दों पर समयानुकूल गांधी से मतभिन्नता रखते थे, लेकिन बाद में फिर से असहाय दिखते हैं। कांग्रेसी नियंत्रण के अंदर ही अपने को पाते हैं। प्रेमचंद में कुछ अन्तर्विरोध और कमियां हैं किसान आंदोलन को लेकर भी, जिस पर फिर से विचार करने की जरूरत है। एक तरफ तो प्रेमचंद किसानों के सबसे बड़े पक्षधर बनते हैं। किसानों की समस्या को केंद्रिय समस्या मानते हैं। किसानों के प्रश्नों को लेकर ही राष्ट्रीय आंदोलन की जांच-पड़ताल करते हैं और उसके मसीहाओं की आलोचना करते हैं, लेकिन वही दूसरी ओर वे किसानों को उस वर्ग को मिटाने के लिए तैयार नहीं करते जो इनका खून जोक की तरह चूस रहा है। मुझे लगता है कांग्रेस की जो राजनीति थी कि 'कहीं देश में सामंतवाद और वर्चस्ववाद के विरुद्ध जंग न छिड़ जाये' यही मुख्य बिंदु था, जो प्रेमचंद को नियंत्रित करता था आगे बढ़ने से। क्योंकि बाद में प्रेमचंद जमींदारों का ही पक्ष लेते दिखाई देते हैं। वे लिखते हैं— "जमींदार में भी अच्छे व बुरे लोग हैं, अगर वे अपने आपको इतना कलंकित न कर लें कि उनका अस्तित्व ही दूसरों की आंखों में खटकता हो तो वह किसानों का मुखिया, नेता और रक्षक बना हुआ अनंतकाल तक जीवन का उपयोग कर सकता है। स्वराजकाल में यानी आजादी के बाद भी जमींदार रहेंगे, उनका आदर और सम्मान भी रहेगा। उनका रोबदाब भी रहेगा। हां, बेगार न रहेगी, नजराने न रहेंगे, अंधाधुंध लूट न रहेगी।"<sup>81</sup> कितना विरोधाभास है प्रेमचंद के इस लेख की अंश में। जमींदार भी रहेगा, रोबदाब भी रहेगा, उसका सम्मान भी रहेगा और अनंतकाल तक जीवन का उपयोग करेगा। यह कैसे संभव है कि बिना किसी को डराये-धमकाये रोबदाब कायम रहे, बिना किसी का हक मारे अनंतकाल तक जीवन को आनंदमयी बनाते रहेंगे, ये कुछ प्रश्न हैं, जिस पर फिर से सोचने

समझने की जरूरत है। कहीं न कहीं प्रेमचंद अप्रत्यक्ष ही सही, पर जमींदारी प्रथा या फ्यूडल मानसिकता के समर्थक हैं। उसके पीछे मुख्य रूप से दो बिंदु पर ध्यान देना पड़ेगा। एक तो अवध प्रांत के किसान और जगहों की अपेक्षा सीधे-साधे तथा गरीब थे। इसलिए इन पर अपना रोबदाब दिखाना आसान था। दूसरी बात ब्रिटिश शासन के आ जाने से लोग अपने पारंपरिक धंधे को छोड़कर जीविका के लिए नये रास्ते तलाशने लगे थे। यदि इन पर वर्चस्व नहीं बनाया जाता तो ये लामबंद होकर फ्यूडल सोसायटी और वर्णव्यस्था के प्रति विरोध कर देते हैं। इसलिए प्रेमचंद को कोई विकल्प खड़ा करना अच्छा नहीं लगता है और अंततः यथास्थिति को थोड़े से परिवर्तन के साथ बनाए रखना चाहते हैं। इस संदर्भ में (15 अक्टूबर 1973) में ए.के.एम. (शायद अक्षय कुमार मित्र जो हरिश्चंद्र मैगजीन के संरक्षकों में से एक थे) का एक लेख छपा 'दी प्रेजेंट स्टेट ऑफ दी मीडल क्लास मैन ऑफ दी नार्थ वैस्ट प्रोविंसेज'। इस लेख में बंगाल के किसान, शिक्षित मध्य वर्ग और अवध प्रांत के मध्य वर्ग का तुलनात्मक अध्ययन किया गया। इसके दो बिंदु अहम् हैं। पहला, ब्रिटिश राज्य में लोग अपना पुस्तैनी धंधा छोड़कर नये धंधे में आ रहे थे। दूसरा, बंगाली मध्य वर्ग और किसान की तुलना में पश्चिमोत्तर प्रांत के मध्य वर्ग की दशा बहुत ही दयनीय थी। दयनीय इस मामले में कि अवध के न सिर्फ मध्य वर्ग किसानों की बल्कि यहां के राजाओं और जमींदारों को भी किसी तरह के कानूनी दांव-पेंच की जानकारी नहीं थी। उन्हें यह पता नहीं था कि किस बिल का क्या प्रावधान है? उससे क्या हानि है, क्या लाभ है? इसके पीछे लेखक बहुत ही सटीक कारण जातीय भेदभाव बताया है। वे लिखते हैं— "इसकी एक अहम् वजह जातिभेद की प्रथा है, जो उन्हें सभ्यता के वरदान हासिल करने से रोकती है। चमार और तेली जाति के कुछ लोगों ने उन्नति करके अभिजात लोगों जैसी समृद्धि हासिल कर ली है, लेकिन इस प्रांत में जाति प्रथा का कड़ाई से पालन होने के कारण निम्न श्रेणियों से आए लोगों को मध्य वर्ग में शुमार किये जाने की उम्मीद फिलहाल नहीं दीखती। पश्चिमोत्तर प्रांत में उभर रहे इस शिक्षित मध्य वर्ग को समरूप बनाने वाले तत्त्व बहुत कम या कमजोर थे। यह मध्यवर्ग अपने परंपरागत पेशों और पुस्तैनी धंधों के लिहाज से तो बदला था, लेकिन अपने सामाजिक तौर-तरीकों और रीति-रिवाजों की दृष्टि से बिल्कुल नहीं बदला था,

जिसके कारण उसकी एक वर्गीय संस्कृति का विकास नहीं हो पा रहा था। कई खानों में बंटे मध्य वर्ग की यह बनावट इस तत्त्व को समझने में बहुत मदद करती है कि क्यों पश्चिमोत्तर प्रांत में एकजातीयता का सहज विकास नहीं हो पाया था और उसकी सामुदायिक चेतना के निर्माण के लिए धार्मिक प्रतीक आगे क्यों जरूरी बन गये। लेखक ने इस मध्य वर्ग की सबसे बड़ी विशेषता उसके धार्मिक और सांस्कृतिक दकियानूसीपन को बताया, जिसके कारण वह हर तरह के नवीनता का विरोध करता था। चाहे वह सामाजिक और नैतिक सुधार का मामला हो या कोई बौद्धिक प्रश्न हो।<sup>82</sup> भारतीय समाज व्यवस्था और राजनीति की बनावट एवं चारित्रिक विशेषताएं ऐसी हैं कि एक वर्ग को ऊंचा तथा दूसरे को नीचा बनाये रखना ही उसका उद्देश्य है। इसलिए प्रेमचंद भी परिस्थितिजन्य दबाव के कारण पारंपरिक आदर्श और नैतिकता के साथ खड़े दिखाई देते हैं।

तत्कालीन राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को अभिजनो ने दो भागों में बाँट दिया था— राजनीतिक आन्दोलन और सामाजिक आन्दोलन। बाबूराव बागुल के शब्दों में— “उन्होंने यह घोषणा कर दी कि जो लोग सामाजिक आन्दोलन चला रहे हैं तथा कृषि और उद्योगों को सैद्धांतिक संगठनीय आधार दे रहे हैं वे ब्रिटिश राज के समर्थक हैं तथा उनके पिढू हैं। ऐसे लोग राष्ट्र को धोखा दे रहे हैं। राष्ट्रवादी आन्दोलन इस प्रकार मिथकीय तथा पुरातन पूर्वजों की पूजा का आन्दोलन बन गया। ... जो लोग गैर-बराबरी को समर्थन देते थे और समाज को प्रजातांत्रिक नहीं बनने देना चाहते थे, उन्होंने मिथकों तथा पुराने इतिहास के पुराने सोपानों के तथ्यों को तोड़ना-मरोड़ना और पक्षपातपूर्ण तरीके से कहना प्रारंभ कर दिया। यह इसलिए भी हुआ कि इन मिथकों और इतिहास के पृष्ठों में वे विजेता और नायक थे।”<sup>83</sup>

लोकमान्य तिलक ने 1896-97 अकाल से प्रभावित गांवों में ‘पूना सार्वजनिक सभा’ की ओर से किसानों के कानूनी अधिकार के प्रचार के लिए अपने कार्यकर्ता भेजे थे पर वे और गोखले ने 1901 में साहूकारों के कर्ज को न चुकाने पर साहूकारों को बदले में भूमि हस्तांतरण न करने का जबर्दस्त विरोध किया था। जमींदारों के बचाव में तिलक ने कहा था—“जिस प्रकार सरकार को कोई

अधिकार नहीं है कि वह साहूकार के धन को लेकर किसानों में बाँट दे, ठीक उसी प्रकार सरकार को कोई अधिकार नहीं है कि वह 'खेत' को कानूनी आय से प्रतिबंधित करे और उसे किसानों में बाँट दे। यह प्रश्न आधिकारिक है, मानवता का नहीं।<sup>84</sup> जबकि बाबा साहब 1930 में कोंकण में जमींदार विरोधी संघर्ष का नेतृत्व कर रहे थे और तिलक जैसे दोहरे चरित्र वाले लोगों के विरुद्ध उनका मुकाबला था।

उस समय दलित आन्दोलन उभरने के चार महत्वपूर्ण कारण थे—

1. संगठनात्मक दृष्टि से और वित्तीय संसाधनों की दृष्टि से कमजोर ये आन्दोलन उसी समय उभर रहे थे जब गैर-ब्राह्मण श्रमिक वर्ग के आन्दोलन भी उभर रहे थे। दलित और मध्यम जातियां जनसमूह के रूप में लगभग एक ही समय में राजनीति में प्रवेश कर रही थीं। दोनों ही अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही थीं। इन आंदोलनों की प्रतिस्पर्धा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व तथा हिन्दू संगठन 'हिन्दू महासभा' के माध्यम से हो रही थी।
2. 1920 के दशक में दलित आन्दोलन को हिन्दुओं द्वारा अपने में सम्मिलित करने के प्रयास अनेक थे। सुधार की अपीलें, विभिन्न कांग्रेसी धड़ों, तिलकवादियों से लगाकर गांधीवादी तक, फुसलाने के प्रयास, विभिन्न अस्पृश्यता विरोधी कार्यक्रम, सभी के प्रयास का लक्ष्य इन आंदोलनों को हासिल करना था। अम्बेडकर इन प्रवृत्तियों से गंभीर रूप से लड़े और स्वतंत्र दलित आन्दोलन पर जोर देते रहे।
3. कांग्रेस के लिए एक राजनीतिक विकल्प को तैयार करने में, गैर-ब्राह्मणों के साथ गठबंधन में, (दलित बहुजन अथवा शूद्र-अतिशूद्र गठबंधन) किसान मजदूरों को संगठित करने में, जाती व्यवस्था को नष्ट करने में, केवल अम्बेडकर तथा ज्योतिबा फुले द्वारा स्थापित परंपरा का निर्वाह किया जा रहा था लेकिन 1930 के अंत तक उनकी राजनीतिक पैठ पराजित हो गई



थी। इस पराजय का कारण कुछ चीजों पर डॉ. अम्बेडकर के नियंत्रण का न होना था।

4. अम्बेडकर द्वारा 'गैर-आर्यवादिता' का विषय तथा दलित मूलनिवासी की अवधारणा को नकारना महत्वपूर्ण कारण था।

श्रमिक और किसान अपने नेतृत्व में इस बात पर दबाव डाल रहे थे कि आर्थिक शोषण को जाति से जोड़कर देखा जाए, क्योंकि बंबई के कपड़ा मिलों में बुनाई विभागों में दलितों का निष्कासन पूरी तरह जाति आधारित था, जो श्रमिकों में जातीय भेदभाव का बड़ा उदाहरण था।

1930 तक तीन बड़े अखिल भारतीय संगठन उभर चुके थे –

'डिप्रेसड क्लास एसोशिएशन' जो सबसे पहला दलित वर्ग संघ था, जिसकी स्थापना 1930 में बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने की थी और 1942 के बाद जिसे 'अनुसूचित जाति संघ' कहा गया (मराठी में इसे मात्र दलित संघ कहा गया)।

'डिप्रेसड क्लास लीग' की स्थापना 1936 में बाबू जगजीवन राम ने की थी। इनमें से कोई भी संस्था सक्रिय रूप से अखिल भारतीय स्तर पर कार्य नहीं करती थी। बाद में अखिल भारतीय स्तर पर 'अनुसूचित जाति संघ' बना। गेल ओमवेट के शब्दों में— "गांधीवादियों ने कभी भी व्यवस्था को शोषणवादी नहीं कहा, नही वे कभी जातिव्यवस्था के विरुद्ध बोले और न ही कभी जजमानी व्यवस्था में जाति कर्तव्यों की बाध्यता के बारे में कुछ भी कहा। 'हरिजन सेवक संघ' और इसी प्रकार के अन्य संगठनों का प्रयास उपर से नीचे तक मध्य वर्गों तथा ऊँची जाति के लोगों को पिछड़ों के लिए लामबंद करना था। स्पष्टतः वे उस संभाना को बंद कर रहे थे जिसके अंतर्गत दलित स्वयं अपने को संगठित कर सकें।"<sup>85</sup>

"'हरिजन आंदोलन' पूना समझौते के तुरन्त बाद प्रारंभ हुआ था और 1932 से 1936 के बीच इसने गति पकड़ ली थी। आंदोलन के मुख्य तीन आधार थे— पहला: नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान। (इसमें शिक्षा तथा न्यूनतम भौतिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति पर भी ध्यान दिया गया था।) दूसरा: कनूनी सुधार,

इसके अंतर्गत कुछ चयनित मंदिरों में हरिजन प्रवेश के लिए कानून बनाया गया था। तीसरा आधार: जो प्रायः साहित्य में नहीं दिखाई देता वह था राष्ट्रवादी अम्बेडकर विरोधी दलित संगठन को प्रोत्साहन देना। वह था 'अखिल भारतीय दलित जाति संघ'(All India Depressed Classes League) संगठन का जन्म 16-17 मार्च 1935 को कानपुर में हुआ था। 1937 में 'भारत खेत मजदूर सभा' संगठित की गयी। दोनों संगठनों का नेतृत्व जगजीवन राम कर रहे थे।<sup>86</sup>

19वीं सदी में भी नवजागरण के लिए जितने आंदोलन चल रहे थे, सब किसी न किसी रूप में धर्म को बचाये रखने की वकालत कर रहे थे। कोई बहुदेववाद को खंडित कर एक देववाद का मंडन कर रहा था तो कोई स्त्रियों संबंधी समस्याओं को लेकर सतही सुधार की कोशिश में लगा था। मूलरूप से जो जमीनी कार्य होने चाहिए थे वे नहीं हुए। एक दो लोगों ने अन्तरजातीय और विधवा विवाह करने की कोशिश की तो उनकी बहुत निंदा हुई और मुकम्मल सुधार न हो सका। इस तरह से सामाजिक आंदोलन की जगह धार्मिक आंदोलन ही चला। एक बहुत महत्वपूर्ण बात जो उठनी चाहिए थी, वो था सामाजिक सुधार-अस्पृश्यता का सवाल, जिस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया, सिवाय कुछ लोगों के। जिस तरह से फुले दंपति स्त्री शिक्षा, अस्पृश्यता और धार्मिक पोगापंथी के सवाल को लेकर आये थे उसकी कोई नोटिस नहीं ली गयी। बाद में बाबासाहेब संपूर्ण सामाजिक मुद्दे (अस्पृश्यता के प्रश्न, स्त्री प्रश्न, धार्मिक एवं सभ्यता का प्रश्न, भूमि सुधार का प्रश्न, समान अधिकार का प्रश्न इत्यादि) को लेकर बहुत ही पुरजोर ढंग से न सिर्फ राष्ट्रपटल पर, बल्कि विश्व पटल पर भी संघर्षरत दिखाई देते हैं। गांधी परंपरावादी मान्यताओं और रूढ़ियों के आधार पर एवं आदर्शात्मक समाज की व्याख्या करके सामाजिक नियम निर्धारित करना चाहते थे, जिसके मूल में रामराज की संकल्पना थी। वहीं डा. बाबासाहेब अम्बेडकर का दृष्टिकोण समाजशास्त्री, वैज्ञानिक और तर्कधारित था। वे संविधान के अनुकूल समाज के नियम, आचार, क्रिया-कलाप निर्धारित करना चाहते थे, जिसके मूल में भारतीय लोकतांत्रिक गणराज्य की संकल्पना थी। बाबासाहेब गांधी से अधिक आधुनिक और समतावादी थे। अंततः 26 जनवरी 1950 को जब भारतीय संविधान

लागू हुआ तो डा. अम्बेडकर की जीत हुई। पूरे भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था लागू हुआ और गांधी की रामराज की संकल्पना धारासाई हुई। गांधी और अम्बेडकर की सामाजिक एवं संवैधानिक योग्यताओं की तुलना करते हुए सरोजनी नायडू ने कहा था कि “गांधी अम्बेडकर की संवैधानिक योग्यताओं की तुलना में तुच्छ थे।”

बाबा साहेब का जोर इस बात पर था कि दलितों को राजनीतिक अधिकार मिलने चाहिए, जबकि गाँधी का जोर सुधार और दलितों को सुरक्षा मुहैया कराने से था। इस तरह अम्बेडकर देश के उन महान क्रांतिकारियों में थे जिन्होंने आधुनिक भारत में फुले के बाद दलित-पिछड़ों में सामाजिक सांस्कृतिक, शैक्षिक एवं राजनीतिक क्रांति का बिगुल फूँका, आज भी समता, स्वतंत्रता और बन्धुता में विश्वास रखने वाले लोग बाबासाहेब के सपनों का भारत बनाने के लिए संघर्षरत हैं।

इसमें कोई दो राय नहीं है कि प्रेमचंद अपने समकालीन साहित्यकारों में पहले साहित्यकार थे, जो देशभक्ति से ऊपर उठकर राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन को एक खास नजरिये से देख रहे थे। जो वर्ग स्वाधीनता आंदोलन का नेतृत्व कर रहा था, वह वर्ग पहली बार प्रेमचंद की आलोचना का शिकार हुआ। प्रेमचंद जब नेताओं की आलोचना करते हैं या छद्मवेशी लोगों द्वारा स्वराज आंदोलन के नेतृत्वकर्ताओं पर लिखते हैं तो उनकी प्रभावपूर्ण आलोचनात्मक क्षमता दिखाई देती है और वे प्रगतिशील लगते हैं। जहां उन्हें जमींदार की खिंचाई करनी है किया है, हिन्दू धर्म पर कुछ टिप्पणियां करनी है किया है, लेकिन जैसे ही वर्ण की बात आती है, वे अपनी बनी बनाई परिधि से बाहर नहीं निकल पाते हैं। प्रगतिशील आंदोलन के साहित्य में भी हम देखते हैं कि वर्णव्यवस्था विरोधी या जाति तोड़ने का संघर्ष नहीं दीखता है। वह आंदोलन अमीर-गरीब सामंत और किसानों का संघर्ष था। कंवल भारती के शब्दों में—“प्रगतिशील साहित्य इसी वर्ग-संघर्ष का साहित्य है।” हां इतना जरूर है कि प्रेमचंद इस साहित्य के एकमात्र ऐसे लेखक थे, जिन्होंने भारतीय समाज में मौजूद वर्णवादी-व्यवस्था की मार झेल रहे अछूतों की समस्या को साहित्य में लाने का प्रयास किया।

## संदर्भ-सूची

- 1 प्रेमचन्द और दलित विमर्श-संपादक, अनिल कुमार, एस. एस. गौतम, पृ.34
- 2 प्रेमचंद और उनका युग, डा. रामविलास शर्मा, पृ..20
- 3 प्रेमचंद का कथा साहित्य और दलित विमर्श (पीएचडी-थीसिस)-डा. राम चंद्र पृ..45
- 4 प्रेमचंद और उनका युग, पृ..22
- 5 वही.
- 6 प्रेमचन्द दलित एवं स्त्री विषयक विचार-संपादक: रविन्द्र कालिया, जितेन्द्र श्रीवास्तव पृ. 11 (भूमिका से)
- 7 प्रेमचंद और उनका युग-रामविलास शर्मा, पृ..74
- 8 प्रेमचंद और दलित विमर्श, पृ..36-37
- 9 प्रेमचंद और उनका युग, पृ..97
- 10 प्रेमचंद: दलित एवं स्त्री विषयक विचार, पृ.12 (भूमिका से)
- 11 दलित समुदाय और सामाजिक परिवर्तन: डा. विवेक कुमार, हंस, अगस्त, 2004, पृ.125
- 12 रस्साकशी-वीरभारत, तलवार-पृ..170
- 13 वही, पृ.125
- 14 अम्बेडकर जयन्ती और हम- बी.आर. सांपला, पृ. 82
- 15 वहीं, पृ. 82
- 16 रस्साकशी-वीरभारत तलवार, पृ.125
- 17 वही पृ. 126
- 18 वहीं, पृ..121
- 19 वही, पृ..123
- 20 वही, पृ..135
- 21 वही, पृ..142
- 22 प्रताप नारायण मिश्र ग्रंथावली, सं.: विजय शंकर मल्ल, ना. प्रा. सभा, 1992 वाराणसी
- 23 बाबा साहब डा. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांग्मय, खण्ड-2, भारत में जातिप्रथा एवं जातिप्रथा उन्मूलन भाषायी प्रांतों पर विचार, रानाडे, गांधी और जिन्ना, पृ. 61-62
- 24 अपनी रचनाओं में बाबासाहेब डा. अम्बेडकर पन्द्रह खण्डों की विशेष समीक्षा-डा. तुलसी राम, बहुजन वैचारिकी पत्रिका सं.-धर्मवीर यादव 'गगन' पृ.39/24-(बाबा साहब डा. अम्बेडकर, सम्पूर्ण वांग्मय खण्ड-2 पृ..161)
- 25 प्रताप नारायण मिश्र ग्रंथावली पृ..285-86
- 26 रस्साकशी, पृ.173
- 27 हिन्दी प्रदीप, जुलाई-अगस्त, 1895
- 28 रस्साकशी, पृ..201
- 29 वही पृ..208
- 30 वहीं पृ.211

- 31 वहीं पृ.216
- 32 बाबासाहेब डॉ. अंबेडकर: संपूर्ण वांगमय खण्ड 1, पृ.261
- 33 रोजालिंद ओहॉन लेन, ए कम्पैरिजन बिटविन वुमेन एण्ड मेन : ताराबाई शिंदे एण्ड दी क्रिटीक ऑफ जेंडर रिलेशंस इन कॉलोनियन इंडिया, ओ.यू.पी. 1994 मद्रास भूमिका पृ.19
- 34 विवेकानंद: सुमित सरकार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली पृ.99
- 35 दलित साहित्य का आंदोलन और हिंदी क्षेत्र—शिवकुमार मिश्रा, नयापथ अंक—24—25, 1997, पृ.96
- 36 दलित साहित्य का समाजशास्त्र: हरिनारायण ठाकुर, पृ. 250
- 37 वहीं पृ.251
- 38 रस्साकशी उन्नीसवी सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रान्त पृ.120
- 39 डा. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांगमय खण्ड—1 भारत में जातिप्रथा और जातिप्रथा उन्मूलन रानाडे, गांधी और जिन्ना, पृ.264
- 40 वहीं पृ.265
- 41 घास वाली प्रेमचंद की दलित जीवन से जुड़ी कहानियां, संकलन व संपादन राजीव रंजन गिरि, (प्रस्तावना) पृ.8—9
- 42 बाबा साहेब डा. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांगमय खण्ड—17, गांधी एवं अछूतों का उद्धार—डा. बीआर अम्बेडकर, पृ.34
- 43 दलित प्रसंग—संपादक: प्रणव बन्धोपाध्याय, पृ.52
- 44 वहीं पृ.53
- 45 वहीं पृ.53
- 46 दलित प्रसंग संपादक—प्रणव बंधोपाध्याय, पृ.53
- 47 गुरु रविदास की हत्या के प्रमाणिक दस्तावेज— सतनाम सिंह, पृ.17
- 48 बाबा साहेब डा. अम्बेडकर सम्पूर्ण वांगमय, खण्ड—17, पृ.65—66
- 49 वहीं पृ.3—4
- 50 डा. बी.आर. अम्बेडकर राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज (एजुकेशन डिपार्टमेंट गवर्नमेंट ऑफ महाराष्ट्र) 1979, वाल्यूम 1 पृ.—80, प्रो. तुलसीदास के लेख (अपनी रचनाओं में बाबा साहेब डा. अम्बेडकर पन्द्रह खण्डों की विशेष समीक्षा) से उद्धृत पत्रिका बहुजन वैचारिकी पृ.39
- 51 वहीं, पृ. 341/वहीं पृ.43
- 52 वहीं पृ.—341—42/वही पृ.43
- 53 वही पृ. 395/वही पृ.43—44
- 54 वहीं पृ.—398/वही पृ.44
- 55 'इतिहास के आइने में बाबासाहेब' लेख: प्रो. तुलसीराम, बहुजन वैचारिकी प्रवेशांक, विशेषांक—तुलसीराम जनवरी 2016 संपादक धर्मवीर यादव 'गगन' पृ.35
- 56 वही, पृ.36
- 57 वही पृ.वही

- 58 डा. बी.आर. अम्बेडकर राइटिंग्स एंड स्पीचेज (एजुकेशन डिपार्टमेंट गवर्नमेंट ऑफ महाराष्ट्र) 1975, वाल्यूम 1 पृ.-292 बहुजन वैचारिकी पृ..43
- 59 दलित साहित्य की अवधारणा: कंवल भारती, पृ..73
- 60 प्रेमचंद और उनका युग: डा. रामविलास शर्मा, पृ.135
- 61 वही. पृ..139
- 62 वही. पृ.137
- 63 वही.
- 64 वही. पृ..139
- 65 वही. पृ.141-142
- 66 दलित साहित्य की अवधारणा: कंवल भारती, पृ..75
- 67 वही पृ..75
- 68 वही, पृ..75-76
- 69 'दलित साहित्य में सामाजिक न्याय के सवाल' तुलसी राम से मुन्नी भारती की बातचीत पर आधारित साक्षात्कार, बहुजन वैचारिकी पत्रिका पृ..216
- 70 प्रेमचंद और दलित विमर्श: संपादक अनिल कुमार और एस. एस. गौतम पृ..50
- 71 प्रेमचंद: सामन्त का मुंशी: डा. धर्मवीर, पृ..15
- 72 दलित साहित्य की विकास यात्रा ओमप्रकाश वाल्मीकि के साक्षात्कार डा. राम चंद्र, पृ..146
- 73 प्रेमचंद दलित एवं स्त्री विषयक विचार: संपादक-रवीन्द्र कालिया जीतेन्द्र श्रीवास्तव, प्र.-32
- 74 वही. पृ..16
- 75 वही. पृ..34
- 76 वही. पृ..51
- 77 वही. पृ..21
- 78 वही. पृ..49
- 79 राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद
- 80 वही.
- 81 वही.
- 82 रस्साकशी: वीरभारत तलवार, पृ. 123
- 83 दलित और प्रजातांत्रिक क्रांति: उपनिवेशीय भारत में डा. अंबेडकर एवं दलित आंदोलन-गेल ओमवेट, पृ..83
- 84 वही, पृ..85
- 85 वही, पृ..259
- 86 वही, पृ..255

## तीसरा अध्याय

### ओमप्रकाश वाल्मीकि का व्यक्तित्व—कृतित्व एवं समकालीन परिवेश

ओमप्रकाश वाल्मीकि का जीवन संघर्ष ही उनका रचना—संसार है। जिस परिवेश में उनके व्यक्तित्व का विकास हुआ वही उनके कृतित्व में प्रतिबिंबित है। जब उनके पिताजी वाल्मीकि जी के नामांकन के लिए विद्यालय में जाते हैं। वहीं उस बालक का पहला सामना भारतीय वर्ण—व्यवस्था से होता है, जो उसके बालमन पर बहुत गहरे उतर जाता है। कहने को तो देश आजाद हो गया था लेकिन उस समय भी दलितों के बच्चों का स्कूल में दाखिला लेना पत्थर पर लकीर खींचने के समान था। ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं— “मेरे दाखिले के वक्त गिड़गिड़ाते पिता का चेहरा आज भी मेरी आँखों में किरकिराता है। और यातना भरे सफर और संघर्ष में यही मेरी ताकत भी बनता है। यह वह दौर था, जब भारत नया—नया स्वतंत्र हुआ था। लेकिन स्कूल—कालेजों में किसी दलित के लिए प्रवेश पाना आसमान से तारे तोड़ लेने के समान था... नई—नई आज़ादी मिली थी, नया संविधान बना था। जिसमें सबको समान अधिकार देने की बात कही गई थी लेकिन हिन्दुत्व की सनातनी मान्यताओं के सामने संविधान की धाराएँ बौनी थीं। पिताजी के उस जज्बे को समझने की उस वक्त मेरी उम्र नहीं थी, लेकिन एक बार जब स्कूल की टाट—पट्टी के सबसे किनारे पर, जो मेरे बैठने से पहले ही खत्म हो जाती थी, बैठकर अक्षर पहचानने का जो सिलसिला शुरू हुआ, तो वह चिंगारी बनकर अँधेरे में जुगनू की तरह चमकने लगा था। और वही चमक मेरे भीतर आग में तब्दील हो गई थी। जिसकी तपिश ने मेरे वजूद को ही बदल दिया तो उस वक्त पिताजी का वह जज़्बा ठीक से समझ में आने लगा था।”<sup>1</sup>

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने रचनात्मक सृजन—शक्ति अपनी माँ द्वारा रात में सुनाई हुई धारावाहिक रूप में लम्बी—लम्बी कहानियों से ग्रहण किया था। छठी कक्षा में आते—आते उन्होंने अपनी माँ को रामायण, महाभारत, सुखसागर, प्रेमसागर आल्हा—ऊदल, तोता—मैना के किस्से के साथ ही साथ प्रेमचंद की

कहानियाँ, उपन्यास, शरतचन्द्र के साहित्य इत्यादि को सुना डाला था। वे लिखते हैं— “शरतचन्द्र के पात्रों के दुःख में मैं और मेरी माँ दोनों सुबकने लगते थे। शरतचन्द्र की बात ही कुछ ऐसी थी कि उन पात्रों का सुख—दुःख अपना लगने लगता था। इसी तरह प्रेमचंद की कहानियों के किसान मजदूर और उनका जीवन एक नई दुनिया सामने ला रहा था, जिसे मैं करीब से महसूस करने की कोशिश कर रहा था।”<sup>2</sup>

सुप्रसिद्ध लेखक एवं कवि ओमप्रकाश वाल्मीकि का जन्म 30 जून 1950 को बरला जनपद, जिला मुजफ्फरनगर, उत्तर प्रदेश के एक संयुक्त भारतीय परिवार में हुआ था। इनके परिवार में परदादा, दादा, पिता जी, चाचा सभी एक साथ रहते थे। इनके परदादा का नाम जहिरया था, जिनके दो पुत्र थे। बड़े का नाम बुद्ध था, जिसे सब बुद्धू कहते थे, छोटे का नाम कुंदन था। बुद्ध के भी दो लड़के थे, बड़े का नाम सुगनचन्द्र और छोटे का नाम छोटे लाल था। छोटे लाल के पाँच लड़के और दो लड़कियाँ थीं। वाल्मीकि उनकी पाँचवीं और सबसे छोटी संतान थे।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की प्रारंभिक शिक्षा पैतृक गाँव बरला में ही हुई थी। उन दिनों गाँवों में नये-नये स्कूल खुल रहे थे, शिक्षा के प्रचार-प्रसार की चेष्टा की जा रही थी किन्तु दलितों के लिए उनकी अस्पृश्यता के कारण स्कूलों में पढ़ना आसान न था। वाल्मीकि को प्रारंभिक अक्षर ज्ञान दलित मुहल्ले में एक व्यक्ति के निजी प्रयास से खुले स्कूल से शुरू हुआ। सेवकराम मसीही नामक व्यक्ति दलित बच्चों को पढ़ाने के लिए खुले आसमान के नीचे आकर बैठता था, जहाँ दलितों के बच्चे आकर पढ़ते थे। एक दिन किसी बात को लेकर रामसेवक मसीही से वाल्मीकि के पिता का झगड़ा हो गया और मास्टर ने उन्हें पढ़ाने से मना कर दिया किन्तु बुद्धिजीवी पिता ने हार नहीं मानी, गाँव के ही सरकारी स्कूल में बेटे का दाखिला करा दिया जहाँ से इनकी पढ़ाई फिर शुरू हुई। स्कूल में सवर्ण शिक्षकों एवं विद्यार्थियों की गाली, अपमान, प्रताड़ना सहकर शिक्षा अर्जित करनी पड़ी। प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद गाँव में ही ‘त्यागी इंटर कॉलेज’ में इनका नाम लिखवा दिया गया। यहाँ भी इन्हें कई प्रकार की जातीय प्रताड़ना एवं अपमान सहने पड़े। वाल्मीकि आगे न बढ़ जाए, इसलिए बारहवीं कक्षा में



जान-बूझकर फेल करने की नीयत से रयायनशास्त्र के शिक्षक ने उन्हें प्रैक्टिकल की परीक्षा में शामिल ही नहीं होने दिया, फलतः वे फेल घोषित कर दिए गए। उन्हीं दिनों इनके बड़े भाई जसवीर जो 'सर्वे ऑफ इंडिया' देहरादून में नौकरी करते थे, लेखक को देहरादून ले गये और डी.ए.वी. कॉलेज में बारहवीं में भर्ती कराया यहीं लेखक ने कई साहित्यिक कृतियों का अध्ययन किया। उन्हें अपने मित्र पुरुषोत्तम से रायपुर में ट्रेनिंग फैक्ट्री के विषय में जानकारी मिली। उन्हें पढ़ाई आगे जारी रखने की अपेक्षा टेक्निकल ज्ञान हासिल करना उचित लगा क्योंकि बचपन से ही गरीबी और भुखमरी में जीवन कट रहा था।

घर की माली हालत बिल्कुल भी ठीक नहीं थी, इसलिए आमदनी का कोई जरिया तलाशना बहुत ज़रूरी हो गया था। अपने इस तंगहाल जीवन से निकलने के लिए वाल्मीकि जी महाविद्यालय की पढ़ाई बीच में ही छोड़कर टेक्निकल ट्रेनिंग के लिए निकल पड़े। रायपुर में ट्रेनिंग के बाद उनका सलेक्शन देहरादून के आर्डिनेंस फैक्ट्री में हो गया। एक वर्ष प्रशिक्षण के बाद हुए परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त करने के उपलक्ष में उनका चयन उच्च प्रशिक्षण के लिए आर्डिनेंस फैक्ट्री प्रशिक्षण संस्थान खमरिया, जबलपुर में हो हुआ। यहाँ दो वर्ष ट्रेनिंग के उपरांत उनका चयन 'आर्डिनेंस फैक्ट्री ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट अमरनाथ' मुंबई में ड्राफ्टमैन की ट्रेनिंग के लिए हुआ। ढाई वर्ष बाद आर्डिनेंस फैक्ट्री चन्द्रपुर में ये नियुक्त हुए। तेरह वर्ष तक नौकरी करने के बाद चंद्रपुर से स्थानांतरण भारत सरकार के रक्षा मंत्रालय संस्थान में हो गया। उन्होंने शिमला के **Indian Institute of Advance Studies** में 'हिंदी और मराठी कविता का तुलनात्मक अध्ययन और दलित आंदोलन पर उसका प्रभाव' पर शोध-कार्य भी किया।

जबलपुर ट्रेनिंग के समय से उनके पिता उनकी शादी की चर्चा उनके पास भेजे पत्रों में करते रहते थे। जब वे चन्द्रपुर महाराष्ट्र में नौकरी करने लगे तब उनके बड़े भाई जसवीर ने बिना उनकी सहमति के शादी तय कर दी और दुनियादारी तथा बिरादरी में इज्जत का सवाल के चलते दबाव भी बनाने लगे। लेकिन वाल्मीकि बिना लड़की देखे, जाने शादी के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने गाँव

पहुँचकर लड़की देखने की इच्छा जाहिर की, परन्तु परंपराओं और समाज की दुहाई देकर लड़की वाले दिखाने के लिए तैयार न हुए। कुछ दिनों के बाद वाल्मीकि जी अपनी भाभी की बहन चन्द्रकला (चंदा) से मिले तथा उनसे शादी का प्रस्ताव रखा और चंदा ने हामी भर दी। परिवार के लोगे कुछ हीला-हवाली करने के बाद मान गये। 27 दिसम्बर 1973 को ओमप्रकाश वाल्मीकि की शादी चन्द्रकला से हो गई।

ओमप्रकाश वाल्मीकि का जीवन संघर्ष एक आम अछूत व्यक्ति के समान ही घोर उत्पीड़न, प्रताड़ना, अपमान और उपेक्षा में बीता। बचपन से ही उन्हें भारतीय समाज की जतिवादी बुराईयों से जूझना पड़ा। वर्ण-जाति व्यवस्था की परंपराओं के कारण दिन-रात हाड़-तोड़ मेहनत करके भी गरीबी और भुखमरी ही जीवन की सच्चाई थी। रहने का स्थान जिसे मुहल्ला न कहकर गंदगी के अंबार में किसी तरह जीवन-यापन करने वाले सजीव मानवीय कीड़ा ही कहा जा सकता है। उन्हीं के शब्दों में "चारो तरफ़ गंदगी भरी होती, ऐसी दुर्गन्ध की मिनट भर में साँस घुट जाए, तंग गलियों में घूमते सुअर, नंग-धड़ंग बच्चे, कुत्ते, रोजमर्रा के झगड़े बस यही था वह वातावरण जिसमें बचपन बीता। इस माहौल में यदि वर्ण-व्यवस्था को आदर्श-व्यवस्था कहने वालों को दो-चार दिन रहना पड़ जाए तो उनकी राय बदल जाएगी"<sup>3</sup>

इन परिस्थितियों में अस्पृश्यता के कारण मानसिक प्रताड़ना ऐसी थी कि कोई भी अपने मनुष्य होने पर ही शक करने लगे। अस्पृश्यता के कारण लोगों के साथ उठना बैठना तो दूर छाया भी न पड़े ऐसा जीवन जीने को मजबूर होना पड़ता था। वाल्मीकि ने ब्राह्मणवादी सोच का विरोध करते हुए कहा है—"अस्पृश्यता का ऐसा माहौल कि कुत्ते-बिल्ली, गाय-भैंस को छूना बुरा नहीं था। लेकिन यदि चूहड़े का स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था। सामाजिक स्तर पर इनसानी दर्जा नहीं था। वे सिर्फ़ जरूरत की वस्तु थे। काम पूरा होते ही उपयोग खत्म। इस्तेमाल करो दूर फेंको।"<sup>4</sup>

वाल्मीकि को जातीय प्रताड़ना का दंश तो बचपन से झेलना ही पड़ा, जब वे प्रारंभिक विद्यालय में पढ़ने गये, तो उन्हें शारीरिक एवं मानसिक रूप से शिक्षकों और छात्रों ने भी प्रताड़ित किया। शिक्षक उन्हें भद्दी-बुरी गालियाँ देते थे, किसी-न-किसी बहाने पिटाई भी करते थे। चूहड़े के संबोधन से पुकारते, यदि प्यास लगी तो कल पर खुद चलाकर पानी भी नहीं पीने देते क्योंकि छूने से कल अपवित्र हो जाता। इसलिए उन्हें कल पर देर तक इंतज़ार करना पड़ता कि कोई चलाए तो पानी पीऊँ। इन सारी घटनाओं का उनपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

महाविद्यालयी शिक्षा के लिए देहरादून जाने के बाद उनके जीवन में एक नया मोड़ आया। विभिन्न प्रकार के लोगों और वातावरण को करीब से देखने का मौका मिला। प्रशिक्षण के दौरान जबलपुर मुंबई की यात्रा ने भी उनके जीवन को एक नई दिशा दी, जिसकी परिणति एक कवि, लेखक, कहानीकार, रंगकर्मी और नाट्य निर्देशक के रूप में सामने आयी।

किसी भी व्यक्ति के जीवन को बचपन की घटनाएँ बहुत प्रभावित करती हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि के भी विचारों पर बचपन से समाज में व्याप्त जातीय भेद-भाव, ऊँच-नीच, छुआ-छूत अस्पृश्यता-जैसी घटनाओं ने गहरा प्रभाव डाला जो कि उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त हुई हैं। प्रारंभिक शिक्षा के समय शिक्षकों और सहपाठियों का व्यवहार भी बहुत प्रभावित किया। डी. ए. बी. कालजे में आने के बाद वहाँ के पुस्तकालयों में उन्हें अनेक प्रकार की साहित्यिक रचनाएँ पढ़ने को मिलीं और कई मित्रों का सहयोग भी मिला। उन्हीं दिनों उनके मित्र हेमलाल ने उन्हें एक छोटी-सी पुस्तक दी नाम था 'डॉ. अम्बेडकर: जीवन परिचय' लेखक-चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु। ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में है- "मेरे लिए डॉ. अम्बेडकर उस समय तक एक अपरिचित नाम था। मैं गाँधी, नेहरू, पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, राधाकृष्ण, विवेकानंद, टैगोर, शरत, तिलक, भगत सिंह, सुभाष चन्द्र बोस, चन्द्रशेखर आजाद, सावरकर आदि के विषय में जानता था। लेकिन डॉ. अम्बेडकर से अनजान था।"<sup>5</sup> इस पुस्तक ने वाल्मीकि के मन मस्तिष्क को झकझोर कर रख दिया। उन्हीं के शब्दों में, "कई दिन और रातें मैंने बेचैनी में काटी। मेरे भीतर की छटपटाहट बढ़ गई थी। मेरी चुप्पी जो मेरे रोम-रोम को जड़ बना रही थी,

अचानक पिघलने लगी थी। उस पुस्तकालय में अम्बेडकर से लिखी जो पुस्तकें थी वे सभी पढ़ डाली थी।”<sup>6</sup> वाल्मीकि पर यहीं से बाबा साहब अम्बेडकर की विचारधारा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यहीं से वे धीरे-धीरे दलित आंदोलन से जुड़ने लगे और दलित साहित्य का सृजन करने लगे। चन्द्रपुर में इन्होंने ‘मेघदूत नाट्य संस्था’ का निर्माण किया था।

पुस्तकालयों में उपलब्ध अन्य विदेशी साहित्यिक रचनाओं, पास्तरनाक हेमिंग्वे, विक्टर ह्यूगो, पियरे लूई, टॉलस्टाय, पर्ल एस बक, तुर्गनेव, डॉस्तोएवस्की, स्टीवेंसन, आस्कर वाइल्ड, रोम्यारोला, एमिल जोला जैसे महान एवं मानवतावादी साहित्यकारों की क्रांतिकारी रचनाओं का भी गहन अध्ययन किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर और कालिदास जैसे भारतीय रचनाकारों को भी पढ़ा।

हिंदी दलित साहित्य के अग्रदूत ओमप्रकाश वाल्मीकि को अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। इसलिए नहीं कि वे बहुत बड़े व्यक्ति या राजनीतिज्ञ थे, बल्कि इसलिए कि उन्होंने दलित शब्द की वास्तविकता से क्रूर सवर्ण समाज को परिचित कराया। 1993 में उन्हें डॉ. अम्बेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार से नवाजा गया। परिवेश सम्मान, 1995, जयश्री सम्मान, 1996, 10 नवम्बर 2001 में लखनऊ के बली प्रेक्षागृह में आयोजित भव्य समारोह में ‘कथाक्रम सम्मान, ‘न्यू इंडिया बुक पुरस्कार’ 2004, साहित्य भूषण सम्मान, 2006, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान लखनऊ, 8वाँ विश्व हिंदी सम्मेलन, 2007, न्यूयार्क, अमेरिका सम्मान, से विभूषित हुए। प्रथम दलित-लेखक साहित्य सम्मेलन 1993, नागपुर में अध्यक्ष रहे। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ, कहानियाँ एवं नाटक का प्रकाशन। आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से कविताओं का प्रसारण। मराठी, गुजराती, अंग्रेज़ी एवं अन्य भाषाओं में कई रचनाएँ अनूदित एवं प्रकाशित। ‘दो चेहरे’ नाट्य-आलेख का कई नाट्य संस्थाओं द्वारा मंचन। विभिन्न अखिल भारतीय नाट्य प्रतियोगिताओं में अभिनय एवं लगभग 60 नाटकों में निर्देशन के लिए दर्जनों पुरस्कार प्राप्त किए। इस तरह दलित साहित्य लेखन के साथ-साथ विभिन्न क्षेत्रों में विशिष्ट उपलब्धियाँ अर्जित किए। अपने अंतिम दिनों में वे ‘लिवर कैंसर’ से पीड़ित हो गये। दिल्ली के गंगाराम अस्पताल से उनका इलाज चल रहा था। तीन या चार

महीने बाद 17 नवंबर 2013 को वे अपने किये हुए कार्यों को छोड़कर सदा के लिए हमारे बीच 'स्मृतिशेष' रूप में बस गये।

गाँव से देहरादून, देहरादून से जबलपुर, जबलपुर से अम्बरनाथ (मुम्बई), अम्बरनाथ से चन्द्रपुर (महाराष्ट्र), चन्द्रपुर से देहरादून, देहरादून से फिर वापस जबलपुर यानी चालीस वर्षों की यात्रा ने उनकी वैचारिकी को मजबूती प्रदान की। यही संघर्ष इनकी वैचारिक प्रतिबद्धता, सामाजिक सरोकार से जोड़ता है।

जुलाई 1967 में खमरिया जबलपुर प्रशिक्षण के दौरान छात्रावास में रहते हुए इनका परिचय रंगमंच से हुआ। रंगमंचीय गहनता और दलित आंदोलन को ठीक से समझने का मौका इन्हें मुम्बई प्रवास के दौरान प्राप्त हुआ। 1972 में चन्द्रपुर (महाराष्ट्र) में इनकी नियुक्ति हुई। उस समय भी ये थियेटर से जुड़े रहे और आधे-अधूरे, हिमालय की छाया, सिंहासन खाली है, इकतारे की आँख, अब्बदुल्ला दिवाना, अन्धों का हाथी जैसे नाटकों का मंचन और दलित समस्याओं से जुड़े अनेक नुक्कड़ नाटकों का प्रदर्शन उन्होंने किया। नौकरी के साथ-साथ अनेक सामाजिक संस्थाओं में भी इनकी उपस्थिति दर्ज रही। चन्द्रपुर में रहते हुए मराठावाड़ा विश्वविद्यालय के नामान्तरण आंदोलन में भी इनकी सक्रिय भूमिका रही। शुरू के दिनों में इनकी बहुत-सी कविताएँ देश की छोटी-छोटी पत्रिकाओं में छप चुकी थी, लेकिन कोई बड़ी पत्रिका इनकी रचनाएँ छापने को तैयार नहीं होती थी। इसके ठीक विपरीत, मराठी में जो दलित साहित्य लिखा जा रहा था उसे बड़ी-बड़ी पत्रिकाएँ छाप रहीं थीं। उस समय के प्रकाशकों को लगता था कि जैसा उत्पीड़न महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में होता है वैसा उत्तर भारत में नहीं होता है जबकि उत्तर भारत में हो रहे अत्याचार और उत्पीड़न को वाल्मीकि जी उल्लेख करते हैं 'बेलछी कांड, कफल्टा, साढ़पुर कांड, नारायणपुर जैसे कांड उत्तर भारत में लगातार हो रहे थे। इन घटनाओं का जिक्र कहीं भी हिंदी के पत्र प्रकाशन नहीं कर रहे थे। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इस तरह की घटनाओं और दलितों पर हो रहे अत्याचारों से आँखें चुरा रहे थे सवर्ण पत्रकार।'।

इनके लेखकीय जीवन का आरंभ तो हाईस्कूल के दिनों से ही हो गया था, लेकिन 70 के दशक के उत्तरार्द्ध से इनकी निरंतरता बनी। 1980 में सारिका पत्रिका के लिए इनकी कहानी 'जंगल की रानी' स्वीकृत हुई थी, लेकिन 1990 में संपादक ने उस कहानी को बगैर छापे हुए ही लौटा दिया यह कहते हुए कि यदि प्रतीक्ष कर सकते हैं तो इसे पुनः भेज दीजिए। दस साल बाद जिसकी रचना लौटी हो इस हिदायक के साथ कि 'और इन्तजार कर लीजिए' उस व्यक्ति पर क्या गुजरी होगी आप सोच सकते हैं। वाल्मीकि जी 1975 से लिखना शुरू करते हैं और नब्बे के दशक में आकर वे एक दलित रचनाकार के रूप में जाने जाते हैं। इस सन्दर्भ में जाने-माने साहित्यिक चिंतक प्रो. रामचन्द्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण सवाल उठाते हैं कि —“सन् 1974-75 से साहित्य लेखन कर रहे ओमप्रकाश वाल्मीकि की पहचान 90 के दशक में क्यों बनी?” आगे इस प्रश्न की पड़ताल करते हुए लिखते हैं —“यह कोई सामान्य प्रश्न नहीं है। यह अस्मिता और आत्मसम्मान से जुड़ा हुआ सवाल है। हिन्दी साहित्य समीक्षकों के सामने यह सवाल आज भी अनुत्तरित है।”<sup>7</sup> प्रो. रामचंद्र का सवाल बहुत ही वाजिब सवाल है। इन सवालों के घेरे में पूरा का पूरा मनुवाद खड़ा दिखाई देता है। इसीलिए हिंदी साहित्य के जो तथाकथित बड़े समीक्षक हैं वे इन सवालों का उत्तर देने से कतराते हैं या उत्तर देना ही नहीं चाहते हैं। वाल्मीकि अपने समय की समस्याओं, परिवार की रोजी-रोटी, सामाजिक समस्याओं और शोषण से जितना जूझ रहे थे उतना ही वे अपने लेखन कार्य को मूर्त रूप देकर समाज के बीच लाने के लिए संघर्ष कर रहे थे। उस समय की जानी-मानी पत्रिका 'सारिका' के संपादक कमलेश्वर ने जब वाल्मीकि की कहानी को लौटा दिया तब उन्हें बहुत निराशा और क्षोभ हुआ। उस दर्द का बयान वो एक साक्षात्कार में करते हैं —“किसी भी लेखक के लिए दस वर्ष बहुत होते हैं लेकिन सम्पादकों को यह करते समय कतई शर्मिन्दगी नहीं हुई और वे लगातार दलित रचनाओं के साथ यही करते रहे।”<sup>8</sup> वाल्मीकि जी बहुत ही निर्पेक्ष भाव से उनकी भी खबर लेते हैं जो अपना खास होने का दम्भ भरते हैं। आगे वे कहते हैं —“जहाँ तक अपनों का सवाल है, ऐसे कई दलित प्रकाशक थे जिनके पास मैं अपनी पुस्तकें

लेकर गया, लेकिन वहाँ भी जातिवाद कुण्डली मारे बैठा था और दलित लेखकों में मैं अकेला लेखक था, जिसकी कोई भी पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई थी।”<sup>9</sup>

दिसम्बर 1992 में इनकी कहानी ‘बैल की खाल’ और कुछ कविताएँ जुलाई 1992 में राजेन्द्र यादव ने हंस पत्रिका में छापी तब थोड़ा सा इन्हें हौसला मिला। ओमप्रकाश वाल्मीकि को पहली बार 31 जुलाई 1992 को आयोजित हंस की वार्षिक गोष्ठी का विषय ‘दलित चेतना विशिष्ट सन्दर्भ प्रेमचंद’ में बोलने का मौका मिला। वह दिन इनके और इनके द्वारा लिखित साहित्य को राष्ट्रीय स्तर पर मुख्यधारा में लाने के लिए ऐतिहासिक साबित हुआ। वे लिखते हैं – “यह वह समय था जो मेरी रचनात्मक संघर्ष-यात्रा को एक दिशा देने में मेरी शक्ति बना था।”<sup>10</sup>

1994 में वाल्मीकि को बहुत ही सुनहरा मौका मिला जब पत्रकार राजकिशोर जी ने राष्ट्रीय समस्या को लेकर पुस्तकों की एक सीरीज वाणी प्रकाशन से शुरू किया। इस सीरीज को एक पुस्तक ‘हरिजन से दलित’ उसी के लिए राजकिशोर जी ने इन्हें अपने बारे में लिखने को कहा था। जिसने वर्ण-व्यवस्था की मार झेली हो उसके लिए अपने बारे में लिखना फिर से पुराने जख्मों को कुरेदना और यातना से गुजरना था। बहरहाल, दस-पन्द्रह पेज की अपनी आत्मकहानी लिखकर इन्होंने भेजी थी। पहले तो राजकिशोर जी को यह विश्वास नहीं हुआ कि ये सारी बातें सच हैं। बाद में पत्र द्वारा शंका का समाधान वाल्मीकि जी ने कर दिया था। ‘हरिजन से दलित’ पुस्तक का पहला ही लेख था ‘एक दलित की आत्मकथा’। हिंदी क्षेत्र में यह पहली दलित आत्मकथा थी। इससे पहले मराठी से हिंदी में अनूदित आत्मकथा ही हिंदी क्षेत्र में पढ़ी गई थी। इस लेख को पढ़कर बहुत लोगों ने क्रिया प्रतिक्रिया व्यक्त किया। उसी कड़ी में अशोक माहेश्वर ने इन्हें एक पत्र लिखा कि ‘मैं आपके जीवन अनुभवों को वाणी प्रकाशन से छापना चाहता हूँ। उसके बाद वाल्मीकि ने सिलसिलेवार ढंग से लिखना शुरू किया, जो 1997 में ‘जूठन’ एक किताब की शकल में सामने आई। ‘जूठन’ को जिस तरह से हिंदी पट्टी में हाथोंहाथ लिया गया उससे वाल्मीकि जी का हौसला बढ़ा और पूर्वाग्रह तथा भ्रम की अनेक धारणाएँ टूटीं।

आजादी के बाद भी ओमप्रकाश वाल्मीकि के लिए शिक्षा प्राप्त करना बहुत ही पीड़ादायी था। बात-बे-बात अध्यापक से लेकर सहपाठियों के कोपभाजन का शिकार बनना इनकी रोजमर्रा की जिन्दगी बन गई थी। अक्षरों को पहचानने के लिए उन्हें बहुत ही जद्दोजहद करनी पड़ी और जब अक्षरों को पहचान लिया तो यही अक्षर इनके लिए अभिव्यक्ति के साधन बने। "इस मुद्रित शब्दों से परिचय पा लेना मेरे लिए आसान नहीं था। जहाँ अध्यापकों ने कक्षा से भगा देने, हाथ में झाड़ू थमा देने की कोशिश की, वहीं सहपाठियों के उत्पीड़न भी कम नहीं थे। इसके बाद भी इस छपे शब्द की आँच का एहसास लगातार होता गया है। लगा ऐसा ही आग मेरे भीतर दबी है, जो बाहर आने के लिए अकुला रही है। पुस्तकों से रिश्ता जितना गहरा हुआ— यह आग उतनी ही तीव्रतर होती गई। कई बार इसकी आँच से स्वयं ही सुलझा हूँ।"<sup>11</sup> दलित कही जाने वाली जाति में जन्म ले लेने मात्र से व्यक्ति अपने जन्म स्थान से लेकर स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय, ऑफिस आदि सार्वजनिक जगहों पर आज भी अपमान का घूंट पीता है। यह उक्ति अक्षरसः सही है 'जाति कभी नहीं जाती।' इसलिए ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं— "पढ़लिखकर जातियाँ नहीं सुधरती हैं, वे सुधरती हैं जन्म से।" जाहिर है हिन्दू धर्म के अनुसार जिसने जिस जाति में जन्म ले लिया, वह उसी में दम तोड़ेगा। भले ही वह जातीय बंधन से निकलना चाहे लेकिन असंभव ही नहीं नामुमकिन होता है भारतीय जातिव्यवस्था की जकड़न को तोड़ना। वाल्मीकि बार-बार अपने होने पर प्रश्न चिन्ह लगाते हैं कि 'आखिर मैं कौन हूँ?' अपनी अस्मिता की तलाश में वे पाते हैं कि हिन्दू धर्म ही उन सारे जड़ों की फसाद है, जिसके चलते मानव-मानव में भेद उत्पन्न हुआ है। एक ऊँचा है, तो दूसरा नीचा है, एक आदमी है दूसरे को जानवर से बदतर बना दिया गया है। वाल्मीकि के साथ जो भेदभाव होता है उसे वे अपनी आत्मकथा 'जूठन' में बखूबी बयाँ करते हैं—"लेकिन मन में एक उबाल सा उठता था, जो कहना चाहता था, मैं हिन्दू भी तो नहीं हूँ। यदि हिन्दू होता तो हिन्दू मुझसे इतनी घृणा, इतना भेद-भाव क्यों करते? बात-बात पर जातीय-बोध की हीनता से मुझे क्यों भरते? मन में यह भी आता था कि अच्छा इंसान बनने के लिए जरूरी क्यों है कि वह हिन्दू ही हो... हिन्दू की क्रूरता बचपन से देखी है, सहन की है। जातीय श्रेष्ठता-भाव अभिमान



बनकर कमजोर को ही क्यों मारता है? क्यों दलितों के प्रति हिंदू इतना निर्मम और क्रूर है?"<sup>12</sup> ऐसे वातावरण में एक दलित का लेखक बनना कितना दुरुह कार्य है।

वाल्मीकि के लेखकीय जीवन का प्रारम्भ सही मायने में उनके हाईस्कूल से होता है। दसवीं तक आते-आते वे बहुत सी साहित्यिक पुस्तकें पढ़ चुके थे। उनका झुकाव अब साहित्य की ओर होने लगा था। उन्होंने स्वयं लिखा— "धीरे-धीरे मेरा झुकाव साहित्य की ओर बढ़ रहा था। तब कुछ तुकबंदिया भी करने लगा था।"<sup>13</sup> वाल्मीकि की रचनात्मकता विभिन्न विधाओं— कविता, कहानी, नाटक और आत्मकथा से होकर गुजरी है। इन रचनाओं में एक मानव समूह द्वारा दूसरे मानव समूह पर किये गये अत्याचार शोषण, दमन से उपजी पीड़ा, संत्रास, आक्रोश का बेलाग उल्लेख मिलता है। साथ ही तथाकथित मुख्यधारा से सामना करने की उत्कट जीजिविषा भी दिखाई देती है। शुरुआती दौर में उनकी कविताएँ ही उनकी वेदना, पीड़ा, संत्रास, आक्रोश, कुछ कर गुजरने की भावना की अभिव्यक्ति बनी। वाल्मीकि का मानना है कि हताशा और निराशा के समय उनकी कविता ही उन्हें मजबूती प्रदान करती थी। कविताओं में मानवीय संवेदना को पिरोने की अद्भुत क्षमता होती है। इसीलिए दलित साहित्य के शुरुआती दौर में कविताओं को ही साहित्यकारों ने अपनी अस्मितावादी आंदोलन का हिस्सा बनाया था। वाल्मीकि दलित कविताओं के बारे में लिखते हैं— "अपनी मुखरता, आक्रोशित स्वर के कारण एक आंदोलन का रूप ले रही थी... हजारों साल से जड़ें जमाए बैठे जातिगत पूर्वाग्रहों पर सीधे-सीधे प्रहार कर रही थी। सामाजिक भेद-भाव, विषमताओं, वैमनस्य, वर्णव्यवस्था से उपजी अमानवीय बर्बरता के विरुद्ध उठकर खड़ी हो रही थी। समाज में व्याप्त हजारों साल के शोषण-दमन की यातना से मुक्ति की छटपटाहट दलित कविता की आन्तरिक जद्दोजहद का हिस्सा बन चुकी थी। यह दलित कविता की ऊर्जा थी और यही उसकी पहचान भी। जिसे हिन्दी आलोचक, सम्पादक अनदेखा कर रहे थे।"<sup>14</sup> समाज का एक बड़ा हिस्सा जिसका जीवन संघर्ष, जिसका वास्तविक जीवन साहित्य से बिलकुल गायब था उसको सामने लाने का काम दलित साहित्य ने किया है। इसमें

ओमप्रकाश वाल्मीकि का बहुत बड़ा योगदान है। उनके लिए साहित्य सृजन अकारण या शौकिया नहीं है। उन्होंने अपने जीवन संघर्षों से जितना अनुभव किया तथा स्थापित साहित्य में जो दोहरा तिहरा मापदण्ड देखा, उसी सामाजिक विसंगतियों और विषमताओं ने उन्हें लिखने के लिए मजबूर किया। वे लिखते हैं— “साहित्य के प्रतिष्ठित साहित्यकारों, मानवीय अनुभूतियों और संवेदनाओं की व्याख्या करने वाले विद्वानों व समीक्षकों के अन्तःकरण जब संकीर्णताओं और धिनौनेपन से भरे हों, तब चुप कैसे रहा जा सकता है? वसुधैवकुटुम्बकम्’ सूत्र वाक्य दोहराने वाले अपने ही धर्म और समाज के एक हिस्से को नारकीय स्थिति में पहुँचाकर उनके मानवीय अधिकार तक छीन ले तो महानता और शब्दों का खोखलापन स्वयं ही नंगा हो जाता है।”<sup>15</sup> ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य अनुभवजनित साहित्य है उसमें कोरी कल्पनाओं का कोई स्थान नहीं है। इस देश की वैमनष्यता, घृणा, वीभत्स, सच्चाईयों का उद्घाटन है वाल्मीकि का साहित्य। उनके लिखने का कारण स्वयं उन्हीं के शब्दों में देखा जा सकता है — “दलितों को अस्पृश्य, अंत्यज बनाकर समाज से अलग कर देने इस देश में न तो कोई बाबर आया था, न कोई अंग्रेज। यहीं के हमारे अपने तथाकथित महान संस्कृति के लोग थे, जिन्होंने गत तीन हजार वर्षों में जितने जुल्म ढाए, जितना शोषण किया, उतना तो विदेशी शासक भी नहीं कर पाए। यह पीड़ा बार—बार उकसाती है और मेरे लिखने का कारण बनती है। इस छोटी सी संघर्ष—यात्रा में न जाने कितने दंश हैं जो फांस की तरह गड़े हैं जो कविता कहानियों में व्यक्त होते हैं। मेरी आँखों के सामने वे दीन—हीन, भूखे—नंगे, गंदे नालों पर दड़बेनुमा घरों में कीड़े—मकोड़ों की तरह बिलबिलाते, मैला ढोते, खेतों में खटते लोग हैं जो मात्र आर्थिक दबाव में ही नहीं सामाजिक उत्पीड़न और भेद—भाव में जीने के लिए बाध्य हैं। ये आदमी की तरह जीना चाहते हैं, और मेरे लिखने का कारण बनते हैं।”<sup>16</sup>

ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी लेखनी का केन्द्र बिन्दु उस दमित जनता को बनाते हैं जो हजारों साल से हाशिए पर डाल दिया गया था तथा जिसे मुख्यधारा के साहित्य में कहीं भी अस्मिता के साथ उठने नहीं दिया गया। यहाँ

आनंद की अनुभूति नहीं होती, साहित्य मनोरंजन के हेतु नहीं बनते बल्कि समाज की ऐसी सच्चाई सामने आती है जहाँ पहुँचकर गौरवपूर्ण भारतीय संस्कृति की सारी मान्यताएँ ध्वस्त हो जाती हैं। इस साहित्य में वेदना—पीड़ा है आनंद नहीं, यथार्थ है कल्पना नहीं, स्वानुभूति है सहानुभूति नहीं, इंसानियत है हैवानियत नहीं, करुणा है क्रूरता नहीं, समानता है विषमता नहीं अर्थात् दलित साहित्य आनंद का साहित्य नहीं है मनुष्य का साहित्य है। इस साहित्य में दलित जब अपनी चेतनशीलता का परिचय देता है तो निश्चित रूप से यही बहुजनों के लिए वास्तविक आनंद की प्राप्ति है। इन्हीं मानवीय मूल्यों पर खड़ा है वाल्मीकि का रचना—संघर्ष। इसलिए वाल्मीकि के लिए रचना—कर्म इतना आसान नहीं था जितना हिंदी साहित्य के पुरोधों के लिए। अब तक हिंदी साहित्य में जो रचना—कर्म हुए थे उसका मूल उद्देश्य स्वान्तः सुखाय तथा मनोरंजन था। भारतीय समाज के एक बड़े हिस्से की सच्चाई को उजागर नहीं किया गया। वर्णव्यवस्था से उपजे तमाम तरह की बुराईयों, कुरीतियों का मनोहारी वर्णन किया था, जिसके भीतर दीमक लग गया था लेकिन बाहर—बाहर सब अच्छा प्रस्तुत किया जाता था। वाल्मीकि ऐसे साहित्यकार थे जिन्होंने अपनी लेखनी से समाज का विद्रूप चेहरा बाहर लाने का प्रयास किया। उनका साहित्य दुखती रग पर हाथ रखने के समान है। इसलिए वाल्मीकि को मुख्यधारा के हिंदी साहित्य जगत में स्वीकार करना बहुत ही मुश्किल था वे लिखते हैं— “सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न विद्वेष, घृणा, सामप्रदायिकता के ऐसे घिनौने चेहरे जो मुखौटे पहनकर आम आदमी को इस्तेमाल कर रहे हैं, सरकारी नौकरियों का निजीकरण, बाजारीकरण की मानव विरोधी गतिविधियाँ पूंजीवादी सामंती, ब्राह्मणवादी, वर्चस्ववादी दमनकारी संदर्भ, भारतीय समाज के दोहरे मापदण्ड, जो उपर से आधुनिक, विनम्र सफेद बगुले जैसे और भीतर से पूरे शातिर, एक ओर ‘वसुधैवकुटुंबकम्’ के खोखले सूत्र वाक्य, दूसरी ओर दलितों, स्त्रियों पिछड़े मुसलमानों के प्रति घोर अमानवीय व्यवहार। इसी यथार्थ ने आज की रचना संसार की पर्तें उघाड़ कर रख दी हैं। हमारा जीवन विसंगतियों, अंतर्द्वन्द्वों से भरा पड़ा है। इसलिए रचनाकर्म और भी ज्यादा दुष्कर कर्म हो गया है।”<sup>17</sup>

इस देश का बहुत बड़ा समाज लम्बे समय से जातीयता का दंश, अवहेलना, उपेक्षा, उत्पीड़न, पक्षपात इत्यादि का सामना करता आ रहा है और इसी देश के मुट्ठीभर लोगों का ऐसा समूह है जो इन विसंगतियों और विषमताओं के लिए जिम्मेदार है। इन सामाजिक विद्रुपताओं को साहित्य के माध्यम से दुनिया के समक्ष प्रस्तुत करना कम चुनौतीपूर्ण नहीं है। ओमप्रकाश वाल्मीकि इस चुनौति को अंगीकार करते हैं और परंपरा से चली आ रही साहित्यिक मापदण्डों को तोड़ने का काम करते हैं। एक साहित्यकार के लिए जो सामाजिक उत्तरदायित्व होने चाहिए वे दलित साहित्यकारों में बेजोड़ है। कुछ परंपरावादी साहित्यकारों के लिए वाल्मीकि की रचनाओं में कला का अभाव भले ही दीखता हो, लेकिन सामाजिक विकृतियों को जिस तलखी से उन्होंने उकेरा है वे नये कलामानदण्डों की माँग करती हैं तथा पुराने मानदण्डों को ध्वस्त करती हैं। हरपाल सिंह अरूष लिखते हैं— “दलित साहित्य उनके लिए सबसे बड़ी चुनौती बनकर खड़ा है जो साहित्य के मानदण्ड तैयार करने के पुरोधे समझे जाते हैं। उनको प्रचलित मानदण्डों में संशोधन करना पड़ रहा है। नए यन्त्र खोजने पड़ रहे हैं। जिनके आधार पर दलित साहित्य की व्याख्या की जा सके। समाजशास्त्रीय आलोचना तकनीक की यहाँ आवश्यकता है। भारतीय समाज का भारतीय परिवेश से उपजे सिद्धान्तों को लेकर विश्लेषण करना ही उपयुक्त होगा।”<sup>18</sup> इसलिए विमर्शवादी साहित्य के लिए नए मानदण्डों का निर्माण करना जरूरी है। पारंपरिक मानदण्डों पर दलित साहित्य को कसना बेईमानी है। क्योंकि विमर्शवादी साहित्य का आधार दलित, आदिवासी और स्त्रियों के जीवन में घट रही रोजमर्रा की यथार्थवादी घटनाओं पर टीका है न कि तथाकथित मुख्य धारा के साहित्य की तरह अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन एवं कल्पनाओं पर। बहुजनों के जीवन में घटित हो रही विभिन्न प्रकार की विसंगतिपूर्ण घटनाओं की सच्चाईयों को ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी रचनाओं का केंद्र बिन्दु बनाया। उनकी रचनाओं में यथार्थ मुखर हो उठा है। उन्होंने भाग्य-भगवानवाद, रहस्यवाद, अंधविश्वास, पोंगापंथी, झूठा दर्शन सब पर प्रश्न चिन्ह लगाया है। इसलिए “भारतीय वर्णवादी जातिवादी संरचना में ईश्वरीय रहस्यवाद की शक्ति के भाववादी विश्वास के बरअक्स समाज के यथार्थ में व्याप्त अन्तर्विरोधों, भटकाव,

सामाजिक लय में बाधक पग-पग पर अटकाने वाले यति-भंगों का, जीवन-प्रवाह की प्रगति और गति पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभावों का चित्रण करते हुए कमजोर जोड़ पर उँगली रखने का साहस इसलिए किया जा रहा है कि साधारण लोगों के साथ-साथ दलित लोगों को भी नायकत्व में हिस्सेदारी मिल सके। विसंगतियों और विद्रूपों से छुटकारा पाने के प्रयत्न जन्म ले सके।<sup>19</sup>

मुख्यधारा के साहित्य में दलितों को नायक बनाकर नहीं दर्शाया गया है। यदि कहीं मुख्य भूमिका में आया भी है तो आदर्शवाद का मुल्लमा ओढ़े दीन-हीन बनकर ही उपस्थित होता है। उसमें चेतना का विकास नहीं दीखता है। प्रेमचंद की आदर्शोन्मुख यथार्थ तक ही सीमित हो जाते हैं उससे आगे नहीं बढ़ते हैं। आदर्शवादी लेखकों को पता है कि उनके पूर्वजों ने कितने अमानवीय कृत्य किये हैं। इसलिए वे सीधे यथार्थ से सामना नहीं करना चाहते हैं क्योंकि उनके द्वारा किये अत्याचारों का भंडाफोड़ हो जाएगा। "कोई भी आदर्शवादी यथार्थवाद से टकराना नहीं चाहेगा, क्योंकि इससे उसके आदर्शों के लिए खतरा पैदा हो जाता है। आदर्शवादी नहीं चाहता कि समाज का यथार्थ सामने आए। राजनीति और सत्ता के यथार्थ से भी वह बचता है। इसका मतलब यह नहीं है कि आदर्शवादी का कोई यथार्थ नहीं होता। उसका यथार्थ अकसर उसके स्वप्नों, उसके यूटोपिया में होता है। वे अपना यथार्थ गढ़ते हैं, जो वास्तविकता से कोसों दूर होता है।"<sup>20</sup>

कंवल भारतीय यथार्थवादी साहित्य की रचना कबीर से मानते हैं –

मैं कहता हूँ आंखिन देखी।

तू कहता कागद की लेखी।।

यह 'आंखिन देखी' का चित्रण करना बहुत बड़े साहस की बात थी, जो क्रांतिकारी घटना थी। कबीर के इस यथार्थवादी अभिव्यक्ति का दलित साहित्य की पृष्ठभूमि तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका है। कंवल भारतीय आगे लिखते हैं— "शम्बूक, कर्ण और एकलव्य का दृष्टिबोधण द्विज कैसे पकड़ सकता है, जबकि वह उस यथार्थ से गुजरा ही नहीं। कल के शम्बूक, कर्ण और एकलव्य

की वेदना आज के शम्बूक, कर्ण और एकलव्य ही समझ सकते हैं। ...आदर्शवादी सांचों में लेखन खतरनाक होता है। इसलिए दलित लेखकों को ऐसे सांचों से मुक्त होकर लेखन करना चाहिए। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि आदर्श एकदम गैर-ज़रूरी चीज है। आदर्श की ज़रूरत यथार्थवादी लेखन में भी पड़ती है। एक आदर्शवादी लेखन में 'परंपरा का निर्वाह' आदर्श होता है, तो यथार्थवादी दलित लेखन में 'परंपरा का विरोध आदर्श होता' है। आदर्शों का यह टकराव ही सवर्ण और दलित लेखन का मुख्य द्वन्द्व है। इसी आधार पर दलित लेखन के लिए यथार्थवाद सिर्फ घटना की फोटोग्राफी नहीं है। उसके लिए घटना की तह में जाकर स्थितियों और परिस्थितियों का विश्लेषण कर उन तथ्यों को सामने लाना होता है, जो परंपरा के विरुद्ध संघर्ष को रेखांकित करते हैं। इसी आधार पर नागार्जुन की कविता 'हरिजन गाथा' पर ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता 'वे नहीं जानते' और असंग घोष की कविता 'बहुत हो गया' भारी पड़ती हैं। 'हरिजन गाथा' में परंपरा का निर्वाह है, जबकि 'वे नहीं जानते' और 'बहुत हो गया' में परंपरा का विरोध है। और मलखान सिंह की कविता 'सुनो ब्राह्मण' की ये पंक्तियाँ— "हमारी दासता का सफर तुम्हारे जन्म से शुरू होता है। और इसका अन्त भी तुम्हारे अन्त के साथ होगा।। तो उस परंपरा को ही ध्वस्त कर देती है, जिससे नागार्जुन के 'मनुपुत्र' जन्म लेते हैं। दलित साहित्य के केन्द्र में यही यथार्थवाद है।"<sup>21</sup>

जहाँ तक साहित्यिक यथार्थवाद का प्रश्न है, वहीं सहानुभूति और स्वानुभूति का प्रश्न उठता है। साहित्यिक जगत में यह बहुत बड़ा मुद्दा रहा है और है भी कि किसे यथार्थवादी रचना माना जाए, जिसने सहानुभूति को आधार बनाकर लिखा है उसे या फिर जिसने स्वयं भोगा है उसे? यह प्रश्न आज भी विवादित है, लेकिन सम्पूर्णता में देखा जाए तो यही निष्कर्ष निकलता है कि जिसने भोगा है वही सही मायने में यथार्थवादी रचना करता है। जो कभी बजबजाती सीवर में न उतरा हो जिसकी स्त्रियाँ कभी अपने सर पर मैले की टोकरी न ढोई हों, जिसने कभी किसी दूसरे के घरों में झाड़ू-पोछा न किया हो, जिसने कभी मरे जानवर का सड़ा मांस न खाया हो, जानवर की चमड़ी न

उतारी हो, जिसने कभी अपनी आधी देह बर्फीली पानी में रखकर कपड़ा न धोया हो, जिसने कभी उमस भरी दोपरी में धौंकनी के पास बैठकर कृषि योग्य हथियार न बनाया हो जिसने जाड़ा, गर्मी, बरसात हर मौसम की मार झेलकर अन्न न उपजाया हो, उफनती नदी में जिसने कभी मछली न पकड़ी हो, जिसने बात-बे-बात, माँ-बहन की गालियाँ न सुनी हो, ऐसे अनेक अपमानजनित कार्य करने के लिए जो अभिशप्त नहीं हैं। निश्चित रूप से उसके द्वारा लिखा गया साहित्य यथार्थ से कोसों दूर होगा। जिसने इस पीड़ा को भोगा है वही अपने अनुभवजनित स्वानुभूति के आधार पर यथार्थ साहित्य की रचना कर सकता है न कि शोषितों पर आश्रित रहने वाले सम्पन्न लोग।

इस सन्दर्भ में मैनेजर पाण्डेय ने बहुत ही सटीक टिप्पणी की है— “प्रेमचंद और निराला की दलित जीवन से जुड़ी समस्याओं को देखा जा सकता है। लेकिन सारी सहानुभूति, करुणा, सहृदयता और परकाया प्रवेश की कला के बावजूद गैर-दलितों द्वारा दलितों के बारे में लिखे साहित्य में कला चाहे जितनी हो, परन्तु अनुभव की वह प्रामाणिकता नहीं होती है, जो किसी भी दलित द्वारा अपने समुदाय के बारे में स्वानुभूति की पुनर्रचना से उपजे साहित्य में होती है।”<sup>22</sup> ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी साहित्यिक कड़ी को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं— “एक दलित की पीड़ा को जब बाहर खड़ा व्यक्ति उकेरता है ‘सच और झूठ’ ज्यादा देर नहीं टिकता। सच और झूठ के बीच जो सूक्ष्म रेखा है वह स्वयं बता देती है कि रचना का ‘आशय’ और ‘अन्तर्वस्तु’ क्या है।”<sup>23</sup> आगे वे दलितों द्वारा किये गये श्रम की महत्ता को बताते हुए लिखते हैं— “दलित समाज का सम्बन्ध उत्पादन से जुड़ा है। प्रकृति-श्रम और उत्पादन इन तीनों का गहरा संबंध है, जिसकी संरचना में दलित गुंथा हुआ है। कृषि कार्यों, कारखानों, कपड़ा मिलें, चमड़ा उत्पादन, सफाई कार्य आदि ऐसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र हैं, जहाँ दलित समाज ने विशेष योग्यता हासिल की है, जबकि गैर-दलित इन सब कार्यों से विरत रहने के बावजूद इनकी महत्ता को भी नकारते हैं, इसलिए गैर दलित साहित्य में जब भी कृषि, मील, मजदूरी, श्रम, किसान, पशुपालन आदि का चित्रण होता है, वह कल्पना, आधारित तथ्य होते हैं, जिनका सम्बन्ध यथार्थ जीवन से नहीं होता

है।<sup>24</sup> जिसने कभी जातीयता का दंश नहीं झेला है, उसे उस दंश की चुभन कैसी लगती है यह तो वह नहीं बता सकता है। यह तो वही बता सकता है जिसने झेला है, जिसने उस पीड़ा को भोगा है। भारतीय संस्कृति और साहित्य में पाश्विक कृत्यों की भरमार रही है। इसी पाश्विक और अमानवीयता के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ है, दलित साहित्य, जो पूरी तरह मानवतावादी विचार का पोषक है जिसके मूल में बुद्ध, फुले और अम्बेडकर की विचारधारा समाहित है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की साहित्यिक वैचारिकी बुद्ध, फुले और डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा से ओत-प्रोत है। उनकी लेखनी में समता, स्वतंत्रता और बंधुता की गूँज सुनाई देती है। वे लिखते हैं— “जाति के सवाल को डॉ. अम्बेडकर ने जिस प्रखरता और जुझारुपन के साथ उठाया, वह भारतीय इतिहास में एक युग प्रवर्तक की भूमिका है जिसने दलितों को सिर्फ वाणी ही नहीं दी, उनमें आत्मविश्वास भी भरा। यही वह ऊर्जा है जो दलितों को डॉ. अम्बेडकर से मिली है। डॉ. अम्बेडकर एक चेतनासंपन्न दलित विचारक, भविष्यद्रष्टा थे, जिन्होंने ‘जाति-उन्मूलन’ के अपने मुख्य एजेंडे को निरंतर गतिशील रखा था। उन्होंने दलितों को धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पहचान दी। जैसे-जैसे दलित इस प्रक्रिया से जुड़ते गये वैसे-वैसे डॉ. अम्बेडकर की महत्ता का भी विस्तार होता गया। दलित समस्या का सीधा अर्थ है— ‘जाति का सवाल’।”<sup>25</sup> ओमप्रकाश वाल्मीकि अपने आलोचनात्मक लेखों और साक्षात्कारों में बार-बार बुद्ध, फुले और बाबा साहब अम्बेडकर को कोट करते हैं और इन्हें ही दलित साहित्य की उर्जा मानते हैं— “अम्बेडकर-चिंतन दलित साहित्य की उर्जा है। विचार की कोई सीमा नहीं होती। डॉ. अम्बेडकर ने अपने संघर्ष को सीमा में नहीं बाँधा उन्होंने गोदी कामकारों में काम किया। शिक्षा-संस्थानों, राजनीति, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, वैधानिक क्षेत्रों में काम किया। उनके समूचे जीवन-संघर्ष को आप गंभीरता से देखिए। उन्होंने मानव के बहुमुखी विकास का मार्ग अपनाया। उनके दर्शन में बुद्ध का सम्यक ज्ञान विद्यमान है। बुद्ध की तमाम दार्शनिक विवेचनाओं को उन्होंने अपने जीवन दर्शन का अंग बनाया। दलित साहित्य इन तमाम विचारों और दर्शन की गंभीर प्रतिबद्धताओं को लेकर आया है। ज्योतिबा



फुले के सामाजिक आंदोलन से इसने प्रेरणा ली है।<sup>26</sup> जिस तरह बुद्ध, फुले और बाबा साहब वर्ण जाति, अमानुषिक व्यवहार, ऊँच-नीच का भेद, स्त्री-पुरुष का भेद, शोषण, दमन, अत्याचार के खिलाफ संघर्ष किया, ठीक उसी तरह दलित साहित्य भी समानता, भाईचारे, मानवीयता, करुण, अहिंसा, प्रेम की बात करता है। इसीलिए दलित साहित्य की आधारभूमि मानवता की आधारभूमि है।

वाल्मीकि जी अपने जीवन में गाँधी, टैगोर का कोई प्रभाव नहीं मानते हैं। मार्क्स के थोड़ा करीब जरूर जाते हैं लेकिन बुद्ध, फुले, और डॉ. अम्बेडकर को पूरी तरह आत्मसात् करते हैं। बहुत ही क्लियरिटी के साथ स्पष्ट शब्दों में कहते हैं— “मेरी रचनाओं में गाँधी और टैगोर का कोई प्रभाव नहीं है। हाँ अम्बेडकर के जीवन-दर्शन और संघर्ष के मूल तत्त्वों का प्रभाव जरूर है। डॉ. अम्बेडकर की 22 प्रतिज्ञाओं से मेरी वैचारिकी भावभूमि तैयार हुई है। मैं साहित्य के लिए वैचारिक प्रतिबद्धता को जरूरी मानता हूँ। क्योंकि लेखन मेरे लिए एक मिशन है और इस मिशन का केंद्र बिन्दु दलित समाज है जिसके लिए मुझे ऊर्जा और प्रेरणा सिर्फ बुद्ध और अम्बेडकर से मिलती है। मार्क्स मेरे लिए मात्र विचार है, जो चीजों को समझने में मेरी सोच को दिशा देता है। लेकिन अंतिम दिशा मुझे बुद्ध और अम्बेडकर से ही मिलती है।”<sup>27</sup>

वाल्मीकि जी में सच्चाई को आत्मसात करने का अपूर्व साहस है। उन्हें किसी का डर-भय नहीं, किसी का पिछलग्गू बनना बिल्कुल पंसद नहीं। बिना किसी लाग-लपेट के बड़े आत्मविश्वास के साथ स्वीकार करना कि मेरी वैचारिक भावभूमि-बुद्ध, फुले और डॉ. अम्बेडकर के जीवन-संघर्ष और जीवन-दर्शन के खाद-पानी से तैयार हुआ है, यह साहस किसी और में नहीं। वाल्मीकि जी दलित साहित्य की मुकम्मल वैचारिकी का आधार इन महापुरुषों की फिलॉसफी की देन तो मानते ही हैं साथ ही साथ यह भी स्पष्ट करते हैं कि बाबा साहब को पढ़ने के बाद गाँधी के प्रति भी दृष्टिकोण साफ हुआ। अपनी आत्मकथा ‘जूठन’ में लिखते हैं— “अम्बेडकर को पढ़ लेने के बाद यह बात समझ में आ गई थी कि गाँधी ने ‘हरिजन’ नाम देकर अछूतों को राष्ट्रीय मुख्यधारा में नहीं जोड़ा, बल्कि हिन्दुओं को अल्पसंख्यक होने से बचाया, उनके हितों की रक्षा की.... यह

धारणा भी उन दिनों पुख्ता हो रही थी कि जो शिक्षा स्कूल कॉलेजों में दी जा रही है, वह किसी भी रूप में हमें राष्ट्रीय नहीं बनाती है, बल्कि कट्टर संकीर्ण हिन्दू बनाती है।<sup>28</sup> इसलिए वाल्मीकि हिन्दू धर्म की संकीर्णता और कट्टरता के घोर विरोधी हैं। इसके बरअक्स वे बुद्ध की नैतिकता को सर्वोपरी स्थान देते हैं— “बुद्ध के धम्म में ‘नैतिकता’ का विशेष स्थान है क्योंकि बुद्ध ने धम्म के दो तत्त्व बताए हैं— प्रज्ञा और करुणा। प्रज्ञा यानी बुद्धि और करुणा यानी प्रेम और मैत्री। इनके बगैर समाज जी नहीं सकता, न रह सकता है, न ही विकास कर सकता है। ये दोनों तत्त्व बुद्ध के धम्म के मूल आधार हैं। ‘मजहब’ और ‘रिलीजन’ की तरह बुद्ध के धम्म में ईश्वर या परमात्मा के लिए कोई स्थान नहीं है लेकिन नैतिकता के लिए विशेष स्थान है। बुद्ध के धम्म में प्रार्थनाओं, तीर्थ-यात्राओं, कर्मकाण्डों, रीति-रिवाजों, बलि-कर्म आदि के लिए भी कोई स्थान नहीं है लेकिन नैतिकता के लिए है। नैतिकता का सीधा सम्बन्ध आदमी से आदमी के बीच मैत्री भाव की आवश्यकता से है। इसमें ईश्वरीय स्वीकृति की कोई गुंजाइश नहीं है। ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए भी नैतिकता की जरूरत नहीं है। यह मनुष्य की अपनी आवश्यकता है कि वह दूसरों से मैत्री करे, तभी उसकी सामाजिकता बनती है।”<sup>29</sup> हिन्दू धर्म और आध्यात्म से उपजी नैतिकता को वाल्मीकि स्वाभाविक, प्राकृतिक नैतिकता की तुलना में सर्वथा कमजोर पाते हैं। उनका मानना है— “प्रकृति से उत्पन्न चेतना अपने ढंग से नैतिकता के मूल्यों का निर्माण करती है जो बाह्य शक्तियों द्वारा उत्पन्न शक्ति से भिन्न और मजबूत होती है।”<sup>30</sup> बाह्य शक्तियों से वाल्मीकि जी का आशय धर्म और वर्चस्ववाद के मजबूत गठबंधन से है। जब चाहा जिस तरह की नैतिकता की जरूरत पड़ी वैसा निर्माण किया और जब अपने विपरीत हुआ तो उसमें अनेक बाध्यताएँ लागू कर दी। जैसे हिन्दू दण्ड विधान में अलग-अलग जातियों के लिए अलग-अलग दण्ड विधान का प्राविधान किया गया था जो निहायत ही पक्षपातपूर्ण और स्वार्थ से भरा था। वाल्मीकि जी इस तरह के कृत्यकर्त्ताओं के कट्टर विरोधी हैं। उनका मानना है कि समाज में दो तरह की नैतिकताएँ हैं एक प्राकृतिक जो अनायास ही मानवीय गुण का हिस्सा बनती है जिसे स्वाभाविक रूप से व्यक्ति अपने जीवन में उतारता है। दूसरा ईश्वर का भय दिखाकर ईश्वरीय मुलम्मा

चढ़ाकर किसी खास वर्ग के स्वार्थपूर्ति के लिए नैतिकता का सायास निर्माण करना, जिसमें निर्णय लेने की क्षमता किसी एक के हाथ में होती है और उसका पालन न चाहते हुए भी करना पड़ता है। इस संदर्भ में कांचा इलैय्या बहुत ही सटीक टिप्पणी करते हैं— “माता—पिता और बच्चों के लिए समानता और नैतिकता कोई दो अलग—अलग बातें नहीं हैं। वे बच्चों को ऊँची जाति के स्वामियों के आगे नतमस्तक होना सिखाते हैं। ऐसा इसलिए नहीं कि ‘मडिग्गा’, चक्काली’ और ‘मांगली’ (सभी दलित बहुजन) माता—पिता में ऊँची जाति के स्वामियों, जमींदारों, ब्राह्मणों या बनियों के प्रति ज्यादा आदर था। अपने रोजगार के छूट जाने के डर से वे ऐसा करते थे।’ वे अपने बच्चों से कहते— ‘मेरे बेटे उस हरामजादे से सावधान रहो, उसके प्रति आज्ञाकारी होने का ढोंग करो, वना वह कमीना हमारे पेट पर लात मार देगा।’ बच्चे आज्ञाकारी होने का ढोंग करते थे, जैसे गाँधीजी गरीब बनने का ढोंग रचते थे।’ छोटी उम्र में ही किए जाने वाला यह ढोंग जीवन भर उनके व्यक्तित्व का हिस्सा बन जाता था। यह एक चित्र है दलित बहुजन के आंतरिक जीवन का, उनकी चेतना और नैतिकता का, जिसे वे वर्चस्ववादियों के प्रति अपने रोजमर्रा के क्रियाकलापों में इस्तेमाल करते हैं।”<sup>31</sup> यह है दूसरी धारा की नैतिकता जिसे जबरदस्ती अप्राकृतिक ढंग से थोपा गया है और डर दिखाकर अमानुषिक कृत्य करवाया जाता है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि पहली धारा की नैतिकता के पैरोकार हैं जिसमें मनुष्य अपनी इच्छानुसार कार्यव्यापार का क्रियान्वयन करता है। उसमें उसकी अपनी स्वतंत्रता होती है न कि डर। ऐसी नैतिकता बहुजनों में पाई जाती है। वाल्मीकि लिखते हैं— “दलित नैतिकता में स्त्री की स्वतंत्र महत्ता है इसके बावजूद वह पितृसत्तात्मकता की चक्की में पिस रही है। हालांकि विधवा विवाह को हमेशा उच्च श्रेणी में रखा लेकिन पितृसत्तात्मकता के दोहरे चरित्र से भी उसे रुबरु होना पड़ा। इस संघर्ष में उसने अपना विरोध प्रकट करने की स्वतंत्रता अपने पास रखी। वह गाली का जवाब गाली से देती है। मारपीट का जवाब मारपीट से देती है। दलितों में पारिवारिक व्यवस्था भी सामूहिकता का एक हिस्सा है। हिंसा का विरोध भी सामूहिक ज्यादा है। यह उनकी चेतना का हिस्सा

है।... दलित नैतिकताएँ ईश्वरीय नहीं हैं। वे रोजमर्रा के जीवन की अच्छाईयों और बुराईयों पर आधारित जीवन की मानवीय संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ हैं। वे ज्यादा लोकतांत्रिक और समाज सापेक्ष हैं, जिन्हें समझना और जानना उस हर एक व्यक्ति के लिए जरूरी है, जो समय के साथ बदलना चाहता है और मानवीय मूल्य के प्रति सजग है।<sup>32</sup> निर्विवाद रूप से यह सत्य है कि दलितों में जो नैतिक मूल्य है, वह बाहरी आवरण से ढका नहीं है बल्कि रोज की दैनंदिनी जीवन में घट रही घटनाओं से निर्मित होती है, जिसमें उस समाज के सुख-दुख, हंसी-खुशी, वेदना-संवेदना, संताप, शोषण, स्वतंत्रता, चेतना आदि समाहित है।

वर्ण-व्यवस्था के खिलाफ, हिन्दू धर्म की मूर्खतापूर्ण कुतर्कों के खिलाफ स्त्रियों और अछूतों के अधिकारों के लिए जिस तर्कशक्ति के साथ बुद्ध, फुले और डॉ. अम्बेडकर ने संघर्ष किया, आंदोलन चलाया, उस आंदोलन की आग में तल्खी और तपिश में तपकर ओमप्रकाश वाल्मीकि की वैचारिक भावभूमि ने आकार-प्रकार ग्रहण किया है। प्रो. रामचंद्र लिखते हैं— “फुले अम्बेडकरवादी विचारधारा से उनकी साहित्यिक दृष्टि विकसित हुई है। विचारधारा से निर्मित उनकी दलित दृष्टि के केन्द्र में वर्णव्यवस्था का खातमा और समतापरक समाज की स्थापना है। इन्हीं दृष्टियों से वे भारतीय समाज, धर्म, सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, साहित्य, कला और सौंदर्य आदि का पर्यवेक्षण कर दलित साहित्य आंदोलन की महत्ता सिद्ध करते हैं। अपमान, असमानता, शोषण के विविध रूपों की जननी हिन्दू धर्म शास्त्रों एवं कृतियों पर चोट ओमप्रकाश वाल्मीकि के साहित्यिक सरोकार हैं।<sup>33</sup>”

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी रचनाओं के माध्यम से हिन्दी साहित्य जगत को न सिर्फ समृद्ध किया है, बल्कि अपने साहित्य में ऐसे पक्षों का उद्घाटन भी किया है जिस पर साहित्य जगत के पुरोधाओं की दृष्टि नहीं गई या यँ कहें कि उस पक्ष को अनदेखा किया गया, उस पर दृष्टिपात करना जरूरी नहीं समझा गया। वाल्मीकि की 19 कविताओं का पहला संग्रह ‘सदियों का संताप’ आया। इस संग्रह में 1974 से 1989 के बीच लिखी गई कविताएँ हैं। ये

उस दौर की कविताएँ हैं जब दलित कविताएँ अपनी पहचान के लिए संघर्ष कर रही थीं। क्योंकि तथाकथित हिंदी साहित्य के पुरोधा इन कविताओं का नोटिस लेने से कतराते थे। इस संग्रह की एक कविता है 'जाति'। इसमें कवि ने जातीयता के घिनौने रूप को उकेरा है। वे लिखते हैं— "एक दलित जिस तरह से 'जाति' के वीभत्स रूप को भोगते हुए बड़ा होता है, उसके मन में जाति को लेकर गहरी वेदना और वितृष्णा भरी होती है। उसके द्वारा निर्मित बड़ी-से-बड़ी मान्यताओं पर भी वह विश्वास नहीं करता है:

"स्वीकार्य नहीं मुझे जाना  
मृत्यु के बाद  
तुम्हारे स्वर्ग में  
वहाँ भी तुम  
पहचानोगे मुझे मेरी जाति से ही।"<sup>34</sup>

ये चंद पंक्तियाँ गहरे अर्थ में गृहीत की हुई हैं। इनके माध्यम से कवि अपनी अभिव्यक्ति के रूप में हिन्दू धर्म की उन सारी मान्यताओं को ध्वस्त करता है, जिनको टूल बनाकर मरने के बाद धर्म के नाम पर, स्वर्ग के नाम पर बेबुनियाद कर्मकाण्ड कराकर पैसा उगाही होती है। इन पाखण्डों को कवि नकारता है। उसकी पीड़ा और क्षोभ दोनों व्यक्त हुआ है, कि जीते जी तो जानवर से बद्तर समझते रहे और मृत्यु के बाद तुम मृत्यु से भी भयावह रूप धारण कर सामने खड़े हो जाते हो स्वर्ग दिलाने के लिए, यह सब षड्यंत्र है पैसा उगाहने का और मनुवादी-व्यवस्था का व्यापार सुचारु रूप से चलाने का।

'बस्स बहुत हो चुका' वाल्मीकि का दूसरा काव्य संग्रह है। इस संग्रह की कविता 'शायद आप जानते हों' के माध्यम से वर्ण-व्यवस्थावादियों को ललकारते हैं, उनकी शुद्धता पर प्रश्न खड़ा करते हैं—

"तुम्हारे रचे शब्द,  
तुम्हें डसेंगे साँप बनकर,  
गंगा किनारे कोई वट वृक्ष ढूँढ़ लो कर लो भागवत का पाठ,  
आत्म संतुष्टि के लिए,  
कहीं अकाल मृत्यु के बाद भयभीत आत्मा,

भटकते-भटकते,  
किसी कुत्ते या सुअर की मृत देह में प्रवेश न कर जाय,  
या फिर पुनर्जन्म की लालसा में,  
किसी डोम या चूहड़े के घर पैदा न हो जाय,  
चूहड़े या डोम की आत्मा,  
ब्रह्म का अंश क्यों नहीं?,  
मैं नहीं जानता,  
शायद आप जानते हो।<sup>35</sup>

ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी कविताओं को शब्दों का खेल नहीं जीवन का मिशन मानते हैं, एक आंदोलन मानते हैं—

अच्छा ही हुआ,  
  
मैं नहीं जन्मा,  
उच्च वर्गीय माँ के गर्भ से,  
.....,  
.....,  
.....,  
मरते-मरते मेरा बाप,  
थमा गया,  
मेरे हाथ में कलम,  
झाड़ू की जगह,  
कालग्रस्त अँधेरों की सिसकियाँ,  
और मुक्ति का घोषणा-पत्र,  
लिखने के लिए।<sup>36</sup>

—‘अच्छा ही हुआ’, ‘अब और नहीं’ संग्रह से।

वाल्मीकि की कविताएँ उस काबिलियत को उजागर करती हैं, जिसकी बदौलत बड़े-बड़े लोग अपनी शान-ओ-शौकत बघारते हैं और बाद में उसी को हिकारत की नज़र से देखते हैं—

“लोहा लंगड़,  
 गारा—सीमेंट,  
 ईट पत्थर सभी पर है स्पर्श हमारा,  
 लगे हैं जो घरों में आपके,  
 फिर भी बना दिया आपने,  
 हमें अछूत और अन्त्यज,  
 भंगी—डोम—चमार,  
 माँग—पासी और महार।”<sup>37</sup>

—‘विरासत’, ‘अब और नहीं’ संग्रह से।

उनकी चौथी और अंतिम कविता संग्रह है ‘शब्द झूठ नहीं बोलते’, जो 2011 में अनामिका पब्लिकेशन, नई दिल्ली से छपी हैं। उनकी कविताएँ भारतीय समाज में व्याप्त ऊँच—नीच के भेद—भाव पर प्रहार करती हैं और साथ ही साथ हिन्दू धर्म, दर्शन तथा उसकी मान्यताओं को तार—तार उघाड़ती हैं। जिस भगवान की उपस्थिति हिन्दू धर्म दर्शन कण—कण में दर्ज कराता है, वही भगवान क्यों दलितों के छूनेभर से अपवित्र हो जाता है। इस खोखलेपन की शिनाख्त वाल्मीकि की कविताएँ बखूबी करती हैं।

1997 में वाल्मीकि जी की बहुत ही महत्त्वपूर्ण रचना ‘जूठन’ आई जिसकी वजह से न सिर्फ वाल्मीकि की पहचान विश्वपटल पर बनी बल्कि हिंदी साहित्य जगत में एक नये विमर्श की चर्चा शुरू हुई। उनकी आत्मकथा ‘जूठन’ सिर्फ वाल्मीकि की कथा—व्यथा नहीं कहती है, वह उस पूरे समाज की कथा—व्यथा, पीड़ा सुनाती है, जिसे जूठन पर पलने के लिए मजबूर किया गया। भारतीय समाज में ऐसी विषमतामूलक व्यवस्था की स्थापना की गई है, जिसमें असंख्य बेबुनियादी रीति—रिवाज, परंपरा, प्रथा विद्यमान हैं जो मानवीय—गरिमा को धूलधूसरित करती रहती हैं। ‘जूठन’ में वाल्मीकि ने इन्हीं वाहियात् प्रथाओं की पोल खोली है। उन्हीं प्रथाओं में से एक प्रथा है जूठन उठाना और खाना। ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं— “शादी—ब्याह के मौके पर जब मेहमान या बाराती खाना खा रहे होते थे तो चूहड़े दरवाजों के बाहर बड़े—बड़े टोकरे लेकर

बैठे रहते थे। बारात के खाना खा चुकने पर झूठी पत्तलें उन टोकरो में डाल दी जाती थीं, जिन्हें घर ले जाकर वे जूठन इकट्ठी कर लेते थे। पूरी के बचे खुचे टुकड़े, एक आध मिठाई का टुकड़ा या थोड़ी बहुत सब्जी पत्तल पर पाकर बांछें खिल जाती थीं। जूठन चटखारे ले कर खाई जाती थी। जिस बारात की पत्तलों से जूठन कम उतरती थी कहा जाता था कि भुक्खड़ अर्थात् भूखे लोग आ गये हैं। बारात में जिन्हें कभी खाने को कुछ नहीं मिला। सारा चट कर गए। अक्सर ऐसे मौकों पर बड़े-बूढ़े ऐसी बारातों का जिक्र बहुत ही रोमांचक लहजे में सुनाया करते थे कि उस बारात में इतनी जूठन आई थी कि महीनों तक खाते रहे थे।<sup>38</sup> इतनी घृणित और मानसिकता को चूर-चूर कर देने वाली प्रथा का निर्माण किसी दलित ने नहीं किया है तथाकथित इस देश के सभ्य कहे जाने वाले हिन्दुओं ने किया है। अपनी माँ और जूठन से जुड़ी एक घटना का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं— “बारात खाना खा रही थी। माँ टोकरा लिए दरवाजे से बाहर बैठी थी। मैं और मेरी छोटी बहन माया माँ से सिमटे बैठे थे। इस उम्मीद कि भीतर से जो मिठाई और पकवानों की महक आ रही है, वह हमें भी खाने को मिलेगी। जब सब लोग खाना खाकर चले गये तो मेरी माँ ने सुखदेव सिंह त्यागी को दालान से बाहर आते देखकर कहा “चौधरी जी ईब तो सब खाणा खाके चले गये... म्हारे जातको (बच्चों) कू भी एक पत्तल पर धर के कुछ दे दो। वो बी तो इस दिन का इंतजार कर रे ते।

सुखदेव सिंह ने जूठी पत्तलों से भरी टोकरी की तरफ इशारा करके कहा “टोकरा भर तो जूठन ले जा री है... उप्पर से जातकों के लिए खाणा मांग री है? आपणी औकात में रह चूहड़ी! उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बन।”

सुखदेव सिंह त्यागी के वे शब्द मेरे सीने में चाकू की तरह उतर गए थे, जो आज भी अपनी जलन से मुझे झुलसा रहे हैं।

उस रोज मेरी माँ की आँखों में दुर्गा उतर आई थी। माँ का वैसा रूप मैंने पहली बार देखा था। माँ ने टोकरा वहीं बिखेर दिया था। सुखदेव सिंह से कहा था, “इसे ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला



देगा...” हम दोनों भाई-बहनों का हाथ पकड़ के तीर की तरह उठकर चल दी थी। सुखदेव सिंह माँ पर हाथ उठाने के लिए झपटा था लेकिन मेरी माँ ने शेरनी की तरह सामना किया था। बिना डरे। उसके बाद माँ कभी उनके दरवाजे पर नहीं गई और जूठन का सिलसिला भी उस घटना के साथ बंद हो गया था।<sup>39</sup>

दलित स्त्रियों की परंपरा रही है अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाना और स्वाभिमान से जीना। आज भी दलित महिलाएँ ईंट-भट्टों पर, सड़कों पर, खेतों में बड़ी-बड़ी ईमारत बनाने में अपने पुरुषों के साथ कंधा से कंधा मिलाकर बराबर की मेहनत मजदूरी करती हैं और पुरुष यदि उटपटांग हरकत करता है तो उससे हाथापाई करती है। यह संस्कृति और साहस सिर्फ बहुजन महिलाओं में दिखाई देता है तथाकथित सवर्ण महिलाओं में नहीं। वाल्मीकि की माँ जूठन लेने ऐसे ही नहीं गई थी, उनके पति ने दिन-रात हाड़तोड़ मेहनत किया था कि शादी ठीक-ठाक से बीत जाए, सुखदेव सिंह की इज्जत खराब न हो। जब उनके साथ घृणित व्यवहार होता है तो अपना स्वाभिमान जागृत हो उठता है। उन्हें यह चिंता नहीं रहती कि बच्चे भूखे रह जायेंगे या परिवार में फाँके पड़ेंगे। उनके लिए उनकी अस्मिता और स्वाभिमान सर्वोपरी हो जाता है।

बचपन की घटनाएँ जब वाल्मीकि पन्नों पर उकेरते हैं तो उनका रोम-रोम दर्द से कराह उठता है। वे लिखते हैं- “जूठन’ के लेखन के दौरान जिस तरह से अनुभव हुए, वे यह सिद्ध करने के लिए काफी हैं कि दलित आत्मकथा-लेखकी प्रक्रिया कितनी कष्टदायक है। तमाम कष्टों, यातनाओं, उपेक्षा, प्रताड़नाओं को फिर से जीना पड़ता है। उस दौरान गहरी मानसिक यंत्रणाएँ मैंने भोगी हैं। स्वयं को परत-दर-परत उधेड़ते हुए कई बार लगा कितनी दुःखदायी है यह सब। कुछ लोगों को यह अविश्वसनीय और अतिरंजनापूर्ण लगता है।<sup>40</sup>

ऐसे बहुत से नामधीन साहित्यकार और लेखक हैं, जो दलित आत्मकथाओं को रोने-धोने का ब्यौरा मानते हैं। असल में वे ऐसा मानकर बहुत बड़ी सामाजिक सच्चाई को सामने आने का विरोध करते हैं जबकि उन्हें भी पता है

कि हिन्दू वर्णवादी व्यवस्था ने दलितों पर कितना अत्याचार किया है, कितना शोषण किया है कितनी यातनाएँ दी हैं? इन्हीं सब का जीवंत दस्तावेज है दलित आत्मकथाएँ। इन आत्मकथाओं पर विभिन्न लोगों के अलग-अलग विचार हैं जिसमें से कुछ का उल्लेख करना जरूरी है।

बजरंग बिहारी तिवारी का कहना है— "आत्मकथा 'जूठन' से गुजरना वस्तुतः उस समाज से गुजरना है, जिसमें घृणा वरेण्य है, शोषण नैतिक है, दमन जायज है, असमानता स्वीकृत है और अत्याचार का अंतहीन सिलसिला है। इन सबको दार्शनिक आधार भी प्राप्त हैं इसलिए ये हमें कचोटते नहीं। इनका नैरन्तर्य हमें गर्व का एहसास कराता है। इससे व्यवस्था की सनातनता पुष्ट होती है। 'जूठन' आत्मकथा' इस सनातन की पोल खोलती है, 'गर्व' को 'शर्म' में तब्दील कर देती है और दार्शनिक आधार के झूठेपन को बेपर्दा कर जाती है। बचपन से लेकर आज तक जिन दृश्यों, घटनाओं कृत्यों को हमने सहज माना है, वे हमें असहज, अमानवीय और कुकृत्य लगने लगते हैं। संस्कारों से भीषण लड़ाई शुरू होती है। हम अपने को कभी संस्कारहीन, तो कभी कुसंस्कारित मानने लगते हैं। सच्चाई का दमकता रूप ऊहापोह तो पैदा ही करता है।"<sup>41</sup> इसलिए दलित आत्मकथाएँ न तो उपन्यास है और न ही रोने-धोने का ब्यौरा। दलित आत्मकथाओं को उपन्यास कहना एक गहरे साजिश का परिचायक है क्योंकि उपन्यास कल्पनाधारित होता है और आत्मकथा यथार्थ आधारित। इसलिए उपन्यास की उपमा देकर दलित आत्मकथाओं की यथार्थता को छिन्न-भिन्न करने का षडयंत्र है। दूसरी बात इसमें सिर्फ लेखक रोना नहीं रोया, उस पूरे समाज का दुख-सुख, हर्ष-उल्लास वेदना-पीड़ा, करुणा-प्रेम, राग-विराग, खान-पान, रीति-रिवाज संस्कृति तथा मानव द्वारा मानव पर किये गए घृणित व्यवहार, शोषण, दमन, अत्याचार, धार्मिक वितंडतावाद का इन्साइक्लोपीडिया प्रस्तुत किया है, जिसमें उसे अपनी अस्मिता के साथ जीने का हक छिन लिया गया और इतिहास का हिस्सा नहीं बनने दिया गया। दलित आत्मकथाएँ ऐसी ऐतिहासिक साहित्य विधा है जिसमें पूरे समाज का चेहरा बिल्कुल साफ हो गया है।

भगवानदास ने एक जगह कहा था— “आत्मकथा लिखना दलितों के लिए फायदेमन्द होगा, क्योंकि इस तरह न केवल इतिहास जिंदा रहेगा, बल्कि वे अनुभव भी जिंदा रहेंगे जो गलत काम करने वालों की सही तसवीर तथा भविष्य में प्रेरणा देने का स्रोत बन सकेंगे।”<sup>42</sup>

कांचा ऐलरिया का कहना है— “आत्मकथा ऐसा लेखन है जो व्यक्तिगत अनुभव से उपजा हो, आश्चर्यजनक ढंग से सच्चाई को सामने लाता है... अम्बेडकर और पेरियार ने दलित बहुजन समाज के रोजाना के अनुभवों को वाणी दी है और उन पर लिखा है। मेरा यह मत है कि यह एक मात्र संभावित और वास्तव में सबसे अधिक प्रामाणिक तरीका है, जिसमें इतिहास का ध्वंस और पुनर्निर्माण किया जा सकता है।”<sup>43</sup> इस तरह दलित आत्मकथाएँ एक सशक्त विधा बनकर उभरी हैं जिसकी प्रामाणिकता स्थापित हो चुकी है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा ‘जूठन’ का दूसरा खण्ड ‘जूठन दूसरा खण्ड’ नाम से 2015 में प्रकाशित हुई है। इसके अलावा इनकी कुछ आलोचनात्मक एवं समाजशास्त्रीय अध्ययन से सम्बन्धित भी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जिसमें महत्वपूर्ण हैं— ‘दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र’ ‘सफाई देवता’, ‘मुख्यधारा और दलित साहित्य’, ‘दलित साहित्य: अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ’। इनकी तीन कहानी संग्रह ‘सलाम’, ‘घुसपैटिए’ और ‘छतरी वाला’ प्रकाशित है। इन कहानियों का विश्लेषण विस्तार से आगे किया जायेगा। ओमप्रकाश वाल्मीकी ने न सिर्फ दलित साहित्य में, बल्कि हिंदी साहित्य जगत को समृद्ध बनाने में महत्ती भूमिका निभाई है जो हमेशा इतिहास में याद किया जायेगा।

## संदर्भ—सूची

- 1 दलित साहित्य अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ— ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.15
- 2 वही. पृ.16
- 3 जूठन— ओमप्रकाश वाल्मीकि, भाग एक, पृ.11
- 4 वही. पृ.12
- 5 वही. पृ.88
- 6 वही. पृ.89
- 7 दलित साहित्य की विकास यात्रा : ओमप्रकाश वाल्मीकि के साक्षात्कार, डॉ. राम चंद्र, पृ.9
- 8 वही. पृ.144
- 9 वही.
- 10 दलित साहित्य अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ, पृ.18
- 11 मुख्यधारा और दलित साहित्य— ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.12
- 12 जूठन, पृ.54
- 13 मुख्यधारा और दलित साहित्य— ओमप्रकाश वाल्मीकि पृ.74
- 14 दलित साहित्य अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ, पृ.25
- 15 मुख्यधारा और दलित साहित्य, पृ.12
- 16 वही. पृ.16
- 17 वही. पृ.68
- 18 ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में सामाजिक लोकतांत्रिक चेतना—  
सम्पादक—हरपालसिंह'अरुष', पृ. 'कुछ शब्द' से
- 19 वही.
- 20 दलित साहित्य की अवधारणा— कंवल भारती, पृ.72
- 21 वही. पृ.77—78
- 22 मुख्यधारा और दलित साहित्य— ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.30
- 23 वही. पृ.69
- 24 वही. पृ.33
- 25 वही. पृ.53
- 26 दलित साहित्य की विकास—यात्रा, ओमप्रकाश वाल्मीकि के साक्षात्कार— डॉ. राम चंद्र, पृ.  
31
- 27 वही. पृ.46

- 28 दलित साहित्य के प्रतिमा— डॉ. एन. सिंह, पृ.184
- 29 मुख्यधारा और दलित साहित्य— ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.56—57
- 30 वही. पृ.60
- 31 वही. पृ.58—59
- 32 वही. पृ.60—61
- 33 दलित साहित्य की विकास—यात्रा, ओमप्रकाश वाल्मीकि के साक्षात्कार— डॉ. राम चंद्र, पृ.8
- 34 दलित साहित्य: अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ— ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.26
- 35 दलित साहित्य के प्रतिमान— डॉ. एन सिंह, पृ.109
- 36 दलित साहित्य: अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ— ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.27—28
- 37 वही. पृ.29—30
- 38 जूठन— ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.19
- 39 वही. पृ.21
- 40 दलित साहित्य: अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ— ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.49
- 41 वही. पृ.50
- 42 वही. पृ.52
- 43 वही.

## चौथा अध्याय

### विवेच्य कहानियों में वर्णित दलित जीवन, स्त्री जीवन एवं चेतना के विविध स्वरूप

आधुनिक हिंदी कथा साहित्य के कथा सम्राट प्रेमचंद पहले गैर-दलित साहित्यकार हैं, जिन्होंने दलित जीवन से जुड़ी समस्याओं को अपनी लेखनी का विषय बनाया साथ ही साथ साहित्य के सामाजिक उद्देश्य को भी निर्धारित किया। इनकी कहानियाँ विशेष काल-खण्ड के अन्तर्गत भारतीय समाज में किसान, मजदूर, स्त्री, शोषितों, वंचितों के साथ हो रहे अन्याय एवं अत्याचार को कमोबेश यथार्थ के धरातल पर चित्रित करती हैं। इनकी प्रगतिशील सोच और विचारधारा ही इनके समकालीन साहित्यकारों से अलग करती है। विगत कुछ वर्षों से प्रेमचंद की दलित संदर्भित कहानियों पर जिस तरह से विचार-विमर्श हो रहे हैं उसके मूल में दलित साहित्य के सरोकार हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी के रचना-कर्म के बाद जिस तरह कबीर मुख्यधारा के साहित्य में एक नई विचारधारा के रूप में प्रासंगिक हो उठे, उसी प्रकार दलित साहित्य आने के बाद प्रेमचंद भी साहित्यिक धारा में पुनः नए रूप में जीवंत हो उठे हैं। दलित विमर्श ने प्रेमचंद को फिर से अलग परिप्रेक्ष्य से शोध की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया है, जिसमें उनकी प्रासंगिकता नई दृष्टि की मांग कर रही है। बीस के दशक में जब पूरे देश में स्वराज प्राप्ति ही एक मात्र लक्ष्य था, उस समय बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर ऐतिहासिक रूप से पहली बार दलितों की समस्या को राजनीतिक फलक पर उठाते हैं और प्रेमचंद थोड़ी-बहुत बाबा साहब के आंदोलन से प्रभावित होकर दलित समस्या को साहित्य से जोड़ते हैं। वीरेन्द्र यादव लिखते हैं—“प्रेमचंद ने भारतीय समाज के जिन ज्वलंत मुद्दों को अपने कथा साहित्य में केन्द्रीयता प्रदान की थी, वे आज अधिक ज्वलंत और विकराल रूप में हमारे सामने मौजूद हैं। किसान, दलित और स्त्री के प्रश्न हों या साम्प्रदायिकता का मुद्दा प्रेमचंद के समय में ये जितने प्रासंगिक थे, उससे कहीं अधिक ज्वलंत और प्रासंगिक आज हैं। इन

मुद्दों को साहित्य की विषयवस्तु बताकर सचमुच प्रेमचंद ने 'सुन्दरता की कसौटी' बदली थी। अपने देशकाल में प्रेमचंद की यह पहलकदमी जोखिम भरी थी, क्योंकि आचार्य रामचंद्र शुक्ल तक ने हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखते हुए इसे 'समाज सुधारक' और 'प्रोपेगेंडिस्ट' करार देकर अपनी असहमति व्यक्त की थी।"<sup>1</sup>

अपने समकालीन परिस्थितियों की दृष्टि से प्रेमचंद ने वर्चस्ववादियों से खतरे मोल लिए थे। कुछ तथाकथित अभिजात्य वर्ग के लोगों ने उन पर आरोप भी लगाया कि 'प्रेमचंद ब्राह्मणों का काला चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं।' प्रेमचंद ऐसे लोगों को पलटकर तीखे शब्दों में उत्तर भी देते हैं— "हिंदू जाति का सबसे घृणित कोढ़, सबसे लज्जाजनक कलंक यही टके पंथी दल है, जो एक विशाल जोंक की भाँति उनका खून चूस रहा है। हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग पर यही सबसे बड़ी बाधा है। ...हमारा आदर्श सदैव से यह रहा है कि जहाँ धूर्तता, पाखण्ड और सबलों द्वारा निर्बलों पर अत्याचार देखो, उसको समाज के सामनो रखो, चाहे हिन्दू हो, पंडित हो, बाबू हो, मुसलमान हो या कोई हो। हमारा स्वराज केवल विदेशी जुए से अपने को मुक्त करना नहीं है बल्कि सामाजिक जुए से भी, इस पाखण्डी जुए से भी, जो विदेशी शासन से कहीं अधिक घातक है।"<sup>2</sup> निश्चित रूप से प्रेमचंद की यह वैचारिक देन है कि उन्होंने हिन्दी साहित्य में उन व्यक्तियों का जीवन प्रस्तुत किया जो साहित्य की परिधि से बाहर समझे जाते थे। इसलिए प्रेमचंद अपने समय के प्रगतिशील लेखकों से आगे की सोच रखते थे और समकालीन लेखकों में सबसे ज्यादा प्रतिबद्ध तथा सामाजिक सरोकार वाले कथाकार थे। लेकिन आज के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो परिस्थितियाँ बदली हैं और दलितों के जीवन में बहुत कुछ परिवर्तन आए हैं। उन परिवर्तनों को ध्यान में रखकर ही प्रेमचंद की कहानियों को पढ़ने की जरूरत है। यह भी जरूरी है कि उस समय देश-दुनिया या समाज में जो कुछ भी चल रहा था यदि उससे प्रेमचंद ने आँखें चुराई हों तो उस पर सवाल जरूर उठने चाहिए।

जातिवाद की समस्या भारतीय समाज की रीढ़ है। जब से दलित विमर्श साहित्य के केन्द्र में आया है, तब से प्रेमचंद के साहित्य को लेकर गहमा-गहमी मची हुई है। कुछ साहित्यकार एवं आलोचक ऐसे हैं जो प्रेमचंद को दलित विमर्श से जोड़कर देखते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो इनकी लेखनी पर प्रश्नचिन्ह भी खड़ा करते हैं।

प्रेमचंद और ओमप्रकाश वाल्मीकि के बीच समय का बहुत बड़ा अंतराल रहा है, लेकिन विषयवस्तु के आधार पर दोनों का तुलनात्मक अध्ययन समीचीन है। प्रेमचंदी समय की समाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और शैक्षणिक परिस्थितियाँ निश्चित रूप से वाल्मीकि की तथा आज की परिस्थितियों से भिन्न रही होंगी, लेकिन दलित विषयक दृष्टिकोण से देखने पर बहुत कुछ जस-का-तस ही दिखाई देता है, जैसा पहले था। बल्कि आज ज्यादा पैनी रूप से समाजव्यवस्था में जाति व्यवस्था अपना काम कर रही है। समय की दृष्टि से दोनों साहित्यकारों का लेखकीय जीवन काफी उथल-पुथल का काल रहा है। प्रेमचंद के समय में औपनिवेशिक समस्या, स्वतंत्रता आंदोलन, नवजागरण, कांग्रेसी विचारधारा, बाबा साहब और गाँधी जी का आंदोलन, साहित्यिक क्षेत्र में छायावादी रूप, प्रगतिशीलता आदि आंदोलन, प्रमुखता से चल रहे थे। वाल्मीकि के लेखन काल में स्त्री विमर्श, दलित-विमर्श और आदिवासी-विमर्श अपने जोरों पर था। दोनों की कहानियाँ ग्रामीण एवं नगरीय दोनों पृष्ठभूमि से जुड़ी हुई हैं। दलित जीवन से जुड़ी प्रेमचंद की कहानियों के अनेक रूप हैं। कुछ कहानियों में दलित समस्या सीधे-सीधे उभरकर सामने आई है तथा कुछ में अप्रत्यक्ष रूप से।

ओमप्रकाश वाल्मीकि हिन्दी साहित्य के ऐसे साहित्यकार हैं जिन्होंने दलित साहित्य को एक नई दिशा दी है। इनका कथा साहित्य हजारों-हजार साल से हाशिए पर डाले गये शोषितों, वंचितों, उपेक्षितों के दुःख-दर्द का जीवंत दस्तावेज है। इनकी कहानियों को पढ़कर पाठक के मन में भारतीय समाज-व्यवस्था के प्रति क्षोभ उत्पन्न होता है। इन कहानियों का मुख्य स्वर



दलित चेतना का स्वर है। अंधविश्वासों, रूढ़ियों, धार्मिक पाखण्डों और ऊँच-नीच की दीवारों को ध्वस्त करती हुई ये कहानियाँ ऐसे समाज की स्थापना करना चाहती हैं जो समता, स्वतंत्रता और बंधुता पर आधारित हों।

प्रो. राम चंद्र के शब्दों में— "ओमप्रकाश वाल्मीकि के यहाँ साहित्य की शुरुआत घनीभूत वेदना से होती है। यहाँ वर्ण-व्यवस्था से उपजा संत्रास है, जिसका भुक्तभोगी स्वयं लेखक ही है। वे जिस परिवेश में पले और जिन यातनादायी क्षणों से उन्हें गुजरना पड़ा वह कितना भयावह और अंधकारमय था; स्वयं उन्हीं के शब्दों में "चारों तरफ गंदगी भरी होती थी ऐसी दुर्गंध कि मिनट भर में सांस घुट जाए। तंग गलियों में घूमते सूअर, नंग-घड़ंग बच्चे, कुत्ते, रोजमर्रा के झगड़े, बस यह सब था वह वातावरण जिसमें बचपन बीता। इस माहौल में यदि वर्ण-व्यवस्था को आदर्श-व्यवस्था कहने वालों को दो-चार दिन रहना पड़ जाए तो उनकी राय बदल जाएगी।"<sup>3</sup> यही हकीकत है भारतीय हिंदू सभ्यता की जिसे प्रेमचंद ने भी देखने की कोशिश की है।

प्रेमचंद की दलित जीवन और समस्याओं से जुड़ी कहानियाँ 'घासवाली' कहानी संग्रह से ली गई हैं, जिसके संकलनकर्ता और संपादक राजीवरंजन गिरि हैं। उनकी भी यही राय है कि प्रेमचंद की दलित विषयक कहानियाँ डॉ. अंबेडकर के आंदोलन की उपज हैं। उन्हीं के शब्दों में— "प्रेमचंद की दलित जीवन और सवालों से जुड़ी जिन कहानियों को शिद्दत से याद किया जाता है, सारी भारतीय राजनीति में डॉ. अंबेडकर की सक्रियता के बाद की हैं। ... दलित जीवन से सम्बन्धित प्रेमचंद की सभी रचनाओं में दो बातें समान हैं— दलित पात्रों की आर्थिक और सामाजिक बदहाली। इनकी आर्थिक बदहाली इस सामाजिक व्यवस्था की अनिवार्य परिणति है। आर्थिक और सामाजिक बदहाली दोनों का अनिवार्य रिश्ता है। प्रेमचंद के पात्र इन दोनों शोषण के शिकार हैं। दोनों से निकले बगैर इनकी हालत में सुधार संभव नहीं है। इनकी कहानियों के दलित पात्रों में पुरुषों की तुलना में स्त्रियाँ साहसी एवं जुझारू हैं। ...प्रेमचंद की कहानियों के दलित पात्र दो तरह के हैं। एक वे जो

ब्राह्मणवादी मान्यताओं में पूरी तरह रचे-बसे हैं। दूसरे वे जो इसका प्रतिरोध करते हैं। इनके यहाँ प्रतिरोध कई तरह के हैं। कुछ प्रतिरोध सीधे-सीधे आया है तो कुछ गौण रूप में।”<sup>4</sup>

इस संग्रह की पहली कहानी ‘दोनों तरफ से’ है। यह कहानी उर्दू मासिक पत्रिका ‘जमाना’ में 1911 में छपी थी। इस कहानी का पूरा ताना-बाना ब्राह्मण दम्पति को केंद्र में रखकर बुना गया है। इसके मुख्य पात्र पंडित श्यामसरूप पटना के एक नौजवान वकील हैं तथा मुख्य स्त्री पात्र इनकी बीवी कोलेसरी देवी हैं। पंडित जी ने अछूतों के सुधार के लिए एक छोटा सा संगठन बनाया है जिसमें अपने फुर्सत के पलों का इस्तेमाल करते हैं। सामाजिक रीति-रिवाज के अनुसार पंडित जी की पत्नी को गाँव की औरतें ताना मारती हैं कि ‘तुम्हारा पति अछूतों के यहाँ जाता है, खाता-पीता है। तुम लोगों का नेम-धरम सब भ्रष्ट हो गया है।’ इस ताने से पंडिताइन कोलेसरी दुःखी होती हैं, इसी संदर्भ में कहानी विस्तार लेती है। इस विस्तार में पंडित-पंडिताइन दोनों अन्त में हीरो बनकर उभरते हैं। कहानी पूरी तरह से आदर्शात्मक है। दाम्पत्य प्रेम के आगे छुआछूत जैसी गंभीर समस्या दम तोड़ती नजर आती है। पति पत्नी का प्रेम मुख्य और महत्त्वपूर्ण हो गया है, दलित समस्या गौण पड़ गई है। कहानी के शुरू में पंडित श्यामसरूप चमारों और सफाई कर्मियों के घर में जाकर गुप्तगू करते हैं— “अछूत जातों के सुधार की एक छोटी-सी अंजुमन खोल रखी थी और अपने वक्ते-फुर्सत और आमदनी का एक छोटा हिस्सा इस पुण्य काम की नजर करते थे। शाम हुई कचहरी से आये, कुछ नास्ता किया, बाईसिकिल उठाई और शहर से सटे देहातों में जा पहुँचे। वहाँ कहीं चमारों के साथ बैठे बात कर रहे हैं, कहीं डोमों के बीच में बैठे हैं और उनसे उनकी ठेठ बोली में आचरण के बारे में गुप्तगू छिड़ी हुई है। उनके बच्चों को गोद में लेते हैं, प्यार करते हैं।”<sup>5</sup> प्रेमचंद ब्राह्मण को इस कहानी में मानवता की सर्वोच्च शिखर पर खड़ा कर निरा आदर्श को स्थापित करना चाहते हैं क्योंकि वास्तविक रूप में ऐसा संभव

नहीं था। इसकी स्त्री पात्रा कोलेसरी आदर्शवादी भारतीय हिन्दू नारी के रूप में सामने आती है। सारी समस्याओं की जड़ खुद को मानती है। कलुषित विचार उसके मन में आया कैसे? इसकी वजह वह औरत जाति में ही ढूँढ़ती है। अपने पति को नेक काम से रोकने का दोषी भी वह अपने को ही मानती है। प्रेमचंद की स्त्री पात्र अपने को कैसे आंकती है। इसकी एक बानगी— “मैं कैसी खुदगर्ज हूँ! कैसी कमीनी, कैसी ओछी, एक बदज़बान, क्षुद्र प्रकृति औरत के ताने से पराजित होकर मैंने उन पर इतना बड़ा जुल्म किया है! यह मेरे लिए अपने ऊपर इतना ज़ब्र करते हैं और मैं एक ताने का सदमा न सह सकी। ...मैंने इनके ऊपर कितना जुल्म किया है। हाय! इनके दिल पर आज क्या गुज़री होगी? जिसने जिन्दगी भर झूठी बात मुँह से न निकाली, उसे आज मेरी बदौलत झूठ को ओढ़ना—बिछौना बनाना पड़ा। अगर उन्होंने झूठ बोलना गवारा किया होता, तो आज दीदारगंज की विशाल रियासत हमारे कब्जे में होती। ऐसी सच्चाई के नाम पर मरने वाले आदमी की मैंने यह दुर्गति की है। ...सिर्फ इसलिए कि एक बदज़बान औरत ने मुझे ताना दिया था और इतने पर सन्तुष्ट न होकर अब मैं उन्हें जबरदस्ती झूठ बोलने के लिए मजबूर करती हूँ। बावजूद मेरी इन कमीनी ज्यादातियों के इस नेकी से भी ज्यादा नेक, शराफ़त से भी ज्यादा शरीफ़, मेरे रहमदिल, मेरे पवित्र आत्मा पति का दिल ज्यों का त्यों है। ...मैं कैसी तंगदिल हूँ! इस काबिल भी नहीं कि उनका पैर धोऊँ। ...मैं सिर से पैर तक बुराईयों से भरी हूँ। मैं ओछी हूँ। तुम मुझे अपने प्रेम में दासी समझते रहना।”<sup>6</sup> पूरी तरह से यह कहानी ब्राह्मण दाम्पत्य प्रेम आदर्श की पराकाष्ठा पर टिकी हुई है। जबरन अछूत की समस्या घुसेड़ी हुई लगती है। कालेसरी पूरी की पूरी पति परायण स्त्री है। पंडित श्यामसरूप भी पत्नी प्रेम में इतने आसक्त हैं कि बिना कुछ विचार—विमर्श किये अछूतों के घर जाना—आना छोड़ देते हैं। बीच की पूरी कहानी पंडिताइन के बीमार होने से लेकर डॉक्टर, वैद्य, अछूतों का इनके घर आने के बीच बहुत ही ह्यूमरस वातावरण का निर्माण करती है। अन्त में पंडिताइन का हृदय परिवर्तन हो जाता है और खुद अछूतों को अपने घर बुलाकर बहनापे का

रिश्ता कायम करती है। 1911 में यह कहानी छपी थी। उस समय अछूत समस्या ज्यादा विकराल थी अछूतों को छूना मना था। ऐसे में एक ब्राह्मणी उनसे बहनापे का रिश्ता बना रही है यह बात हकीकत से दूर नजर आती है। ऐसा संभव नहीं था यह प्रेमचंद की आदर्शात्मक कल्पना है। कहानी के अन्त में पंडित श्यामसरूप कहते हैं— “अभी दो हफ़ते हुए तुम्हीं ने इन लोगों से मिलने से मना किया था। आज तुम उन्हें बहन समझ रही हो। तब तुम्हारा दाँव था, अब मेरा दाँव है।” कोलेसरी (हँसकर), “तुमने मुझे फसाने के लिए जाल फैलाया था।” पंडितजी, “यह जाल दोनों तरफ़ से फैला हुआ है।”<sup>7</sup> दोनों तरफ़ से शीर्षक के माध्यम से भले ही दलित समस्या को लाने की कोशिश की गई है, लेकिन पूरी कहानी को पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि पूरा ताना-बाना पति-पत्नी प्रेम स्वांग पर आधारित है। ‘दोनों तरफ से’ जो जाल है, वह सामाजिक रूप से कमजोर और प्रेम के रूप में सशक्त दीख रहा है।

दलित समस्या से जुड़ी दूसरी कहानी ‘सिर्फ एक आवाज़’ ‘जमाना’ पत्रिका, अगस्त-सितम्बर 1913 में छपी थी। कहानी की शुरुआत चन्द्रग्रहण लगने से ठीक पहले सुबह के वातावरण में धार्मिक पृष्ठभूमि को आधार बनाकर लिखी गई है। रोचक तथ्य यह है कि इसमें भी कोई दलित पात्र नहीं है। इसके मुख्य पात्र ठाकुर दर्शन सिंह हैं जो ग्रहण लगने पर गंगा स्नान के लिए अपनी पत्नी ठाकुराइन के साथ जाने की तैयारी कर रहे हैं। गन्तव्य स्थान पर पहुँचने पर एक संन्यासी द्वारा दलित समस्या पर दिये जा रहे भाषण को सुनते हैं और बाकी बचे हुए जीवन में उन समस्याओं का हल ढूँढ़ने के लिए अपने को समर्पित करते हैं। इस कहानी पर आर्य समाजियों द्वारा चलाये गये आन्दोलनों का प्रभाव है। पहले प्रेमचन्द भी आर्य समाजी थे।

राजीव रंजन गिरि के शब्दों में— “इस दौर में प्रेमचंद सामाजिक मुद्दों पर आर्यसमाजी सुधार चेतना से प्रभावित थे और राजनीति में बालगंगाधर तिलक से। प्रेमचंद ही नहीं गणेश शंकर विद्यार्थी सहित उस दौर के ज्यादातर

मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी इन दोनों से प्रभावित थे। 'सिर्फ एक आवाज में आर्य समाज सुधार चेतना' की झलक मिलती है। यह कहानी कई मायने में महत्वपूर्ण है। इस कहानी में पहली बार प्रेमचंद ने सामाजिक मुद्दों पर मध्यवर्गीय चरित्र के अन्तर्विरोधों को उजागर किया है। इन्हें आलोचनात्मक दृष्टि से देखा है। यह तबका सामाजिक मुद्दों पर बहस-मुबाहिसों में भाग लेता था, भाषण आयोजित करता था, पूरी दिलचस्पी से सुनता था लेकिन उन पर अमल नहीं करता था।<sup>8</sup>

शिक्षित मध्यवर्ग के लिए इस तरह का भाषण मनोरंजन था। ऐसे ही लोगों पर प्रेमचंद ने इस कहानी में टिप्पणी की है— "कौन नहीं जानता कि ऐसे भाषणों का उद्देश्य मनोरंजन होता है। दस आदमी आये, इकट्ठे बैठे, कुछ सुना, कुछ गप-शप मारी और अपने-अपने घर लौटे, न यह कि कौल करार करने बैठें, अमल करने के लिए कसमें खायें!"<sup>9</sup>

चन्द्रग्रहण के मौके पर काशी के गंगा नदी के किनारे दूर-दराज से लोग गंगा स्नान के लिए आये थे। भीड़ बहुत ज्यादा थी। "वहाँ कौम पर जान देनेवालों की कमी न थी; स्टेजों पर कौमी तमाशे खेलनेवाले कालेजों के होनहार नौजवान, कौम के नाम पर मिटनेवाले पत्रकार, कौमी संस्थाओं के मेंबर, सेक्रेटरी और प्रेसीडेंट, राम और कृष्ण के सामने सिर झुकाने वाले सेठ और साहूकार, कौमी कालेजों के ऊँचे हौसलों वाले प्रोफेसर और अखबारों में कौमी तरकियों की खबरें पढ़कर खुश होने वाले दफ्तरों के कर्मचारी हज़ारों की तादाद में मौजूद थे। आँखों पर सुनहरी ऐनकें लगाये, मोटे-मोटे वकीलों की एक पूरी फ़ौज जमा थी। मगर संन्यासी के उस गर्म भाषण से एक दिल भी न पिघला क्योंकि वह पत्थर के दिल थे जिनमें दर्द और घुलावट न थी, जिनमें सदिच्छा थी मगर कार्य-शक्ति न थी, जिनमें बच्चों की-सी इच्छा थी मगर मर्दों का-सा इरादा न था।" ... वहीं एक शामियाने के भीतर एक संन्यासी भाषण दे रहा था— "जिन लोगों की छाया से हम बचते आये हैं, जिन्हें हमने जानवरों से भी जलील समझ रक्खा है, उनसे गले मिलने में हमें त्याग

और साहस और परमार्थ से काम लेना पड़ेगा। उस त्याग से जो कृष्ण में था, उस हिम्मत से जो राम में थी उस परमार्थ से जो चैतन्य और गोविन्द में था। मैं यह नहीं कहता कि आप आज ही से उनसे शादी के लिए रिश्ते जोड़ें या उनके साथ बैठकर खायें—पीयें। मगर क्या यह भी मुमकिन नहीं है कि आप उनके साथ सामान्य सहानुभूति, सामान्य मनुष्यता, सामान्य सदाचार से पेश आयें?"... आइए इस मौके पर शाम के वक्त पवित्र गंगा नदी के किनारे काशी के पवित्र स्थान में हम मजबूत दिल से प्रतिज्ञा करें कि आज से हम अछूतों के साथ भाई—चारे का सलूक करेंगे, उनके तीज—त्यौहार में शरीक होंगे और अपने त्योहारों में उन्हें बुलायेंगे। उनके गले मिलेंगे और उन्हें गले लगायेंगे। उनकी खुशियों में खुश और दर्दों में दर्दमन्द होंगे, और चाहे कुछ ही क्यों न हो जाय, चाहे तानो—तिशनों और जिल्लत का सामना ही क्यों न करना पड़े हम इस प्रतिज्ञा पर कायम रहेंगे।"<sup>10</sup>

दो ढाई हजार लोगों में से सिर्फ एक व्यक्ति ठाकुर सिंह ने ऐसी प्रतिज्ञा की। आर्य—समाज सुधारक यही कर रहे थे। प्रेमचंद सारे पेशेवर वर्ग पर कटाक्ष तो कर रहे हैं लेकिन, संन्यासी बहुत बारीकी से अपने भाषण में दोहरी—तीहरी नीति अपना रहा है। एक तो बेटी—रोटी के संबंध नहीं बनाने पर जोर दे रहा है, दूसरे राम—कृष्ण, चैतन्य, गोविन्द जैसे मिथ की वकालत भी कर रहा है। आर्य—समाजियों का यही वास्तविक चरित्र था। दलित लेखक और गैर—दलित लेखक में यह बड़ा फर्क है। दलित लेखक राम की सच्चाई बतायेगा कि 'राम ने शंबूक का वध किया था, कृष्ण ने महाभारत में सुई के नोक के बराबर जमीन के लिए अपने ही भाई—बन्धुओं के बीच एक—दूसरे की हत्या करने के लिए अर्जुन को उकसाया। इसीलिए बाबा साहब अम्बेडकर जातिभेद के उन्मूलन में लिखते हैं—'सिर्फ साथ बैठकर खाने से या अन्तर्जातीय विवाह कर लेने मात्र से जाति व्यवस्था खत्म नहीं होगी। जाति व्यवस्था की असली जड़ हिन्दू धर्म ग्रंथों में है, जिस पर प्रहार किए बिना जाति नहीं टूट सकती।'

बहुजन लेखक अपनी लेखनी में भारतीय सभ्यता संस्कृति की उचित व सम्यक जाँच पड़ताल करता है। प्रो. राम चंद्र के शब्दों में— “सभ्यता, संस्कृति और परंपरा की समीक्षा दलित चेतना का अहम हिस्सा है। वेद, उपनिषद, स्मृतियाँ एवं अन्य धर्मशास्त्रों एवं पौराणिक गाथाओं में व्यक्त दलित विरोधी छवियों के तिलिस्म को दलित कहानियाँ बेनकाब करती हैं। दमन और वर्चस्व की परंपरा का नकार दलित कहानी की कथावस्तु की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। भारत की सभ्यता एवं संस्कृति पर गर्व करने वालों को हिन्दू व्यवस्था की बर्बरता—अमानवीयता से साक्षात्कार कराने में सम्पूर्ण दलित साहित्य की अहम भूमिका है।”<sup>11</sup>

चन्द्रग्रहण को पृष्ठभूमि बनाकर ओमप्रकाश वाल्मीकि ने भी ‘ग्रहण’ नामक एक कहानी लिखी है। प्रेमचंद की इस कहानी और वाल्मीकि की कहानी में यथार्थ का फर्क है। प्रेमचंद लिखते हैं— “आज रात को चन्द्रग्रहण होने वाला था। ठाकुर साहब अपनी बूढ़ी ठकुराइन के साथ गंगाजी जाते थे इसलिए सारा घर उनकी पुरजोर तैयारी में लगा हुआ था। एक बहू उनका फटा हुआ कुर्ता टाँक रही थी, दूसरी बहू उनकी पगड़ी लिये सोचती थी, कि कैसे इसकी मरम्मत करूँ। दोनों लड़कियाँ नाश्ता तैयार करने में तल्लीन थीं, जो ज्यादा दिलचस्प काम था और बच्चों ने अपनी आदत के अनुसार एक कुहराम मचा रक्खा था क्योंकि हर एक आने—जाने के मौके पर उनका रोने का जोश उमंग पर होता था। जाने के वक्त साथ जाने के लिए रोते, आने के वक्त इसलिए रोते कि शीरीनी का बाँट—बखरा मनोनकूल नहीं हुआ। बूढ़ी ठकुराइन बच्चों को फुसलाती थीं और बीच—बीच में अपनी बहुओं को समझाती थीं— देखो खबरदार! जब तक उग्रह न हो जाय, घर से बाहर न निकलना। हँसिया, छुरी, कुल्हाड़ी, इन्हें हाथ से मत छूना। समझाये देती हूँ, मानना चाहे न मानना। तुम्हें मेरी बात की कौन परवाह है। मुँह में पानी की बूँद न पड़े। नारायण के घर विपत पड़ी है। जो साधु—भिखारी दरवाजे पर आ जाय उसे फेरना मत।”<sup>12</sup>

उसी विषयवस्तु को लेकर जब वाल्मीकि लिखते हैं— “चन्द्रग्रहण की खबर ने भंगी बस्ती को हर्षोल्लास से भर दिया था। पूरी बस्ती में शायद ही कोई ऐसा हो जहाँ भादो मास में दोनों टेम चूल्हा जला हो। अगली फसल आने तक हालात इसी तरह के रहेंगे।

रमेसर का बापू जब से बिस्तर पर पड़ा था, उनका भी यही हाल था। बूढ़ी माँ आखिर कितनी करती। रमेसर की पढ़ाई भी इसी बीच छूट गई थी। बापू की दवा दारू तो दूर की बात फिलहाल तो दो वक्त की रोटी के लाले पड़े थे। रमेसर का बापू चौधरी के खेत में काम करता था। बीमारी के कारण जब उसका आना-जाना बन्द हो गया, तो रमेसर स्कूल छोड़कर चौधरी के खेतों में काम करने लगा।

...ग्रहण लगने पर घर-घर जाकर अनाज माँगना रमेसर को अच्छा नहीं लगता था। करे तो क्या करे वाली स्थिति थी। नमक मिला अनाज ही सही कुछ तो मिलेगा पेट की आग बुझाने के लिए। ग्रहण पूरा होते-होते जितने अधिक घरों तक जाया जा सकता है, उतना अधिक अनाज इकट्ठा हो जाएगा।

साँझ होते-होते बस्ती के लोग एक जगह इकट्ठा होने लगे। बच्चे बूढ़े यहाँ तक कि जवान लड़कियाँ, बहुएँ भी निकल आई थीं। फाकों ने सभी को लाचार बना दिया था। बस्ती के सभी लोग बार-बार आसमान के उस छोर की ओर देख रहे थे, जहाँ से चाँद निकलने वाला था। ग्रहण में खंडित होकर भी उनके लिए अनाज के दाने मुहैया कराने वाला था।<sup>13</sup>

कथावस्तु दोनों लेखकों की एक ही है लेकिन दोनों की जरूरतें और संवेदनाएँ अलग-अलग हैं। यहाँ समयान्तराल महत्वपूर्ण नहीं है, एक ही समाज में रहने वाले दो अलग-अलग जातियाँ महत्वपूर्ण हो गई हैं। जिसने जाति के कारण भूख, गरीबी और लाचारी को झेला है उसके लिए पेट की आग बुझाना पहली शर्त हो गई है। जिसने भारतीय समाज में सम्मान की



जिन्दगी जीया है उसके लिए धर्म—कर्म, गंगा—स्नान महत्त्वपूर्ण हो गया है। प्रेमचंद के दौर में भी यदि ओमप्रकाश लिखते तो भी ऐसा ही लिखते जैसा कि आज के दौर में लिखे हैं। इस कहानी में प्रेमचंद ने एक और महत्त्वपूर्ण बिन्दु की ओर ध्यान दिलाया है कि पढ़े—लिखे शिक्षित मध्यवर्ग से ज्यादा प्रगतिशील गाँव का रहने वाला दर्शन सिंह है।

‘मंत्र’ धर्म—परिवर्तन पर आधारित कहानी है। इसमें मुख्य रूप से दो पात्र—एक पंडित लीलाधर चौबे तथा दूसरा दलित या आदिवासी समाज का भील बूढ़ा व्यक्ति। चौबे देशभर में घूम—घूमकर समाज—सुधार का कार्य और हिन्दू महासभा के लिए चन्दा भी इकट्ठा करते थे। ‘मंत्र’ कहानी 1926 में माधुरी पत्रिका में छपी थी। उस समय अपने ही देश के आताताईयों से पीड़ित होकर बहुत से दलित समाज के लोग मुस्लिम धर्म अपनाकर इज्जत से जीना चाहते थे। फलतः वंचित समाज द्वारा धर्म परिवर्तन बड़े पैमाने पर हो रहा था। यहाँ के तथाकथित हिंदुओं को अपनी जनसंख्या घटती नजर आ रही थी, इसलिए ‘शुद्धिकरण आंदोलन के द्वारा दलितों को शुद्ध करके हिन्दू धर्म में मिलाया जा रहा था। इसी काम को अंजाम देने के लिए प्रेमचंद लीलाधर नामक पात्र को गढ़ते हैं साथ ही हिंदू धर्म में जो बुराईयाँ थीं उस पर भी प्रश्न उठाते हैं। लेकिन इस कहानी का जो मुख्य उद्देश्य है वो है— हिन्दू और हिन्दू धर्म को बचाने का— “खबर आई है कि मद्रास—प्रांत में तबलीग वालों ने तूफान मचा रखा है। हिन्दुओं के गाँव के गाँव मुसलमान होते जाते हैं। मुल्लाओं ने बड़े जोश से तबलीग का काम शुरू किया है; अगर हिंदू—सभा ने इस प्रवाह को रोकने की आयोजना न की, तो सारा प्रान्त हिंदुओं से शून्य हो जायेगा — किसी शिखाधारी की सूरत तक न नजर आयेगी।”<sup>14</sup> प्रेमचंद बिल्कुल साफ और सीधे शब्दों में ‘शिखाधारी’ अर्थात् ब्राह्मण को बचाने का आह्वान करते हैं। उनकी मुख्य चिंता हिन्दू धर्म और हिन्दुओं को बचाये रखने की है न कि दलित उत्थान की। इस कहानी में बार—बार ऋषि—मुनियों की दुहाई देकर दलित समाज को भरमाया जा रहा है। लीलाधर चौबे अपने भाषण में कहते हैं— “तुम उन्हीं ऋषियों की संतान

हो, जो आकाश के नीचे एक नई सृष्टि की रचना कर सकते थे! जिनके न्याय, बुद्धि और विचार शक्ति के सामने आज सारा संसार सिर झुका रहा है। सहसा एक बूढ़े अछूत ने उठकर पूछा— हम लोग भी उन्हीं ऋषियों की संतान हैं?

लीलाधर— निस्संदेह! तुम्हारी धमनियों में भी उन्हीं ऋषियों का रक्त दौड़ रहा है ...जब भारत वर्ष में कोई हिन्दू किसी हिंदू को नीच न समझेगा, जब वह सब एक दूसरे को भाई समझेंगे। श्रीरामचंद्र ने निषाद को छाती से लगाया था, शबरी के जूटे बेर खाए थे...<sup>15</sup>

इस कहानी पर गाँधीवादी प्रभाव दिखाई देता है। जिस तरह गाँधी ने दलितों के लिए 'हरिजन' शब्द देकर उन्हें ईश्वर का संतान घोषित कर बरगला दिया, उसी तरह इसमें प्रेमचंद लीलाधर चौबे के माध्यम से दलितों को ऋषियों का संतान कहते हैं। एक तरह से यह अछूत समाज की स्त्री-पुरुषों के लिए गाली है। जिन्हें कभी बेटे-रोटी की आजादी नहीं मिली वे ऋषियों की संतान कैसे हो सकते हैं? प्रेमचंद राम द्वारा निषाद को गले लगाने, शबरी के जूटे बेर खाने की बात तो करते हैं, लेकिन मर्यादा पुरुषोत्तम राम के ही द्वारा शम्बूक ऋषि की हत्या करना, लक्ष्मण को आदेश देकर सूर्पनखा के नाक-कान कटवाने का रंचमात्र भी जिक्र नहीं करते हैं। यही बुनियादी फर्क है दलित और गैर-दलित लेखक में।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की एक कहानी 'जिनावर' जो सवर्ण स्त्री की मार्मिक वेदना को सामने रखती है। एक कुलीन परिवार की बहू को घर से निकाल दिया गया है। उसका नौकर उसे मायके छोड़ने जाता है। बाद में पता चलता है कि बहू का न तो मायका है और न ही कोई रिश्तेदार। एक घने जंगल में दोनों अपनी थकान मिटा रहे हैं। वहीं बहू नौकर जागेसर से कहती है तुम मुझे यहीं छोड़कर घर चले जाओ, अपने चौधरी से बता देना कि छोड़ आए हो। जागेसर कहता है— "ना... बहू जी... मैं लछमन ना हूँ जो सीता कू बियाबान जंगल में छोड़ के वापस चला जाऊँ..."<sup>16</sup> यह बहुत बड़ा

सामाजिक और धार्मिक अन्तर्विरोध है प्रेमचंद और ओमप्रकाश वाल्मीकि के साहित्य में। मिथकीय चरित्र को प्रस्तुत करने का यथार्थ नितान्त भिन्न है। एक का आदर्शात्मक शौर्यगाथा है तो दूसरे का अनुभवजनित यथार्थवादी सच्च। मिथकों के अर्थ बदल गये हैं दलित साहित्य में।

इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता है कि, कहीं-कहीं प्रेमचंद हिंदू धर्म और सवर्णों का बड़े जोरदार तरीके से माखौल उड़ाते हैं और पोल भी खोलते हैं। जब अछूत बूढ़ा लीलाधर चौबे से जवाब सवाल करता है— “बूढ़ा— आप जब इन्हीं महात्माओं की संतान हैं तो फिर ऊँच-नीच में क्यों इतना भेद मानते हैं?

लीलाधर— इसलिए कि हम पतित हो गए हैं— अज्ञान में पड़कर उन महात्माओं को भूल गए हैं।

बूढ़ा— अब तो आपकी निद्रा टूटी है, हमारे साथ भोजन करोगे?

लीलाधर— मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

बूढ़ा— मेरे लड़के से अपनी कन्या का विवाह कीजिएगा?

लीलाधर— जब तक तुम्हारे जन्म संस्कार न बदल जायें, जब तक तुम्हारे आहार-व्यवहार में परिवर्तन न हो जाए, हम तुम से विवाह का सम्बन्ध नहीं कर सकते। मांस खाना छोड़ो, शिक्षा ग्रहण करो, तभी तुम उच्च वर्ग के हिंदुओं से मिल सकते हो।

बूढ़ा— हम कितने ही ऐसे कुलीन ब्राह्मणों को जानते हैं, जो रात दिन नशे में डूबे रहते हैं, मांस के बिना कौर नहीं उठाते; और कितने ही ऐसे हैं, जो एक अक्षर भी नहीं पढ़े हैं; पर आपको उनके साथ भोजन करते देखता हूँ। उनसे विवाह सम्बन्ध करने में आपको कदाचित् इनकार न होगा। जब आप खुद अज्ञान में पड़े हुए हैं, तो हमारा उद्धार कैसे करते हैं? आपका हृदय अभी तक अभिमान से भरा हुआ है। जाइए, अभी कुछ दिन और अपनी आत्मा

का सुधार कीजिए। हमारा उद्धार आपके किए न होगा। हिंदू समाज में रहकर हमारे माथे से नीचता का कलंक न मिटेगा। हम कितने ही विद्वान, कितने ही आचारवान हो जायें, आप हमें यों ही नीच समझते रहेंगे। हिंदुओं की आत्मा मर गई है और उसका स्थान अहंकार ने ले लिया है। हम अब उस देवता की शरण में जा रहे हैं; जिनके मानने वाले हमसे गले मिलने को आज ही त्यौहार हैं। वे ये नहीं कहते कि तुम अपने संस्कार बदलकर आओ।”<sup>17</sup>

निश्चित रूप से जिस बेबाकी से प्रेमचंद ने हिंदुओं और ब्राह्मणों पर सवाल खड़ा किया है, वह साहस की बात है, लेकिन सारी सामाजिक बुराईयों की जड़ उन्होंने हिंदुओं का अहंकार बताया है जबकि यह सच्चाई नहीं है। इसकी जड़ें हिंदू धर्म में छिपी हैं जिस पर प्रेमचंद प्रहार नहीं करना चाहते हैं। आगे के कथन से और भी स्पष्ट हो जाएगा। “बूढ़ा— ऋषियों को मत बदनाम कीजिए। यह सब पाखण्ड आप लोगों का रचा हुआ है। आप कहते हैं— तुम मदिरा पीते हो, लेकिन आप मदिरा पीने वालों की जूतियाँ चाटते हैं। आप हमसे मांस खाने के कारण घिनाते हैं; लेकिन आप गो—मांस खाने वालों के सामने नाक रगड़ते हैं। इसलिए न कि वे आपसे बलवान हैं। हम भी आज राजा हो जाएँ तो, आप हमारे सामने हाथ बाँधे खड़े होंगे। आपके धर्म में वही ऊँचा है, जो बलवान है; वही नीच है जो निर्बल है। यही आपका धर्म है?”<sup>18</sup>

यहाँ भी धर्म और ऋषि—मुनियों पर प्रश्न नहीं खड़ा हुआ है, बल्कि प्रेमचंद का ऐसा मानना है कि समाज में भेदगत ऊँच—नीच की वजह शक्ति और सत्ता है। जिसके पास ताकत है— धन की, बल की, ज्ञान की, समाज में उसका दर्जा ऊँचा है और जो इनसे वंचित है, वह नीचा है, अधिकांशतः लोगों की यह दलील होती है। धन, बल, सत्ता ज्ञान से व्यक्ति के सामाजिक हैसियत में थोड़ा—बहुत परिवर्तन तो आता है लेकिन जाति नहीं बदलती है, भेदभाव नहीं बदलता है, शोषण की प्रकृति नहीं बदलती है। गरीबी और अस्पृश्यता का संबंध अनिवार्य होता है, लेकिन गरीबी के कारण कोई व्यक्ति अस्पृश्य हुआ है ऐसा नहीं है। यदि ऐसा होता तो बहुत से सवर्ण भी आर्थिक रूप से गरीब हैं,

लेकिन उनके साथ अस्पृश्यता का व्यवहार नहीं किया जाता। उनकी सामाजिक हैसियत सम्मानजनक है। राजा ढाले बहुत ही सटीक तर्क देते हैं— “यह सच है कि अछूत इसलिए गरीब है क्योंकि वह अछूत पैदा हुआ है पर यह सच नहीं है कि वह गरीब है इसलिए अछूत कहा जाता है। इस तरह अछूत की गरीबी की जड़ उसके अछूत होने में है, लेकिन उसके अछूत होने की जड़ उसकी गरीबी में नहीं है। भारत का हर आदमी अछूत नहीं है पर यहाँ का हर अछूत आदमी बेहद गरीब है। इस तरह अछूत की गरीबी की जड़ें उसके धर्म से जुड़ी हैं न कि उसके जीवन की वर्तमान स्थिति से। ...अपने जीवन से अस्पृश्यता समाप्त करने के लिए हमें समाज की पूरी व्यवस्था को उलटना होगा, क्योंकि सामाजिक ढाँचा धार्मिक विधानों पर टिका है।”<sup>19</sup>

प्रेमचंद धर्म में बुराईयों की पोल खोलते हैं, लेकिन कहीं धर्म पर प्रहार नहीं करते हैं। जिस तरह गाँधी जी वर्ण-व्यवस्था में रहकर ही अछूतोंद्वारा आंदोलन के माध्यम से अछूतों का सुधार करना चाहते थे, वैसे ही प्रेमचंद धर्म में रहते हुए ही दलित समस्याओं को सुधारना चाहते हैं। इसके विपरीत दलित साहित्य या दलित लेखक भाग्य, भगवान, धर्म सब पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करते हैं, उसे नकारते हैं। उनकी स्वीकारोक्ति इसमें होती है कि धर्म ही हमारी अधोगति का मुख्य कारण है।

इस कहानी में प्रेमचंद का मुख्य ध्येय सनातन धर्म को बचाना और अछूतों को धर्म परिवर्तन से रोकना था ताकि हिंदुओं की संख्या बनी रहे। “यह मंत्र था, जो उन्होंने उन चाण्डालों से सीखा था और इसी के बल से वह अपने धर्म की रक्षा करने में सफल हुए थे।”<sup>20</sup> प्रेमचंद बहुत ही चालाकी से यह साबित कर देते हैं कि हिन्दू धर्म को बचाने का जो मूल मंत्र था वह चाण्डालों के पास था जिसे लीलाधर चौबे अपनाकर हिंदू धर्म को बचा लिए और किसी भी कीमत पर अछूत वर्ग को हिंदू धर्म से हटने नहीं दिए। ‘सनातन धर्म की विजय हो गई’ इस कहानी का सार बिन्दु है— सनातन धर्म को बचाना, मुसलमानों का तिरस्कार और ब्राह्मण का आदर्शवादी हृदय परिवर्तन। प्रेमचंद

का समय कई दृष्टियों से संघर्ष का समय था। उस समय धर्मान्तरण और शुद्धिकरण का आंदोलन जोरों पर था। इन दोनों के मूल में सांप्रदायिक और धार्मिक भावना काम कर रही थी। हिन्दू 'शुद्धिकरण' के सिद्धान्त और मुस्लिम 'तबलीग' के सिद्धान्त अपनाकर अपने-अपने धर्म को बढ़ावा दे रहे थे, जिसे प्रेमचंद ने ठीक से समझा और इसका मूल्यांकन भी किया।

'कजाकी' कहानी अप्रैल 1926 माधुरी पत्रिका में छपी थी। इस कहानी का मुख्य पात्र कजाकी नामक दलित युवक है जो सरकारी कार्यालय में डाक पहुँचाने का काम करता है। यह कहानी लेखक के बालमन की स्मृतियों पर आधारित आजमगढ़ तहसील की पृष्ठभूमि में लिखी गई है और पूरी कथा फ्लैशबैक में चलती है। कहानी की शुरुआत लेखक के स्वकथन से होती है और यादों की दुनिया में बढ़ जाती है। एक दिन कजाकी को डाक का थैला लाने में देरी हो जाती है और लेखक के पिता द्वारा उसे नौकरी से निकाल दिया जाता है। यहीं से कहानी एक नया मोड़ लेती है। "आज इतनी देर कहाँ लगाई? अब थैला लेकर आया है, उसे लेकर क्या करूँ? डाक तो चली गई। बता तूने इतनी देर कहाँ लगाई?"

कजाकी के मुँह से आवाज न निकली।

बाबूजी ने कहा— तुझे शायद अब नौकरी नहीं करनी है। नीच है न, पेट भरा तो मोटा हो गया! जब भूखों मरने लगेगा, तो आँखें खुलेंगी। कजाकी चुपचाप खड़ा रहा।

बाबूजी का क्रोध और बढ़ा। बोले— अच्छा थैला रख दे और अपने घर की राह ले। सूअर, अब डाक लेकर आया है। तेरा क्या बिगड़ेगा, जहाँ चाहेगा, मजूरी कर लेगा। माथे तो मेरे जायेगी—जवाब तो मुझे तलब होगा!

कजाकी ने रूआँसे होकर कहा— सरकार अब कभी देर न होगी।

बाबूजी— आज क्यों देर की, इसका जवाब दे?"<sup>21</sup>

कजाकी के पास जवाब देने के लिए कुछ नहीं था। चाहता तो बोल सकता था कि 'आपके बच्चे के लिए हिरन का बच्चा पकड़ने में देर हो गई, लेकिन वह ऐसा कुछ नहीं कहा, शायद उसकी स्वामी भक्ति में बट्टा लग जाता। प्रेमचंद यहाँ प्रगतिशील और यथार्थ के करीब लगते हैं क्योंकि दलित कोई गलती करे या न करे तथाकथित सवर्ण समाज द्वारा उसे गालियों का शिकार होना ही पड़ता था और आज भी समाज में प्रचलित है। इस बिन्दु को प्रेमचंद ने बखूबी पकड़ा है, जिसका उल्लेख दलित लेखक भी करते हैं। मनु के अनुसार शूद्रों को इसीलिए धन, दौलत रखने का अधिकार नहीं मिला, क्योंकि जब शूद्र की हैसियत अच्छी रहेगी, उसे भरपेट खाना मिलेगा, तो सवर्ण समाज उन्हें चाकरी के लिए बाध्य नहीं कर पायेगा। इस रूप में प्रेमचंद और दलित लेखकों में समानता दिखाई देती है। सद्गति में भी— "नीच के घर में खाने को हुआ और उसकी आँख बदली" जाति सूचक गालियाँ सिर्फ पुरुष वर्ग ही नहीं देता है उनकी औरतें भी पीछे नहीं रहती हैं।

"मैंने बड़ी मुश्किल से आवाज संभालकर कहा— कजाकी ...

अम्मा ने समझा, कजाकी ने मारा है; बोली अच्छा आने दो कजाकी को, देखो खड़े—खड़े निकलवा देती हूँ। हरकारा होकर मेरे राजा बेटा को मारे! आज ही तो साफ़ा, बल्लम, सब छिनवाए लेती हूँ। वाह!"<sup>22</sup> प्रेमचंद की ये बातें आज भी समाज में देखने को मिलती रहती हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि के दलित पात्र चेतना के स्तर पर बहुत आगे हैं। वे अपने खिलाफ हो रहे अन्याय के प्रति विरोध दर्ज करते हैं, लेकिन प्रेमचंद के कुछ दलित पात्र दीन—हीन और विनम्र बने रहकर गुलामी को नियति मान बैठे हैं। कजाकी को जब डाँट पड़ती है तो उसमें किसी प्रकार की कोई प्रतिक्रिया या प्रतिरोध के भाव नहीं दीखते, उल्टे उनके बच्चे से उसका नौकर बनने का मनुहार करता है और बच्चे को अपने कंधे पर बैठाते हुए कहता है— "वह चपरास किस काम की थी, भैया? वह तो गुलामी की चपरास थी; वह पुरानी खुशी की चपरास है। पहले सरकार का नौकर था, अब तुम्हारा नौकर

हूँ। ...अच्छा मुझे उतार दो, तो मैं दाल और नमक ला दूँ; मगर रोज आया करोगे न?

कजाकी— भैया, खाने को दोगे, तो क्यों न आऊँगा।

मैंने कहा— मैं रोज खाने को दूँगा।

कजाकी बोला— तो मैं रोज आऊँगा।<sup>23</sup>

नौकरी करना गुलामी लगता था कजाकी को और खाने के लिए रोज एक बच्चा से गुहार लगाना, कितना अन्तर्विरोध है कहानी में। बीच-बीच में कहानी मार्मिक बन पड़ी है लेकिन जरूरत से ज्यादा अतिशयोक्तिपूर्ण लगती है। जिसकी रोजी-रोटी छिन गयी हो उसे रोजी-रोटी की चिंता होनी चाहिए, जबकि कजाकी को अपने जीविकोपार्जन से ज्यादा चिंता अपने साहब के बच्चे को देखने की है। कजाकी बीमार हो जाता है, तो उसकी पत्नी साहब के घर आती है और बताती है— “बहू जी जिस दिन से आपके पास से आटा लेकर गये हैं, उसी दिन से बीमार पड़े हैं। बस भैया-भैया किया करते हैं। भैया ही में उनका मन बसा रहता है। चौंक-चौंककर भैया! भैया! कहते हुए द्वार की ओर दौड़ते हैं। न जाने उन्हें क्या हो गया है, बहू जी! एक दिन मुझसे कुछ कहा न सुना, घर से चल दिए और एक गली में छिपकर भैया को देखते रहे। जब भैया ने उन्हें देख लिया, तो भागे। तुम्हारे पास आते हुए लजाते हैं।”<sup>24</sup>

यह दलित समस्या से ज्यादा स्वामी भक्ति की कहानी बन गई है। इसका अन्त भी आदर्शात्मक ही होता है। साहब का हृदय परिवर्तन होता है कजाकी की नौकरी वापस मिल जाती है। मारे खुशी के बीमार और कमजोर होने के बावजूद कजाकी अपने मालिक के बच्चे को पीठ पर बैठाकर डाकखाने तक ले जाता है— “तब वह जानवरों की भाँति भूमि पर हाथों और घुटनों के बल खड़ा हो गया और मैं उसकी पीठ पर सवार होकर डाकखाने की ओर चला। मैं उस वक्त फूला न समाता था और शायद कजाकी मुझसे भी ज्यादा खुश था।”<sup>25</sup> अन्त में कहानी प्रतीकात्मक मोड़ लेती है। हिरन का



बच्चा मुन्नु कुत्तों के काटने से मर जाता है। शिकारी कुत्ते ऊँची जातियों का प्रतीक है तथा हिरन कजाकी का प्रतीक। राजा ढाले लिखते हैं— “कजाकी” ऊँची जाति के शिकंजे की जकड़ को चित्रित करने के लिए शिकारी कुत्तों और भोले-भाले हिरण के बीच संघर्ष का रूप प्रस्तुत करता है, जिसमें अन्ततः हिरण मारा जाता है। यहाँ हिरण युवा पासी कजाकी का प्रतीक है।”<sup>26</sup>

‘मंदिर’ दलित और शोषित चमार जाति की स्त्री सुखिया के विद्रोह और बलिदान की कहानी है। प्रेमचंद इस कहानी के माध्यम से ऐसे विद्रूप समाज-व्यवस्था की कथा कहते हैं, जिसमें जाति के नाम पर, धर्म के नाम पर अमानवीय और नृशंस हत्या तक को अंजाम दिया जाता है।

कहानी की शुरुआत ही ‘मातृ-प्रेम तुझे धन्य है’ से होती है। मातृ वात्सल्यता धर्म और अंध विश्वास में उलझकर माता और बालक दोनों को खत्म कर देती है। सुखिया के वैधव्य जीवन का एकमात्र सहारा जियावन तीन दिनों से बीमार है। सुखिया के मुँह में न अन्न का एक दाना गया था और न ही पानी की एक बूँद। इस निराशा की घड़ी में सुखिया के सपने में उसका पति आकर उसे ढाढ़स बँधाता है और ठाकुर जी की पूजा करने के लिए कहता है। “रो मत, सुखिया! तेरा बालक अच्छा हो जायेगा। कल ठाकुर जी की पूजा कर दे, वही तेरे सहायक होंगे।”<sup>27</sup> अंध विश्वास और अज्ञानता के कारण ही यहाँ धर्म टिका हुआ है। सपने की बातों में विश्वास कर वह दूसरे दिन पूजा की तैयारी करती है। उसके पास पैसे नहीं हैं इसलिए वह अपने चांदी के कड़े बनिये की दुकान पर गिरवी रखकर पूजा की थाली सजाकर मंदिर में जाती है। पुजारी— “तो क्या भीतर चली आयेगी? हो तो चुकी पूजा। यहाँ आकर भरभष्ट करेगी।

एक भक्तजन ने कहा— ठाकुर जी को पवित्र करने आयी है?

सुखिया ने बड़ी दीनता से कहा— ठाकुर जी के चरन छूने आयी हूँ सरकार पूजा की सब सामग्री लायी हूँ।

पुजारी— कैसी बेसमझी की बात करती है रे, कुछ पगली तो नहीं हो गई है। भला तू ठाकुर जी को कैसे छुएगी?...

आश्चर्य से बोली— सरकार, वह तो संसार के मालिक हैं। उनके दर्शन से तो पापी भी तर जाता है, मेरे छूने से उन्हें कैसे छूत लग जायेगी?

पुजारी— अरे, तू चमारिन है कि नहीं रे?

सुखिया— तो क्या भगवान ने चमारों को नहीं सिरजा है? चमारों का भगवान कोई और है? इस बच्चे की मनौती है सरकार!

दूसरा पुजारी बोला— मार के भगा दो चुड़ैल को। भरभष्ट करने आई है। फेंक दो थाली—वाली। संसार में तो आप ही आग लगी हुई है, चमार भी ठाकुर जी की पूजा करने लगेंगे, तो पिरथी रहेगी कि रसातल को चली जायेगी?

दूसरे भक्त महाशय बोले— अब बेचारे ठाकुर जी को भी चमारों के हाथ का भोजन करना पड़ेगा। अब परलय होने में कुछ कसर नहीं है।<sup>28</sup>

प्रेमचंद द्वारा उठाई गई ये बातें आज भी समाज में प्रचलित हैं। बहुत सी जगहों पर दलितों का मंदिर प्रवेश वर्जित है। हिंदी की पत्रिका 'चाँद' में 1927 में यह कहानी छपी थी। उस समय बाबा साहब का मंदिर प्रवेश का आंदोलन भी चल रहा था। बाबा साहब के आंदोलन का प्रभाव है इस कहानी पर। सुखिया पुजारी से जवाब—सवाल करती है। 'क्या भगवान ने चमारों को नहीं सिरजा है' सुखिया का यह वाक्य गाँधी जी के 'हरिजन' अर्थात् 'ईश्वर की संतान' का खण्डन करता है। सुखिया का पुजारी के साथ तर्क करना, वस्तुतः धर्म और भगवान के विश्वास का तर्क है जिस तर्क को उस समय के सुधारवादी आंदोलन अपनाए हुए थे, लेकिन बाबा साहब का मंदिर प्रवेश को लेकर जो तर्क था वह अधिकार और अस्मिता का तर्क था।

इस कहानी के माध्यम से पुजारियों की लालची प्रवृत्ति को भी प्रेमचंद ने सामने रखा है। “मेरे पास एक रूपया है। वह मुझसे ले लो; पर मुझे एक छन भर ठाकुर जी के चरणों पर गिर लेने दो। इस प्रलोभन ने पंडित जी को एक क्षण के लिए विचलित कर दिया; किंतु मुखर्ता के कारण ईश्वर का भय उनके मन में कुछ-कुछ बाकी था। ...मेरे पास एक जंतर है। दाम तो उसका बहुत है; पर तुझे एक ही रूपये में दे दूँगा।” तू यह जंतर ले जा, भगवान चाहेंगे तो रात ही भर में बच्चे का क्लेश कट जायेगा। किसी की डीठ पड़ गयी है। है भी तो चोंचाल। मालूम होता है, छत्तरी बंस है।”<sup>29</sup>

पुजारी की लालची प्रवृत्ति और उसकी मूर्खता के कारण अदृश्य सत्ता का भय, को प्रेमचंद समाज के सामने खोलकर रखते हैं। पण्डे पुजारी भोली-भाली जनता से भगवान और धर्म के नाम पर किस तरह पैसे लूटते हैं? प्रेमचंद ऐसी कुत्सित परंपराओं का भी पर्दाफाश करते हैं। ‘है भी तो चोंचाल। मालूम होता है छत्तरी बंस है।’ यह छोटा सा वाक्य अपने अन्दर बहुत ही गहरे अर्थ को समाहित किये हुए है। पहले से ही समाज में ऐसी धारणा प्रचलित रही है कि यदि कोई होनहार, वीर, तेजस्वी और प्रज्ञावान हुआ है, तो उसे बड़ी धूर्तता के साथ ब्राह्मण या क्षत्रिय घोषित कर दिया जाता था। ऐसे ही घोषणा के शिकार कबीर और संत रविदास भी हुए हैं। बाद के दिनों में कुछ विद्वान इस पर सवाल उठाये और ऐसी घोषणाओं का जमकर विरोध किया। इस कहानी में भी उसी का प्रभाव दीखता है। ‘यह छत्तरी बंस है’ यह मात्र छोटी सी बात नहीं है। इसके पीछे गूढ़ रहस्य बताता है कि ऐसे होनहार बच्चे किसी क्षत्रिय या ब्राह्मण द्वारा पैदा हुए होंगे। एक तरह से बच्चा पैदा करने वाली माँ को गाली भी है यह वाक्य। इतनी घृणित मानसिकता है यहाँ के जातिवादी लोगों की।

भाग्य, भगवान पर अन्धविश्वास और अज्ञानता के कारण सुखिया रात के अंधेरे में मंदिर का ताला तोड़ डालती है— “फिर क्या था, कई आदमी झल्लाये हुए लपके और सुखिया पर लातों और घूसों की मार पड़ने लगी।

सुखिया एक हाथ से बच्चे को पकड़े हुए थी और दूसरे हाथ से उसकी रक्षा कर रही थी। एकाएक बलिष्ठ ठाकुर ने उसे इतनी जोर से धक्का दिया कि बालक उसके हाथ से छूटकर जमीन पर गिर पड़ा; मगर वह न रोया, न बोला, न सांस ली, सुखिया भी गिर पड़ी थी। संभलकर बच्चे को उठाने लगी, तो उसके मुख पर नज़र पड़ी। ऐसा जान पड़ा मानो पानी में परछायी हो। उसके मुँह से एक चीख निकल गई। बच्चे का माथा छूकर देखा। सारी देह टण्डी हो गयी थी। एक लम्बी सांस खींचकर वह उठ खड़ी हुई। उसकी आँखों में आँसू न आए। उसका मुख क्रोध की ज्वाला से तमतमा उठा, आँखों से अंगारे बरसने लगे। दोनों मुट्ठियाँ बंध गईं। दांत पीसकर बोली— पापियों, मेरे बच्चे के प्राण लेकर दूर क्यों खड़े हो? मुझे भी क्यों नहीं उसी के साथ मार डालते? मेरे छू लेने से ठाकुर जी को छूत लग गयी? पारस को छूकर लोहा सोना हो जाता है, पारस लोहा नहीं हो सकता।”<sup>30</sup>

सुखिया पूजा करने के लिए सारे उपक्रम करती है। अपनी जमा—पूँजी बेच देती है, पुजारी से मिन्नतें करती है, जाड़े की भयावह रात में ठिठुरती हुई ठाकुर दर्शन के लिए प्रतीक्षा करती है, मंदिर प्रवेश की मान्यताओं को तोड़ने की कोशिश करती है, लेकिन मंदिर के अन्दर तक नहीं जा पाती। उस पर लात घूसों की बारिश होती है, उसका बच्चा मर जाता है। सुखिया धर्म के ठेकेदारों से जवाब—सवाल करती है— ‘मुझे बनाया तो छूत नहीं लगा तुम्हारे भगवान को, लो अब कभी नहीं आऊँगी तुम्हारे भगवान को छूने।’ इस स्तर तक प्रेमचंद सुखिया से तर्क करवाते हैं, लेकिन दूसरे ही पल सुखिया ईश्वर को सोना और अपने को लोहा घोषित कर देती है। अपने ऊपर हुए अत्याचार और बच्चे की मृत्यु के असहनीय पीड़ा के बावजूद ईश्वर से उसकी आस्था नहीं हटती। वह कहती है— “डरो मत, मैं थाने नहीं जाऊँगी। मेरा न्याय भगवान करेंगे, अब उन्हीं के दरबार में फरियाद करूँगी।”<sup>31</sup>

प्रेमचंद का अपना एक दायरा है उसी दायरे के अन्दर ही वे अपने को समेटे हुए हैं। सुखिया का भगवान के सामने ही न्याय का गुहार लगाना

इसका द्योतक है कि प्रेमचंद का भगवान, भाग्यवाद और ईश्वर में गहरा विश्वास था। गाँधी की तरह प्रेमचंद भी धर्म और ईश्वर पर कोई आँच नहीं आने देना चाहते थे। इसलिए सुखिया कानून का सहारा न लेकर ईश्वर भक्ति पर ही निर्भर हो जाती है, जिससे अत्याचार, शोषण, दमन को बढ़ावा मिलता है तथा अंधविश्वास की जड़ें मजबूत होती हैं और ईश्वर नामक अवधारणा सुरक्षित रहती है। भाग्य-भगवान से लोगों की आस्था उठ न जाए ऐसे धिनौने धर्म के प्रति लोग विद्रोह ना कर दें, प्रेमचंद सुखिया को कानून का सहारा नहीं लेने देते, बल्कि धार्मिक मान्यताओं और ईश्वरीय शक्ति के विश्वास को समाज में फलते-फूलते रहने के लिए सुखिया से ठाकुर के सामने घुटने टेकवा देते हैं, जिससे न तो आज तक किसी को न्याय मिला है और न भविष्य में मिलने की संभावना है।

कहानी के अंत में परोक्ष रूप से धार्मिक समर्थन में प्रेमचंद लिखते हैं—  
 “माता, तू धन्य है। तुझ-जैसी निष्ठा, तुझ जैसी श्रद्धा, तुझ जैसा विश्वास देवताओं को भी दुर्लभ है!”<sup>32</sup>

धार्मिक अंधविश्वास में सुखिया और उसका बेटा जियावन दोनों मौत की गोद में चले जाते हैं, भगवान के प्रति सुखिया की निष्ठा, श्रद्धा और विश्वास देवताओं से भी बड़ा करके आंकते हैं प्रेमचंद। इस कहानी का उद्देश्य तत्कालीन समय की धार्मिक बुराईयों, धर्म के ठेकेदारों-पण्डों-पुजारियों की पोल तो खोलता है लेकिन ईश्वर पर आँच नहीं आने देता है। इसमें चेतना के स्तर पर धार्मिक आस्था के प्रति विद्रोह नहीं है जबकि उस समय बाबा साहब का आंदोलन अपने जोरों पर था। सुखिया का गुस्सा या विद्रोह धर्म और ईश्वर के प्रति नहीं है। वह धार्मिक अन्धविश्वास को कारण न मानकर पंडे-पुजारियों पर अपना गुस्सा उतारती है जबकि इसके मूल में अदृश्य ईश्वरीय सत्ता है। प्रो. राम चंद्र के शब्दों में— “दलितों में भगवान के प्रति अनास्था का जो दौर शुरू हुआ है, वह इसी पीड़ा की उपज है। भगवान सिर्फ उनके हैं और उनके लिए हैं। बालक और स्त्री पर किए गए

इस अत्याचार ने साबित कर दिया है कि भक्तों और पुरोहितों का समाज कितना अमानवीय और संवेदनहीन है।<sup>33</sup> 'सद्गति' कहानी हिन्दू धर्म और शास्त्र से उपजी भारतीय समाज की उस व्यवस्था पर व्यंग्य है जिसने मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने दिया, बदले में उसे सड़ी-गली मान्यताओं और दूषित परंपराओं में बाँधकर अंधभक्त बना दिया। यह कहानी 1930 में 'प्रेम-कुंज' नामक हिंदी कहानी संग्रह पहला संस्करण में छपी थी। बाद में अक्टूबर 1931 में 'विशाल भारत' नामक हिंदी पत्रिका में प्रकाशित हुई। इस कहानी की शुरुआत हिन्दू मान्यताओं के अनुसार शादी के लिए शुभकाम 'दिन-वार' (साइत) पूछवाने के लिए एक दलित का पंडित के घर जाने से होकर अन्त अशुभ मरण पर होती है। हालांकि दलित साहित्य के लिए जीवन-मरण, शुभ-अशुभ से नहीं जुड़ा है, बल्कि बुद्ध के वैज्ञानिक दृष्टिकोण नित्य परिवर्तन से जुड़ा है और यही सच्चाई भी है। इसका मुख्य पात्र दुखी चमार है। नाम और सामाजिक हैसियत से सबसे दुखी ही है। दुखी ब्राह्मण के घर शादी की साइत विचारने जाता है लेकिन उसकी मृत्यु की साइत निकल आती है। पंडित के घर लकड़ी चीरते-चीरते दुखी का दम निकलने लगता है। सुबह से बिना खाये-पीये लगातार काम करता चला जा रहा है। उसके भूख प्यास की किसी को चिंता नहीं है। अपनी थकान मिटाने के लिए वह चिलम पीना चाहता है लेकिन आग कहाँ से मिले। उसने तम्बाकू और चिलम तो अपने सहवर्गीय चिखुरी गोंड के यहाँ से लाया, आग के लिए पंडित के दरवाजे से आवाज लगाई—“मालिक रचिके आग मिल जाए तो चिलम पी लें।

पंडित जी भोजन कर रहे थे। पंडिताइन ने पूछा— यह कौन आदमी आग माँग रहा है?

पंडित— अरे वही ससुरा दुखिया चमार है। कहा है थोड़ी सी लकड़ी चीर दे। आग तो है, दे दो।

पंडिताइन ने भवें चढ़ाकर कहा— तुम्हें तो जैसे पोथी-पत्रे के फेर में धरम-करम किसी बात की सुधि ही नहीं रही। चमार हो, धोबी हो, पासी हो,

मुँह उठाये घर में चला आये। हिन्दू का घर न हुआ, कोई सराय हुई। कह दो दाढ़ीजार से चला जाये, नहीं तो इस लुआटे से मुँह झुलस दूँगी।”<sup>34</sup>

सवर्ण—अवर्ण की भेदभावपूर्ण नीति को प्रेमचंद ने बखूबी पकड़ने की कोशिश की है, लेकिन उपयुक्त उदाहरण में एक बहुत ही ‘क्लिकिंग प्वाइंट’ को उन्होंने उठाया है जिस पर अकसर लोगों का ध्यान नहीं जाता है। वह है— ‘चमार, धोबी, पासी सरीखे जातियों को हिन्दू नहीं माना गया है। इसे स्वयं पंडिताइन के मुख से प्रेमचंद कहलवाते हैं। जिस तरह से दलितों के साथ सामाजिक, धार्मिक भेदभाव होता है, उससे साफ जाहिर होता है कि दलित कभी भी हिन्दुओं का अंग नहीं रहा है। जबरन उसे हिन्दू घोषित किया गया और सिर्फ प्रमाण पत्रों में उन्हें हिन्दू के रूप में शामिल किया गया है, जिससे कि उनकी संख्या में बढ़ोत्तरी हो और इस देश को हिन्दू बाहुल्य देश कहा जाए।

प्रेमचंद और ओमप्रकाश वाल्मीकि के समयान्तराल में बहुत—सी चीजें परिवर्तित हुई हैं लेकिन दलितों के प्रति सवर्णों के मन में भेद—भाव रूपी जहर ज्यों—का—त्यों है। ‘सद्गति’ में सवर्ण स्त्री का दलित के प्रति व्यवहार और वाल्मीकि के समय नब्बे के दशक में सवर्ण स्त्री का दलित के प्रति व्यवहार में कोई खास फर्क दिखाई नहीं देता है। वाल्मीकि की कहानी ‘कहाँ जाए सतीश’ की सवर्ण स्त्री पात्रा मिसेज पंत कहती हैं— “हाँ...अब यही तो बचा है, बाप—दादों की परंपरा खत्म कर दी। एक डोम को घर में रख लिया। सोनू तो उसका जूठा तक खा गई... मेरी तो समझ में नहीं आ रहा है, प्रायश्चित्त कैसे होगा... अगर मुझे पता होता तो घर में घुसने भी न देती उसे।” ...रवि शर्मा से बात क्या करना है... उसे भी अब मैं घर में घुसने नहीं दूँगी... पता नहीं शर्मा है भी या नहीं... कहीं वह भी चूहड़ा—चमार ही न हो... इन लोगों को जितना सिर पर चढ़ाओगे उतना ही दबाएँगे।”<sup>35</sup> वर्तमान में भी यह मानसिकता गहरे पैठी हुई है।

सवाल तो बनता ही है कि इक्कीसवीं सदी में भी आखिर कितना समाज बदला है दलितों के प्रति? प्रेमचंद और ओमप्रकाश वाल्मीकि ने जिन सवालों को अपनी लेखनी का केंद्र बनाया है वे आज भी प्रासंगिक हैं और जाति व्यवस्था रहने तक इनकी प्रासंगिकता बनी रहेगी।

मानवीय संवेदना के स्तर पर एक दलित स्त्री और एक सवर्ण स्त्री में अतुलनीय फर्क देखने को मिलता है। दुःखी भूखा-प्यासा ब्राह्मण दंपति का ही काम कर रहा है, लेकिन उसके भूख की चिंता दोनों पति पत्नी को नहीं है। पंडिताइन को थोड़ी दया आती है लेकिन क्षण भर में वह दया फुर्र हो जाती है। पंडिताइन कहती है— “इस चमरवा को भी कुछ खाने को दे दो, बेचारा कब से काम कर रहा है। भूखा होगा।

पंडितजी ने इस प्रस्ताव को व्यावहारिक क्षेत्र से दूर समझकर पूछा—  
रोटियाँ हैं?

पंडिताइन— दो—चार बच जायेंगी।

पंडित— दो—चार रोटियों में क्या होगा? चमार है, कम—से—कम सेर भर चढ़ा जायेगा।

पंडिताइन कानों पर हाथ रखकर बोलीं— अरे बाप रे! सेर भर! तो फिर रहने दो।

पंडितजी ने अब शेर बनकर कहा— कुछ भूसी—चोकर हो तो आटे में मिलाकर दो ठो लिट्टा ठोंक दो। साले का पेट भर जायेगा। पतली रोटियों से इन नीचों का पेट नहीं भरता। इन्हें तो जुआर का लिट्टा चाहिए।

पंडिताइन ने कहा— अब जाने भी दो, धूप में कौन मरे।<sup>36</sup>

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी ‘खानाबदोश’ की दलित स्त्री पात्रा की सवर्ण के प्रति संवेदना— “यह ले...रोट्टी खा ले। सुबे से भूखा है। दो कौर



पेट में जाएँगे तो ताकत तो आवेगी बदन में”, .... “भूख नहीं है।” जसदेव ने बहाना किया।

“भूख नहीं है या कोई और बात है...” मानो ने जैसे उसे रँगे हाथों पकड़ लिया था।

“और क्या बात हो सकती है...?” जसदेव ने सवाल किया।

“तुम्हारे भय्या कह रहे थे तुम बामन हो?... इसीलिए मेरे हाथों की रोटी नहीं खाओगे। अगर यो बात है तो मैं जोर ना डालूँगी... थारी मर्जी... औरत हूँ... पास में कोई भूखा हो... तो रोटी का कौर गले से नहीं उतरता है।”<sup>37</sup>

दोनों ही स्त्रियाँ हैं, लेकिन संवेदना के स्तर पर दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर है। दो-चार रोटियों में यदि दुखी का पेट नहीं भरता है तो उसके पीछे उसकी गरीबी, जाति-व्यवस्था और भूख है न कि उसकी जाति चमार उत्तरदायी है। वर्ण-व्यवस्था ने ही उसकी जाति को इतनी जहालत की स्थिति में पहुँचाया है।

इस अंतर का जातिगत आधार है। पंडिताइन सामाजिक, आर्थिक और जातीय तौर पर मजबूत हैं। इसलिए भूख की पीड़ा क्या होती है उन्हें महसूस नहीं हो रहा, वहीं मानों दलित और गरीब है इसलिए उसे पता है कि भूख की पीड़ा का मर्म क्या होता है। वह अपने बगल में किसी को भूखा देखकर न सिर्फ द्रवित हो उठती है, बल्कि भूखे को रोटी भी खिलाने का प्रयास करती है।

‘सद्गति’ में चिखुरी गोंड़ कहता है— “कुछ खाने को मिला कि काम ही कराना जानते हैं। जाके मांगते क्यों नहीं?”

दुखी— कैसी बात करते हो चिखुरी, बाहमन की रोटी हमको पचेगी!

गोंड़— पचने को पच जायेगी, पहले मिले तो। मूँछों पर ताव देकर भोजन किया और आराम से सोये, तुम्हें लकड़ी फाड़ने का हुक्म लगा दिया।

जमींदार भी कुछ खाने को देता है। हाकिम भी बेगार लेता है, तो थोड़ी-बहुत मजूरी देता है। यह उनसे भी बढ़ गये, उस पर धर्मात्मा बनते हैं।

दुखी- धीरे-धीरे बोलो भाई, कहीं सुन लें तो आफत आ जाय।”<sup>38</sup>

चिखुरी में थोड़ी-बहुत चेतना है। उसे अपना अधिकार पता है, लेकिन दुखी ने इन सारी परिस्थितियों को भगवान का दिया हुआ फल मानकर स्वीकार कर लिया है। डॉ. राम चंद्र के शब्दों में- “इस वर्चस्वशाली समाज में दलितों पर राजनैतिक शासन के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक शासन जबरदस्त है। इस मनोवैज्ञानिक शासन ने ‘दुखी’ की बुद्धि विवेक और सोचने की स्वतंत्रता को कुंद कर दिया है। उसे लोक-परलोक के मकड़जाल में फंसाकर अंधविश्वासी बना दिया है- दीनता और हीनता का भाव भर दिया है; जिससे दुखी को मान-अपमान का भान नहीं होता तथा अधिकार और स्वतंत्रता की चेतना से दूर हो जाता है। अंध-श्रद्धा में पूरे भक्ति-भाव से ‘मर्यादा’ का पालन करता है। समाज की सारी पाबंदियों और रिवाजों को सच और भगवान का नियम मानते हुए पूरे श्रद्धा-भाव से ब्राह्मण की सेवा करता है।”<sup>39</sup>

‘बाह्यन की रोटी हमको पचेगी’ के माध्यम से प्रेमचंद भारतीय समाजिक-वर्ण-व्यवस्था पर व्यंग्य कसते हैं। ‘अपना-अपना ही होता है’ वाली कहावत यहाँ सार्थक होती है, जब दुखी थक-हारकर चिलम पीना चाहता है, चिलम की खोज में वह अपने दलित भाई चिखुरी गोंड के घर जाता है। चिखुरी को भी दुखी पर दया आती है, अपनापन लगता है। उसके दर्द को महसूसकर उसके हाथों से कुल्हाड़ी लेकर खुद ही लकड़ी चीरने लगता है, लेकिन वह भी हार-थककर चला जाता है। ज़ाहिर है चिखुरी भी उसी समाज-व्यवस्था द्वारा शोषित है। दुखी की पीड़ा को अपनी पीड़ा समझकर उसकी सहायता करता है, जबकि पंडित-पंडिताइन दोनों अपना काम करवाकर भी उसके खाने को लेकर बहस करते हैं, पर खाना नहीं देते। ‘सद्गति’ में दलितों को भाग्य के हाथों खिलौने की तरह पेश किया गया है। दुखी अपने को भाग्य के हाथों का खिलौना समझता है और उसी

भाग्य-भगवान में एकनिष्ठ विश्वास करता है— “पंडित हैं, कहीं साइत ठीक न विचारें, तो फिर सत्यानाश ही हो जाय। जभी तो संसार में इतना मान है। साइत का ही तो सब खेल है। जिसे चाहे बिगाड़ दे।”<sup>40</sup> ‘साइत का ही तो सब खेल है’ अपने आप में बहुत बड़ा कटाक्ष है समाज के बाह्याडम्बर पर, पारंपरिक रीति-रिवाजों पर, जिसे प्रेमचंद ने सजगता से पकड़ा है।

लकड़ी की गांठ चीरते-चीरते दुखी का प्राणान्त हो जाता है। नामवर सिंह की टिप्पणी— “लकड़ी की गांठ चीरते हुए वह मर जाता है। वह लकड़ी की गांठ भी है और हिन्दू धर्म की जहरीली जाति व्यवस्था की गांठ भी है। जिसे तोड़ने में गाँधी भी शहीद हो जाते हैं। इस गांठ को तोड़ने में स्वयं अम्बेडकर कितने कामयाब रहे, यह आप विचार करें, एक धनुष था जिसे तोड़ दिया था राम ने, किन्तु वह गांठ नहीं तोड़ पाये थे।”<sup>41</sup>

नामवर सिंह जी बाबा साहब और गाँधी दोनों पर सवाल उठाते हैं। जातिविहीन समाज की स्थापना के लिए प्रयासरत गाँधी हों या डॉ. अम्बेडकर दोनों के वर्ण व्यवस्था विरोधी आंदोलन का मूल्यांकन किया जाए तो गाँधी वर्ण व्यवस्था में रहते हुए जाति सुधार की बात करते हैं, जो कभी भी संभव नहीं हैं जहाँ तक बाबा साहब की बात है, तो वर्ण व्यवस्था के मूल में धार्मिक ग्रंथों को मानते हैं और उसे सिरे से खारिज करते हैं, जिसे गाँधी मानने को तैयार नहीं थे। नामवर सिंह के अनुसार यदि मान लिया जाय कि बाबा साहब जाति तोड़ने में सफल नहीं हुए, तो इसका उत्तरदायी तथाकथित सवर्ण जड़ मानसिकता है न कि बाबा साहब। जाति आधारित समाज व्यवस्था बने रहने से जिनके स्वार्थों की पूर्ति हो रही है उन्हीं का सारे संसाधनों पर वर्चस्व भी है जिसकी वजह से जातियाँ बनी हुई हैं। उन्हें अच्छी तरह इस बात का ज्ञान है कि ‘हमारा वर्चस्व या स्टेट्स तभी तक बरकरार है जब तक जाति आधारित भेद-भाव समाज में व्याप्त है। भारत में कई तरह के आंदोलन हुए हैं और हो रहे हैं, गाय, गोबर, मल, मूत्र, सांप, बिच्छू जैसे पशु जानवरों तक को

आंदोलन के दायरे में लिया जा रहा है, लेकिन इतिहास गवाह है किसी भी सवर्ण द्वारा छुआछूत खात्मे का आंदोलन नहीं चला है न चल रहा है।

हरीश चन्द्र के शब्दों में— “बिहार के सहरसा जिले के सर्वे में पाया गया कि जमींदार नहीं चाहता कि खेती में उत्पादन बढ़े। ट्यूबवेल के लिए आठ घण्टे बिजली उपलब्ध थी लेकिन ट्यूबवेल एक घण्टे चलते थे। जब इसका कारण पता किया गया तो मालूम हुआ कि जमींदार को लाभ कृषि की उपज बढ़ाने से अधिक इसमें है कि खेतिहर मजदूरों को बँधुआ बनाये रखे। उससे न केवल उसे सस्ता एवं बराबर मजदूर मिलेगा बल्कि वह उसकी महिलाओं का यौन शोषण भी करेगा। जब खेती की उपज बढ़ेगी तो दलितों की इसमें हिस्सेदारी भी बढ़ेगी, फलतः मजदूरी की दर बढ़ेगी एवं उनकी आर्थिक दशा में सुधार आयेगा। इन सामंतों की रूचि खेती का उत्पादन बढ़ाने में नहीं बल्कि वर्ण—व्यवस्था को बनाये रखने में है।”<sup>42</sup> इसलिए बाबा साहब की सफलता असफलता यहाँ के जातिवादी ठेकेदारों पर निर्भर है।

राजेन्द्र कुमार दमन की त्रासदी को दो तरह से देखते हैं— एक प्रत्यक्ष तथा दूसरा अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष दमन में राजसत्ता जिन कार्रवाईयों को अंजाम देती है जिसे हम स्पष्ट रूप से देख पाते हैं, लेकिन जब राजसत्ता का धार्मिकसत्ता के साथ गठजोड़ होता है तब वह अप्रत्यक्ष दमन करता है। उनके अनुसार— “वह (राजसत्ता) अपने और प्रभु—वर्ग के सम्मिलित स्वार्थ के लिए मानसिकता बनाती है, संस्कार बनाती है। वह सामाजिक नियंत्रण के लिए सामान्य जन के जीवन में अपने सिपाही नहीं भेजती, संस्कार भेजती है, ऐसे संस्कार— जिनको आध्यात्मिक, दार्शनिक और नैतिक आधारों पर इतना गौरव—मंडित कर दिया गया होता है कि उनकी भयानकता का सामान्य जन को पता ही नहीं लग पाता है और अचेतन तौर पर वे उसके मन में गहरी जगह बना लेते हैं। वर्ण—व्यवस्था की जड़ को मजबूत करके पुरोहित वर्ग ने सामाजिक नियंत्रण का यह जो तरीका अख्तियार किया, यह दमन का अप्रत्यक्ष तरीका था। इस अप्रत्यक्ष दमन का त्रास जिन्होंने झेला उन्हीं के वर्ण को हम

दलित वर्ग कहते हैं। इसलिए प्राथमिक स्तर पर दलित चेतना का अर्थ हुआ— दलित वर्ग का अपने अचेतन में प्रविष्ट कराये गये उन संस्कारों के प्रति सजग होना, जिनके जरिये उनके अप्रत्यक्ष दमन का कारोबार बिना किसी बाधा के चलता रह सकता था या अब भी चलता रह सकता है।<sup>43</sup>

‘सद्गति’ का दुखी इस त्रासदी का शिकार है, बल्कि यूँ कहें कि न सिर्फ दुखी, इस देश की नब्बे प्रतिशत जनता इस त्रासदी को झेल रही है। कुछ लोगों का तर्क है कि ईश्वरीय भक्ति—भजन, पूजा—पाठ से आन्तरिक और मानसिक शान्ति मिलती है और व्यक्ति को हताशा के पल में संभालता है। सवाल यह है कि आखिर भाग्य, कर्मफल और पुनर्जन्म आदि के सिद्धांतों के प्रति विश्वास का व्यावहारिक फायदा किसको हुआ? “जाहिर है कि निचली श्रेणी के लोगों में कर्म—फल आदि सिद्धान्तों में विश्वास के कारण, एक ऐसा मनोवैज्ञानिक परिवेश अपने पूरे ताम—झाम के साथ रच उठा, जिससे न तो अपनी दुरावस्था के मानव—कृत कारण समझने की इच्छा उनमें जग सकी और न ही सच्चा आत्म—बोध उनको हो सका। आत्म—बोध की जगह दूसरे का दिया हुआ पाप—बोध ही वे ढोते रह गये।<sup>44</sup>

राष्ट्रपिता जोतिबा फुले गुलामगिरी में लिखते हैं— “ब्राह्मण ने अपना प्रभाव, वर्चस्व इन लोगों के दिलो—दिमाग पर कायम रखने के लिए कई तरह के हथकंडे अपनाए ताकि उनकी स्वार्थपूर्ति होती रहे और वे इसमें कामयाब भी रहें। चूँकि ये लोग सत्ता की दृष्टि से पहले ही पराधीन हुए थे और ब्राह्मण—पंडा पुरोहितों ने उन्हें ज्ञानहीन—बुद्धिहीन बना दिया था, जिसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण पंडा पुरोहितों के दाँव—पेंच, उनकी जालसाजी इनमें से किसी के भी ध्यान में नहीं आ सकी... ब्राह्मण पुरोहितों ने पूरी कोशिश की कि उन्हें जो विशेष अधिकार प्राप्त हैं। वे सब उन्हें ईश्वर द्वारा प्राप्त हैं।<sup>45</sup>

दलितों के अधिकांश शोषण की जाल अदृश्य सत्ता नामक झूठी अवधारणा पर टिकी हुई है। बहुजनों को ज्ञान, संपत्ति से वंचित कर

अलग-अलग टोलियों में बाँटकर रखा गया। सद्गति में घासीराम एक कहावत का प्रयोग करता है— 'नीच के घर में खाने को हुआ उसकी आंख बदली' इसकी व्यंजना बहुत ही रहस्यात्मक और गूढ़ है। दलित वर्ग का शोषण करने के लिए ही उन्हें सभी संसाधनों से वंचित किया गया, जिसमें धर्म की बहुत बड़ी भूमिका है। एक खास वर्ग बिना कुछ किए—धरे ही ईश्वर के नाम पर अपना ऐश्वर्यपूर्ण जीवन यापन करता है। यदि थोड़ी संपत्ति दलितों के पास इकट्ठी हो भी जाती है तो उसे वह धर्म के नाम पर तमाम तरह के कर्मकाण्ड, संस्कार, परंपराओं का निर्वाह कराकर पैसा उगाही कर लेता है। अपना कारोबार चलाने के लिए सबसे बड़ा हथियार उसने धर्म को बनाया है जिसका असर इक्कीसवीं सदी के समाज में भी भयानक रूप से दिखाई दे रहा है। शोषक वर्ग इतना शातिर है कि भोली-भाली जनता को 'दुखी' की तरह बनाकर उसके दिमाग में ईश्वरीय अनिष्टता का भावबोध हमेशा जागृत करता रहता है और अपना उल्लू सीधा करता है। उसे पता है कि जिस दिन यह भय इनके दिलो-दिमाग से निकल जायेगा उसी दिन ये लोग विद्रोह कर देंगे।'

प्रेमचंद इसी के भीतर अपनी कहानियों का ताना-बाना बुनते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि इस ताने-बाने को तोड़ते हैं और अपने पात्रों से ऐसी सारी सामाजिक परंपराओं और मान्यताओं पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करवाते हैं, उसके लिए डटकर विरोध भी दर्ज कराते हैं। प्रेमचंद और ओमप्रकाश वाल्मीकि में बहुत बड़ा अंतर्विरोध यह है कि जहाँ पर दुखी को गुस्सा आना चाहिए, व्यवस्था के प्रति रोष उत्पन्न होना चाहिए, वहाँ सब कुछ ईश्वरकृत मानकर सहता चला जा रहा है। किसी की भी गलती को अपनी गलती मान लेता है, लेकिन ओमप्रकाश वाल्मीकि के पात्र व्यवस्था के प्रति अपना विरोध प्रकट करते हैं। उस व्यवस्था पर सवाल खड़े करते हैं और उसे रोकते भी हैं। 'सलाम' कहानी में हरीश बाप दादों से चली आ रही 'सलाम' प्रथा के खिलाफ आवाज उठाता है और रांघड़ों (सवर्णों) के दरवाजे-दरवाजे जाकर सलाम

करने से इनकार कर देता है— “हरीश ने तीखे शब्दों में कहा, “आप चाहे जो समझें... मैं इस रिवाज को आत्म विश्वास तोड़ने की साजिश मानता हूँ। यह ‘सलाम’ की रस्म बन्द होनी चाहिए।”<sup>46</sup> एक दूसरी कहानी ‘गोहत्या’ है। कुत्सित हिंदू परंपरा के अनुसार हर नई नवेली दलित दुल्हन की डोली सामंतवादी सवर्णों की हवेली में पहले जाती थी उसके बाद ही उसका अपना पति अपनी पत्नी के साथ सम्बन्ध बनाता था। ‘गोहत्या’ कहानी में सुक्का नामक दलित पात्र खुद ब्राह्मण, क्षत्रिय, बनिया तिकड़ी गठजोड़ का शिकार तो होता है लेकिन बहू उठाई प्रथा के खिलाफ उठ खड़ा होता है— “मुखिया के बदलते तेवर देखकर सुक्का काम रोककर खड़ा हो गया। शब्दों को मुँह में चबाते हुए बोला, “वह हवेली नहीं आयेगी।”

“हवेली नहीं आयेगी... तू जानता है क्या कह रहा है” मुखिया जी को लगा जैसे उसके सामने सुक्का नहीं कोई अजनबी खड़ा है जो उसके वजूद को नकार रहा है। मुखिया जी की आँखों से चिनगारी झरने लगी। भृकुटी की वक्र रेखा गहरा गई।

“औकात में रह सुक्का। उड़ने की कोशिश ना कर, बाप—दादों से चली आई रीत है।”

सुक्का के भीतर बैठा कमजोर आदमी करवट बदल रहा था। उसने कमजोर पड़ते साहस को समेटा और बोला, ‘मुखिया जी काम करता हूँ तो दो मुट्ठी चावल देते हो... वह हवेली नहीं आयेगी’ कहकर वह हवेली से बाहर हो गया।<sup>47</sup> जबकि ‘सद्गति’ का दुखी कहता है— “पंडाइन माता, मुझसे बड़ी भूल हुई कि घर में चला आया। चमार की अकल ही तो ठहरी। इतने मूर्ख न होते, तो लात क्यों खाते।”<sup>48</sup> वाल्मीकि की कहानी ‘कहाँ जाए सतीश’ में सतीश कहता है— “मैं सफाई कर्मचारी बनना नहीं चाहता... मैं पढ़ना चाहता हूँ... जिस मुहल्ले में हम रहते हैं, वहाँ मेरा दम घुटता है। ...मैं इस भंगीपन से छुटकारा पाना चाहता हूँ।”<sup>49</sup>

प्रेमचंद और ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में समयान्तराल के साथ शोषण—दमन में कोई खास बदलाव नहीं दिखाई देता, लेकिन दलित चेतना में बदलाव हुआ है। प्रेमचंद के यहाँ दलित पात्र दीन—हीन नियतिवादी हैं, जबकि वाल्मीकि के दलित पात्र समय और समाज को चुनौती देते हैं। इस सच्चाई से इनकार नहीं किया जा सकता है कि दोनों लेखकों में समयान्तराल के साथ—साथ जातीय अन्तर भी बहुत कुछ परिवर्तन का कारण है। जो जितना भोगता है उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही प्रखर होती है। इसलिए प्रेमचंद दलित चेतना, दलित समस्या के लेखक कम, उनकी गतिविधियों के लेखक ज्यादा लगते हैं।

‘सद्गति’ 1931—32 में आती है जिसमें दुखी अपनी मानसिक गुलामी के साथ उपस्थित है। वह बिना किसी प्रतिवाद के दम तोड़ देता है। लगन—पत्री, भाग्य—भगवान, जन्म—पुनर्जन्म, ऊँच—नीच की अवधारणा में इतना जकड़ा है कि खुद को ही दोषी मानता है जबकि 1927 में ‘बहिष्कृत भारत’ में बाबा साहब लिख चुके थे— “जिसने पहली बार हमें अछूत कहा था उसकी जीभ उसी समय काट दी होती तो आज हमें कोई अछूत नहीं कहता।”<sup>50</sup>

ऐसा विद्रोही स्वर किसी सवर्ण लेखक या सुधारक में नहीं मिलता। इसमें अछूत की विवशता और ब्राह्मणवाद की क्रूरता दोनों की अभिव्यक्ति हुई है। कंवल भारती बहुत ही वाजिब सवाल उठाते हैं— “दलित चिंतन के समक्ष प्रश्न यह है कि इस कहानी में सद्गति क्या है? किसकी हुई है सद्गति? क्या दुखी की सद्गति हुई है, जो भूखा—प्यासा रहकर पंडित जी के घर बेगार करते—करते मर जाता है, और जिसे पैर में रस्सी बांधकर गाँव के बाहर घसीटकर ले जाया जाता है, जिसकी लाश को पशु नोच रहे होते हैं? या पंडित घासीराम की सद्गति हुई है, जिसने एक चमार की लाश उठाने का अशास्त्रीय कार्य किया? मेरा अपना मत यह है कि सद्गति जितनी यथार्थपरक कहानी है, उतनी ही कल्पनापरक भी। पुलिस के डर से चमारों का दुखी का लाश न उठाना समझ में आता है, पर दुखी की स्त्री और कन्या का अपने ही



सामने दुखी की लाश की बेकदरी होते देखना और पंडित जी की लाश को रस्सी में घसीटकर ले जाना स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता।... दुखी बेगार से इनकार करके अपनी जान दे सकता था। यदि प्रेमचंद ने यह किया होता, तो वह सही मायने में सद्गति होती।”<sup>51</sup>

प्रेमचंद और सद्गति की सार्थकता तब ज्यादा होती जब दुखी लगन-पत्री का बहष्कार करता, लेकिन प्रेमचंद ऐसा नहीं कराते हैं। इस कहानी का अंत भी दलितों को बुजदिल और संवेदनहीन बताते हुए हुआ है, जिसका यथार्थ से कोई संबंध नहीं है। यदि प्रेमचंद दुखी को बेगार के विरोध में खड़ा करते, तो कहानी अपने उद्देश्य में सार्थकता को पूर्ण करती।

‘राष्ट्र का सेवक’ प्रेमचंद की बहुत ही छोटी-सी कहानी है। इसमें अन्तर्जातीय विवाह की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। यह कहानी पहले उर्दू में ‘कौम का खादिम’ शीर्षक से छपी थी। 1930 में यह कहानी हिन्दी में ‘राष्ट्र का सेवक’ नाम से उर्दू कहानी संग्रह ‘प्रेम चालीसी’ में प्रकाशित हुई। इस छोटी-सी कहानी का उद्देश्य और संदेश बिलकुल स्पष्ट है। जो लोग भाषण देकर अपनी वाह-वाही लूटते हैं, लेकिन यथार्थ के धरातल पर सब टॉय-टॉय फिस्स ही होता है। ऐसे लोगों की बखिया उधेड़ती है यह कहानी। उन लोगों के बाह्य आचरण और अन्तःकरण की दोहरी प्रवृत्ति को सामने रखती है जिनकी करनी और कथनी में कोई ताल-मेल नहीं बैठता है। मुख्य रूप से इनमें तीन पात्र ‘राष्ट्र का सेवक, उसकी बेटी इन्दिरा, और दलित जाति का लड़का मोहन। राष्ट्र का सेवक भाषण देता है— “राष्ट्र के सेवक ने कहा— “देश की मुक्ति का एक ही उपाय है और वह है नीचों के साथ भाईचारे का सलूक, पतितों के साथ बराबरी का बर्ताव। दुनिया में सभी भाई हैं, कोई नीचा नहीं, कोई ऊंचा नहीं।

दुनिया ने जयजयकार की— कितनी विशाल दृष्टि है, कितना भावुक हृदय!”<sup>52</sup>

‘राष्ट्र के सेवक’ के माध्यम से दलितों के लिए ‘नीचों’, ‘पतितों’ जैसे निकृष्ट शब्दावलियों का प्रयोग प्रेमचंद की मानसिकता को तो दर्शाती ही है। साथ ही किसी भी स्वाभिमानी व्यक्ति (चाहे वह दलित हो या सवर्ण) के लिए इस तरह की भाषा अत्यंत ही पीड़ादायी है।

भाषण सुनकर राष्ट्र सेवक की बेटी चिंतित हो उठती है लेकिन दूसरे ही पल उसके चेहरे पर चमक आ जाती है, जब अपने पिता को दलित लड़के से गले मिलते देखती है। उसके पिता लड़के को मंदिर में ले जाकर देवताओं के दर्शन कराते हैं। इंदिरा की खुशी और बढ़ जाती है। वह अपने पिता जी से कहती है— “श्रद्धेय पिता जी, मैं मोहन से ब्याह करना चाहती हूँ।

राष्ट्र के सेवक ने प्यार की नजरों से देखकर पूछा— मोहन कौन है?

इन्दिरा ने उत्साह-भरे स्वर में कहा— मोहन वही नौजवान है, जिसे आपने गले लगाया, जिसे आप मंदिर में ले गए, जो सच्चा बहादुर और नेक है।

राष्ट्र के सेवक ने प्रलय की आंखों से उसकी ओर देखा और मुंह फेर लिया।”<sup>53</sup>

संवाद सिर्फ पिता और पुत्री में ही होता है। इन्दिरा का मोहन से शादी का प्रस्ताव रखना बहुत ही जल्दबाजी और अस्वाभाविक लगता है। क्योंकि इसमें मोहन का कोई पक्ष नहीं रखा गया है। वह क्या चाहता है? उसका कोई संकेत नहीं है कहानी में। पिता भाषण देते हैं, दिखावा करते हैं। बेटी दो कदम आगे बढ़कर अछूत से शादी करने का प्रस्ताव रखती है। इन्दिरा को इस कहानी में प्रगतिशील दिखाया गया है, लेकिन मोहन को गूंगा बनाकर पेश किया गया है। यह कहानी और प्रभावशाली होती यदि मोहन के विचारों के साथ उसे भी सम्मिलित किया गया होता। मुझे ऐसा लगता है कि सामाजिक बदलाव का कार्य सिर्फ एक खास वर्ग द्वारा ही कराना चाहते हैं प्रेमचंद। चाहे वह ‘मंत्र’ के लीलाधर चौबे हों, ‘दोनों तरफ’ कहानी के

श्यामस्वरूप पंडित और उनकी बीवी या फिर राष्ट्र का सेवक और इंदिरा। यह कहानी दलित समस्या या चेतना से जुड़ती नहीं है, बल्कि प्रेमचंद के समय में समाज में जो दलितों के प्रति धारणा थी उसी के छोटे से बिंदु को संकेत रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है।

राष्ट्र के सेवक द्वारा दिये गये भाषण में दलितों के साथ खान-पान और रहने का जो आग्रह किया गया वह बिलकुल खोखला है। ऐसे लोगों के कार्यों को देखकर बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर 'एनिहिलेशन ऑफ कास्ट' में लिखते हैं— "आपका यह मानना उचित है कि अन्तर्जातीय-विवाह और अन्तर्जातीय-भोज को जीवन का सामान्य अंग बनाने पर ही, एक सक्रिय ताकत के रूप में जाति का अस्तित्व खत्म हो जायेगा। आपने रोग की जड़ ढूँढ़ ली है। लेकिन आपके द्वारा बताए गये उपचार से क्या रोग का निदान संभव हो सकेगा? आप स्वयं से एक प्रश्न करें कि क्या कारण है कि हिन्दुओं का एक बहुत बड़ा वर्ग अन्तर्जातीय-विवाह और अन्तर्जातीय-भोज में सम्मिलित नहीं होता। क्या कारण है कि आपका ध्येय लोकप्रिय नहीं है? इस प्रश्न का एक ही उत्तर है कि अन्तर्जातीय-भोज एवं विवाह उन आस्थाओं और संस्थाओं के प्रतिकूल हैं जिन्हें हिन्दू पवित्र मानते हैं।" ...जिस असली शत्रु से हमें जूझना है वे शास्त्र हैं जो जाति का धर्म सिखाते हैं, न कि वे लोग जो जाति प्रथा का पालन करते हैं। अन्तर्जातीय-विवाह और भोज में शामिल न होने पर लोगों का मजाक उड़ाना या उनकी आलोचना करना या यदा-कदा अन्तर्जातीय-विवाह और भोजन आयोजित करना, इस ध्येय को प्राप्त करने का बेकार तरीका है। शास्त्रों की पवित्रता में लोगों के विश्वास को खत्म करना वास्तविक उपचार है। ...अन्तर्जातीय विवाह और भोज कृत्रिम तरीके से जबरदस्ती घुट्टी पिलाने की तरह है।"<sup>54</sup>

यह समस्या आज भी समाज में व्याप्त है। जैसे ही बिना स्वार्थ बेटी-रोटी का सम्बन्ध सामने आता है राष्ट्र के सेवक की तरह सारा का सारा आदर्श धरा का धरा रह जाता है। प्रेमचंद अपने समय की समस्या को चिन्हित

भर किये हैं, कोई विकल्प नहीं कोई उपाय नहीं दिये हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों का स्पष्ट उद्देश्य होता है। वे समस्याओं को चिन्हित भी करते हैं और उससे बाहर निकलने का रास्ता भी सुझाते हैं। समाज और पात्रों के सामने एक विकल्प भी रखते हैं।

‘ठाकुर का कुआँ’ अगस्त 1932 में हिंदी के साप्ताहिक पत्र ‘जागरण’ में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी की मुख्य पात्रा दलित स्त्री गंगी है। गंगी का पति जोखू बीमार था। गाँव में तीन कुएँ थे— एक अछूतों का, दूसरा ठाकुरों का और तीसरा साहुओं का। अछूतों के कुएँ में कोई जानवर गिरकर मर गया था, इसलिए गंगी अपने बीमार पति जोखू को गंदा पानी नहीं पिलाना चाहती थी। वह साफ पानी लेने के लिए ठाकुर के कुएँ पर जाती है। सांझ के धुंधलके में वह छिपती छिपाती चुपके से रस्सी के सहारे घड़े को कुएँ में डाल देती है। वह ऊपर पानी खींच ही रही होती है कि ठाकुर का दरवाजा ऐसे खुलता है जैसे शेर का भयानक मुंह। गंगी के हाथ से रस्सी छूट जाती है। रस्सी के साथ घड़ा धड़ाम से पानी में गिर जाता है और कुछ देर तक पानी में हिलकोरे की आवाज सुनाई देती है। कौन है, कौन है? पुकारता हुआ ठाकुर कुएँ की तरफ आने लगता है और गंगी कुएँ की जगत से उतरकर अपने घर की ओर भागी जा रही है। घर पहुँचकर देखा तो जोखू लोटा का वही गंदा पानी पी रहा था। यहीं कहानी का अन्त हो जाता है।

स्वच्छ पानी लाने की जुगत में गंगी और जोखू में जो संवाद होते हैं, वहाँ से कहानी आगे बढ़ती है— “गंगी बोली— कुएँ से मैं दूसरा पानी लाये देती हूँ।

जोखू ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा— दूसरा पानी कहाँ से लायेगी? ठाकुर और साहू के दो कुएँ तो हैं। क्या एक लोटा पानी न भरने देंगे?

हाथ—पाँव तुड़वा आयेगी और कुछ न होगा। बैठ चुपके से। ब्रह्म—देवता आशीर्वाद देंगे, ठाकुर लाठी मारेंगे, साहू जी एक के पाँच लेंगे। गरीबों का

दर्द कौन समझता है! हम तो मर भी जाते हैं, तो कोई दुआर पर झाँकने नहीं आता, कंधा देना तो बड़ी बात है। ऐसे लोग कुँ से पानी भरने देंगे?<sup>55</sup>

ये पंक्तियाँ तथाकथित सभ्य समाज पर तंज हैं। जिन लोगों ने अछूतों से मानवीय मूल्यों का कोई रिश्ता ही नहीं रखा क्या वो जोखू को पानी पिलाएँगे कदाचित नहीं। 'ठाकुर का कुँ' अस्पृश्यों के त्रासदी की मार्मिक कहानी तो है लेकिन वर्ण-विरोध की कहानी नहीं है। क्योंकि प्रेमचंद से एक भूल हुई है। वह भूल यह है कि उन्होंने इस कहानी में गंगी और जोखू को पानी नहीं मिलने का कारण उनकी गरीबी बताया है, जबकि गरीबी कारण नहीं है। मुख्य कारण तो जाति से अस्पृश्य होना है। कंवल भारती के शब्दों में— "यहाँ प्रेमचंद ने जाति के कारण नहीं, गरीबी के कारण जोखू की उपेक्षा दर्शाई है। प्रश्न यह है कि यदि जोखू गरीब नहीं होता, तो क्या उसकी घरवाली को (या उसे) ठाकुर के कुँ पर चढ़ने की आजादी मिल जाती? नहीं मिलती, क्योंकि जोखू अछूत जाति का है और जाति-वर्ण की व्यवस्था में अछूत का ठाकुर के कुँ से पानी लेने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। गंगी का विद्रोह काबिले तारीफ है, पर प्रेमचंद वर्ण और जाति पर कोई चोट नहीं करते हैं। कोई मुक्ति संग्राम लड़ा होता गंगी ने, तो हो सकता था, गंगी की जान चली जाती, वह दलितों के अस्मिता की कहानी बन जाती और जोखू वही मैला गंदा पानी न पीता।"<sup>56</sup>

गंगी का ठाकुर के कुँ से पानी भरने का साहस करना बड़ी बात है, लेकिन जिस व्यवस्था के विरोध में वह खड़ी होती है, उसी व्यवस्था में बने रहने के लिए फिर वापस चली जाती है। 'कौन है, कौन है?' पुकारते हुए ठाकुर कुँ की तरफ आ रहा था और गंगी जगत से कूदकर भागी जा रही थी। यह कहानी दलित अस्मिता की कहानी बन जाती यदि गंगी डटकर ठाकुर का मुकाबला करती। 1932 में छपी इस कहानी पर 1927 में बाबा साहेब द्वारा चलाए गए महाड़ में चोबदार तालाब से पानी पीने के आंदोलन का प्रभाव है। इससे पहले डॉ. अम्बेडकर के अलावा किसी ने भी इस समस्या

पर अपनी आवाज नहीं उठाई थी। बाबा साहब अपने आंदोलन में सफल भी रहे। इस कहानी का अन्त गाँधी की विचारधारा वर्ण-व्यवस्था को बनाए रखने में होता है। जोखू द्वारा गंदा पानी पीना वर्ण-व्यवस्था को स्वीकृति प्रदान करना है।

प्रेमचंद गंगी के मनोविज्ञान को पकड़ते हैं और उसकी सोच के माध्यम से ब्राह्मण, ठाकुर, बनिया तीनों की गठजोड़ पर चोट करते हैं, लेकिन गंगी से विद्रोह या प्रतिकार नहीं कराते हैं। गंगी बस अपने मन में सोचती है लेकिन अभिव्यक्त नहीं करती। कहानी का उद्देश्य बदल जाता यदि गंगी कुँ पर ठहरकर ठाकुर से दो-चार करती। उसका विद्रोह उसके मन में ही रह जाता है— “गंगी का विद्रोही दिल रिवाजी पाबन्दियों और मजबूरियों पर चोटें करने लगा— हम क्यों नीच हैं और लोग क्यों ऊँचे हैं? इसलिए कि ये लोग गले में तागा डाल लेते हैं? यहाँ तो जितने हैं, एक से एक छँटे हैं? चोरी ये करें, जाल-फरेब ये करें, झूठे मुकदमें ये करें। अभी इस ठाकुर ने तो उस दिन बेचारे गड़रिये की एक भेड़ चुरा ली थी और बाद में मारकर खा गया। इन्हीं पंडित जी के घर में बारहो मासा जुआ होता है। यही साहूजी तो घी में तेल मिलाकर बेचते हैं। काम करा लेते हैं मजूरी देते नानी मरती है। किस बात में हैं हमसे ऊँचे। हाँ, मुँह में हमसे ऊँचे हैं। हम गली-गली चिल्लाते नहीं कि हम ऊँचे हैं, हम ऊँचे! कभी गाँव में आ जाती हूँ, तो रसभरी आँखों से देखने लगते हैं। जैसे सबकी छाती पर साँप लोटने लगता है, परंतु घमण्ड यह कि हम ऊँचे हैं।”<sup>57</sup>

तथाकथित सवर्णों के कृत्यों और अमानवीय गुणों पर सवाल उठाना गंगी की नई चेतना का प्रमाण है। प्रेमचंद की कहानी कला शुरू से चलते-चलते बीच में विमर्श के मुद्दे उठाती है, समाज व्यवस्था के ठेकेदारों पर प्रश्न भी खड़ा करती है, लेकिन अन्त होते-होते नियतिवाद को स्वीकार कर लेती है जिससे सारा का सारा विमर्श, युगचेतना, नई सोच धरी की धरी

रह जाती है। वहाँ से किसी नई किरण का प्रस्फुटन नहीं होता दिखाई देता है।

गंगी के मन में नफरत उपजती है समाज के उन लोगों के प्रति जो कहने को तो बड़े ऊँचे बनते हैं, लेकिन पराई स्त्री के प्रति गिद्धों की तरह नजर रखते हैं। जब वह गाँव में जाती है तो सवर्णों द्वारा बदनीयति से देखी जाती है। उसके मन में क्रोध उठता है लेकिन बाहर नहीं आता। ओमप्रकाश वाल्मीकि की दलित स्त्री पात्र ऐसे बदनीयति वाले लोगों को जमकर जवाब देती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'अम्मा' कहानी में जब विनोद नामक मर्द अम्मा पर कुदृष्टि डालता है तो अम्मा न सिर्फ खरी-खोटी सुनाती है, बल्कि पिटाई भी करती है— "झाड़ू की मूठ पर हथेली कस गई। पूरी ताकत से झाड़ू का वार सीधा उसकी कनपटी पर किया। चोट लगते ही वह लड़खड़ा गया और बेडरूम की तरफ भागा। अम्मा लगातार उसे पीटते हुए बेडरूम में घुस गई। वह नीचे फर्श पर गिर पड़ा था। अम्मा का झाड़ू सड़ाक-सड़ाक उस पर पड़ रहा था। मुँह से गालियाँ फूट रही थीं।" जब मिसेज चोपड़ा उसे रोकती हैं तो अम्मा कहती है— भैण जी इस हरामी के पिल्ले से कह देणा... हर एक औरत छिनाल ना होवे है।" अम्मा की आँखों में लाल सुर्ख डोरे अंगारों की तरह दहक रहे थे। गुस्से से शरीर काँप रहा था। अम्मा का साँवला रंग और गहरा हो गया था।<sup>58</sup>

स्त्री चाहे दलित हो या सवर्ण, वह हर काल में पुरुषों के शोषण का शिकार हुई हैं। सवर्ण और दलित स्त्रियों में कुछ विभाजक रेखाएँ हैं, दलित स्त्रियाँ शोषण के प्रति सजग हैं और विरोध करती हैं। जबकि सवर्ण स्त्रियाँ विरोध में नहीं खड़ा होती हैं। ठाकुर का कुआँ में भी 'सवर्ण स्त्री शोषण' को उठाया गया है— "खाना खाने चले और हुक्म हुआ कि ताजा पानी भर लाओ। घड़े के लिए पैसे नहीं है।'

'हम लोगों को आराम से बैठे देखकर जैसे मर्दों को जलन होती है।'

हाँ, यह तो न हुआ कि कलसिया उठाकर भर लाते। बस हुकुम चला दिया कि ताजा पानी लाओ, जैसे हम लौंडियाँ ही तो हैं।’

लौंडिया नहीं तो और क्या हो तुम? रोटी-कपड़ा नहीं पाती? दस-पाँच रुपये छिन-झपट कर ले ही लेती हो! और लौंडियां कैसी होती है।’

मत लजाओ दीदी! छिन भर आराम करने को जी तरस कर रह जाता है।”<sup>59</sup>

भारत में लगभग सभी स्त्रियों की दशा दयनीय ही है। सवर्ण स्त्रियाँ भी अपने पुरुषों द्वारा इतनी शोषित हैं कि अपने को दूसरों की घरों में काम करने वाली महिलाओं से भी गई-बीती समझती हैं। कहने को तो घर में रहती हैं, पर क्षण भर के लिए आराम नहीं होता है, उनकी अन्तःपीड़ा अभिव्यक्ति का रूप नहीं ग्रहण कर पाती।

इस देश के लोगों ने ही यहाँ के दलितों पर जितना अत्याचार किया है, उतना किसी ने भी नहीं किया है। डॉ. राम चंद्र मार्क्सवादी नीलकान्त जी को कोट करते हुए लिखते हैं— “स्वातंत्र्योत्तर भारत में अछूतोद्धार, मजदूरी, स्त्री का सामाजिक दमन और दलित के उत्पीड़न की समस्या के हल होने की संभावना होती, तो बाबा साहेब अम्बेडकर नव बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए आगे न आते।... सिर्फ बिहार के आंकड़े बताते हैं कि आजादी के बाद दलितों पर जितना और जिस किस्म का जुल्म ढाया गया, उतना अंग्रेजों के पूरे शासन काल में भी संभव नहीं हुआ था। ऐसा सिर्फ इसी कारण हुआ कि आजादी के बाद सत्ता और प्रशासन पर फिर वही लोग सर्वत्र विराजमान हो गए, जो गंगी और जोखू को अपने कुएँ से एक लोटा पानी तक नहीं लेने देते थे।”<sup>60</sup>

‘दूध का दाम’ तक आते-आते प्रेमचंद की सोच में थोड़ा बदलाव दिखाई देता है। इसलिए दलित चेतना थोड़ी उभरकर सामने आई है। मंगल सुरेश को अपनी पीठ की सवारी कराने से इनकार करता है और प्रतिरोध भी दर्ज करता है।



भारतीय समाज की यही सच्चाई है कि सर्वथा इन सच्चाईयों पर मिट्टी पलीत करने की कोशिश होती रही है। 'दूध का दाम' जुलाई 1934 में हंस पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। उस समय तक प्रेमचंद बहुत सारे आंदोलनों और विचारधाराओं से परिचित हो चुके थे, बावजूद इसके यह कहानी हरिजनवादी है। इस कहानी में दलित स्त्री की निश्छल प्रेम और त्याग तथा सवर्णों के काँइयॉपन, स्वार्थ और एहसानफरामोशी को दिखाया गया है। कहानी की दलित पात्रा भूँगी अपना दूध अपने बेटे को न पीलाकर जमींदार के बेटे को पिलाकर पालती है। जब उन दोनों पति पत्नी की मृत्यु हो जाती है, तो उसका बेटा जमींदार के घर पर भिखारी की तरह जीवन—यापन करने के लिए मजबूर हो जाता है। बड़े लोगों में स्वार्थसिद्ध करने की अद्भुत कला होती है इसे प्रेमचंद ने उजागर किया है। महेशनाथ के यहाँ भूँगी की खूब खातिरदारी होने लगी— "सबेरे हरीरा मिलता, दोपहर को पूरियाँ और हलवा, तीसरे पहर को फिर रात को फिर और गूदड़ को भी भरपूर परोसा मिलता था। भूँगी अपने बच्चे को दिन—रात में एक दो बार से ज्यादा न पिला सकती थी। उसके लिए ऊपर के दूध का प्रबन्ध था। भूँगी का दूध बाबू साहब का भाग्यवान बालक पीता था।"...

मालकिन कहती— भूँगी, हमारे बच्चे को पाल दे, फिर जब तक तू जिये, बैठी खाती रहना। पाँच बीघे माफी दिलवा दूँगी। नाती—पोते तक चैन—करेंगे।

और भूँगी का लाड़ला ऊपर का दूध हजम न कर सकने के कारण बार—बार उल्टी करता और दिन—दिन दुबला होता जाता था।<sup>61</sup>

भूँगी और गूदड़ की खातिरदारी में शुद्ध रूप से सवर्ण समाज का स्वार्थ छिपा है। कथनी और करनी में फर्क हो जाता है जब दोनों पति की मृत्यु हो जाती है, तो नाती—पोते को कौन पूछे स्वयं भूँगी के बेटे की हालत दयनीय हो जाती है। उसे ठीक से दो वक्त की रोटी नसीब नहीं होती।

कुछ इसी तरह का स्वार्थ ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'ग्रहण' में उभरकर आया है। जमींदार का बेटा बीरमपाल की बहू बाँझपन का दंश झेलती है। कमी तो बिरम में है, पर सब बहू को दोष देते हैं। बाँझपन से छुटकारे के लिए बहू दलित युवक रमेसर का इस्तेमाल करती है— "बहू ने अपना सिर रमेसर की छाती में सटाते हुए फुसफुसाकर कहा, अनाज की चिंता न करो... बस, एक बार... मुझे एक बेटा चाहिए... उसके बदले जो कहोगे... दूँगी..."

लेकिन... बहू जी... रमेसर का गला सुखने लगा।

कुछ मत कहो... कोई भी जान नहीं पाएगा... मुझ पर दया करो..."

बहू गिड़गिड़ा रही थी। उसकी आँखों में बाढ़ का गँदला पानी भरा हुआ था।<sup>62</sup> दोनों के समागम से बहू के पाँव भारी हो जाते हैं। घर—समाज में चारों तरफ उसकी खोई इज्जत बढ़ जाती है। इस कहानी का दूसरा भाग है 'बिरम की बहू' बहू की पूरी हवेली में आव—भगत होने लगता है। एक दिन बहू शिव की पूजा करने अपने सहेलियों के साथ जाती है। रास्ते में रमेसर मिलता है लेकिन उसके तरफ देखती तक नहीं रमेसर को बहुत दुःख होता है। चन्द्र ग्रहण की रात वाली घटना उसके आँखों में नृत्य करने लगती है। बहू का गिड़गिड़ाता चेहरा रमेसर के सामने घूम गया— "रमेसर मुझे एक बच्चा चाहिए... बाँझपन की पीड़ा से मुक्ति चाहिए।"

विषय—वस्तु के आधार पर प्रेमचंद और ओमप्रकाश वाल्मीकि में सवर्ण स्त्रियों के स्वार्थ को लेकर समानता दिखाई देती है। प्रेमचंद की सवर्ण स्त्री पात्रा जमींदारिन भी भूँगी से विनती करती है कि वह उसके एकलौते वंशपरंपरा की निशानी को पाल दे। बिरम की बहू भी वंश परंपरा को चलाने के लिए तथा खुद को बाँझपन जैसी घृणित पदवी से छुटकारा पाने के लिए रमेसर की गरीबी का भरपूर फायदा उठाती है। हालांकि कुछ मजबूरियाँ भी हैं बहू की जो वाल्मीकि की कहानी में पूरी तरह से आई हैं।

जब अपना स्वार्थ सिद्ध करना होता है तो बड़े-बड़े महारथी केंचुआ बन जाते हैं। यही हाल भूँगी के सामने जमींदार बाबू महेशनाथ का था। भूँगी के बातों को बाबू साहब हंस कर टाल देते हैं।

“महेशनाथ ने कहा था— दुनिया में और चाहे जो कुछ हो जाय, भंगी, भंगी ही रहेंगे। इन्हें आदमी बनाना कठिन है।

इस पर भूँगी ने कहा था— मालिक, भंगी तो बड़ों-बड़ों को आदमी बनाते हैं, उन्हें कोई क्या आदमी बनाये।

यह गुस्ताखी करके किसी दूसरे अवसर पर भला भूँगी के सिर के बाल बच सकते थे? लेकिन आज बाबूसाहब टटाकर हँसे और बोले— भूँगी बात बड़े पते की कहती है।<sup>63</sup> यदि महेशनाथ भूँगी की बातों को हँसकर टाल देते हैं, तो उस पर एहसान नहीं करते हैं, बल्कि उससे अपने स्वार्थ की पूर्ति करते हैं। जैसे ही स्वार्थ पूरा हो जाता है, वैसे ही चेहरे से फरेब का मुखौटा हट जाता है और सच्चाई सामने आ जाती है। जिस भूँगी ने अपने कलेजे के टुकड़े के हिस्से का दूध जमींदार साहब के बेटे को पिलाकर हृष्ट-पुष्ट बनाया, वंश परंपरा को जीवित किया, उसके मरते ही उसका अपना बच्चा दाने-दाने को मुहताज हो जाता है। जूठन के लिए भी उसे नहीं पूछा जाता। यदि जमींदार साहब स्वार्थी नहीं होते तो भूँगी के बेटे को ऐसे दिन नहीं देखने पड़ते, उनकी मनुष्यता उनके स्वार्थ सिद्धि तक सीमित है, उसके बाहर उन्होंने जाने की कभी कोशिश नहीं किया।

इसमें प्रेमचंद दलित चेतना की बात तो करते हैं लेकिन वह चेतना निरन्तरता खो बैठती है और पुनः जहालत भरी व्यवस्था को स्वीकार कर लेती है। इसमें दो महत्वपूर्ण बिन्दु ऐसे उठाए हैं प्रेमचंद जो सही अर्थों में अपने समकालीन लेखकों से उन्हें अलग करती हैं, लेकिन फिर उसी व्यवस्था की पूँछ पकड़कर उसी में वापस लौट जाना प्रेमचंद को तत्कालीन समय सीमा और जातीय-व्यवस्था के अन्तर्गत ही बाँध देती है।

इन दोनों बिंदुओं को प्रेमचंद ने बहुत ही व्यंजनात्मक रूप में खेल के माध्यम से सवर्णों द्वारा दलितों के शोषण को उद्घाटित किया है—

“मंगल बोला— ना भैया, कहीं मालिक देख लें, तो मेरी चमड़ी उधेड़ दी जाय। तुम्हें क्या, तुम तो अलग हो जाओगे।

सुरेश ने कहा— तो यहाँ कौन आता है देखने बे? चल हम लोग सवार—सवार खेलेंगे। तू घोड़ा बनेगा, हम लोग तेरे ऊपर सवारी करके दौड़ाएँगे?

मंगल ने शंका की— मैं बराबर घोड़ा ही रहूँगा, कि सवारी भी करूँगा? यह बता दो। यह प्रश्न टेढ़ा था। किसी ने इस पर विचार न किया था। सुरेश ने एक क्षण विचार करके कहा— तुझे कौन पीठ पर बिठायेगा, सोच? आखिर तू भंगी है कि नहीं?

मंगल भी कड़ा हो गया बोला— मैं कब कहता हूँ कि मैं भंगी नहीं हूँ, लेकिन तुम्हें मेरी ही माँ ने अपना दूध पिलाकर पाला है। जब तक मुझे भी सवारी करने को न मिलेगी मैं घोड़ा न बनूँगा। तुम लोग बड़े चघड़ हो। आप तो मजे से सवारी करोगे और मैं घोड़ा ही बना रहूँ।...

...तीनों ने मंगल को घेर लिया और उसे जबरदस्ती घोड़ा बना दिया।<sup>64</sup> मंगल में अपनी चमड़ी उधेड़े जाने का भय के बावजूद एक चेतना का संचार होता है— प्रतिकार करने का, सही गलत से साक्षात्कार करने का। इस चेतना को प्रेमचंद स्थायित्व नहीं प्रदान करते, बल्कि तुरन्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की तिकड़ी के सामने घुटने टेकवा देते हैं।

दूसरी बार फिर से मंगल में आत्मसम्मान की भावना जागृत होती है। मालकिन के डाँटने पर वह अपना बोरिया बिस्तर उठाता है और अपने माँ—बाप के घर की ओर चल देता है। एक अदना सा दलित बच्चा सामाजिक कुरीतियों और वर्णवादी समाज व्यवस्था के प्रति विद्रोह करे यह प्रेमचंद को

मंजूर नहीं था। इसीलिए वह फिर से व्यवस्था के सामने नाक रगड़वा देते हैं। खुद प्रेमचंद लिखते हैं— “मंगल में गैरत तो क्या थी, हाँ, डर था। चुपके से अपने सकोरे उठाये, टाट का टुकड़ा बगल में दबाया, धोती कन्धे पर रखी और रोता हुआ वहाँ से चल पड़ा। अब वह यहाँ कभी न आयेगा। यही तो होगा कि भूखों मर जायेगा। क्या हरज है? इस तरह जीने से फायदा ही क्या? गाँव में उसके लिए और कहाँ ठिकाना था? भंगी को कौन पनाह देता। उसी खंडहर की ओर चला, जहाँ भले दिनों की स्मृतियाँ उसके आँसू पोंछ सकती थीं और खूब फूट-फुटकर रोया।”<sup>65</sup> जैसे-जैसे शाम हो रही थी भूख बढ़ती जा रही थी। जमींदार के घर की जूठी मिठाईयों और जूठन की ओर ध्यान जा रहा था मंगल का।

“उसने टामी से सलाह की— खाओगे क्या टामी? मैं तो भूखा लेट रहूँगा। टामी ने कूँ-कूँ करके शायद कहा— इस तरह का अपमान तो जिंदगी भर सहना है। यों हिम्मत हारोगे, तो कैसे काम चलेगा? मुझे देखो न, कभी किसी ने डण्डा मारा, चिल्ला उठा, फिर जरा देर बाद दुम हिलाता हुआ उसके पास जा पहुँचा। हम तुम दोनों इसलिए बने हैं भाई।” अन्त में टामी और मंगल फिर महेशनाथ के घर आ जाते हैं। “मंगल ने एक हाथ से टामी का सिर सहलाकर कहा— देखा पेट की आग ऐसी होती है! यह लात की मारी हुई रोटियाँ भी न मिलतीं, तो क्या करते?”<sup>66</sup>

जिस तरह से मंगल अपनी अस्मिता की परवाह किये बगैर बाबू महेशनाथ के दरवाजे पर आ जाता है, उससे कहीं भी दलित चेतना उभरती हुई नहीं दीखती है। उल्टे मंगल के माध्यम से पूरे दलित समुदाय के लिए वीभत्स सामाजिक-व्यवस्था की स्वीकारोक्ति है। डॉ. एस. के. पंजम के शब्दों में— “यह कौन सा प्रगतिवाद है? यह तो ब्राह्मणवादी सदियों से करते आ रहे हैं, वही प्रेमचंद ने किया है। प्रेमचंद ने कहीं भी, किसी भी दलित को शिक्षा की बात नहीं की, वैज्ञानिक चेतना की बात नहीं की, कहीं भी हथियार नहीं थमाया, कहीं भी विद्रोह नहीं कराया। आखिर प्रेमचंद इस कहानी के माध्यम

से कहना चाहते हैं यही न कि तुम्हारी नियति यही है। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों के दरवाजे पर सदैव जूठी पत्तल चाटते रहो, क्योंकि यही सारे ब्राह्मणवादी काले साहित्यों में लिखा है।<sup>67</sup>

इस कहानी की तुलना ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी कहाँ जाए सतीश से की जा सकती है। सतीश अपने रहने के लिए संघर्ष करता है। सतीश की परीक्षा उसके सिर पर है लेकिन कोई भी उसे रहने के लिए जगह नहीं देता है, फिर भी वह पंत के घर दया की भीख माँगने नहीं आता। निकल जाता है इस व्यवस्था को अपने पीछे छोड़कर। दलितों के प्रति जिस तरह का शोषण, अत्याचार, दमन, सहानुभूति प्रेमचंद के समय में व्याप्त था, वैसा ही ओमप्रकाश वाल्मीकि के समय भी दिखाई देता है, सिर्फ समय का गैप है। सामाजिक रूढ़ी या भेद-भावपूर्ण व्यवस्था तो वैसी की वैसी है। यदि दोनों कहानियों में अन्तर है तो वह है चेतना के स्तर पर। जब कोई भुक्तभोगी लिखता है, तो उसे शोषणकारी समाज व्यवस्था से निकलने की टीस और चिंता दोनों रहती है और वह उसका विकल्प भी देता है। जब कल्पनाधारित सहानुभूति के आधार पर आदर्शोन्मुख यथार्थ की बात कही जाती है, तो उसमें दमनमूलक समाज-व्यवस्था से उबरने के रास्ते नहीं दिखाई देते हैं। प्रेमचंद के यहाँ 'लात की मारी रोटियाँ' स्वीकार्य हैं, ओमप्रकाश वाल्मीकि के यहाँ यह अस्मिता को चिंदी-चिंदी कर देता है और पात्रों में प्रतिरोध का साहस भरता है। यह बड़ा अन्तर है प्रेमचंद और वाल्मीकि में।

"लोग कहते हैं, दूध का दाम कोई नहीं चुका सकता और मुझे दूध का यह दाम मिल रहा है।"<sup>68</sup> यह पंक्ति समाज के उन ठेकेदारों पर व्यंग्य है, जो सिर से पाँव तक अनाचार, अन्याय, शोषण, दमन, अमानवीय गुणों से भरे पड़े हैं और दूसरों को त्याग, प्रेम, कृतज्ञता आदि का उपदेश देते रहते हैं। डॉ. राम चंद्र कहते हैं— "व्यवस्था कितनी निर्मम और संवेदनहीन है कि मंगल का कोई दोस्त भी है, तो कुत्ता है, इससे बड़ी सामाजिक विडम्बना और क्या हो सकती है।"<sup>69</sup>

प्रेमचंद धार्मिक आडम्बरों और उसके पीछे हो रहे षड्यंत्रों पर सवाल उठाते हैं— “देवताओं ने बालक के भंगिन का दूध पीने पर आपत्ति की, मोटेराम शास्त्री तो प्रायश्चित का प्रस्ताव कर बैठे। दूध तो छुड़ा दिया गया; लेकिन प्रायश्चित की बात हँसी में उड़ गयी। महेशनाथ ने फटकार कहा— प्रायश्चित की खूब कही शास्त्री जी, कल तक तो उसी भंगिन का खून पीकर पला, अब उसमें छूत घुस गयी। वाह रे आपका धर्म।

शास्त्री जी शिखा फटकाकर बोले— यह सत्य है, वह कल तक भंगिन का रक्त पीकर पला। मांस खाकर पला; लेकिन कल की बात कल थी, आज की बात आज। जगन्नाथपुरी में छूत—अछूत सब एक पंगत में खाते हैं पर यहाँ तो नहीं खा सकते। बीमारी में तो हम भी कपड़े पहनकर खा लेते हैं, खिचड़ी तक खा लेते हैं बाबूजी; लेकिन अच्छे हो जाने पर तो नेम का पालन करना ही पड़ता है। आपद्धर्म की बात न्यारी है।

तो इसका यह अर्थ है कि धर्म बदलता रहता है— कभी कुछ, कभी कुछ? और क्या! राजा का धर्म अलग, प्रजा का धर्म अलग, अमीर का धर्म अलग, गरीब का धर्म अलग, राजे महाराजे जो चाहे खाएँ, जिसके साथ चाहे खाएँ, जिसके साथ चाहे शादी—ब्याह करें उनके लिए कोई बन्धन नहीं। समर्थ पुरुष हैं। बन्धन तो मध्यवालों के लिए है।<sup>70</sup>

चूँकि महेशनाथ सवर्ण जमींदार हैं इसलिए प्रायश्चित का प्रस्ताव ब्राह्मणों द्वारा रखा जाता है, लेकिन बाद में उसे हँसी में उड़ा दिया जाता है। जाति—आधारित सजा, प्रायश्चित, माफी के प्राविधान हिन्दू धर्म शास्त्रों की देन है। बाबू महेशनाथ प्रायश्चित के विरोध में खड़े हैं इसलिए प्रायश्चित में छूट है। यदि कोई दलित प्रायश्चित का भागी बनाया जाता है तो उसमें किसी तरह की छूट नहीं है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी ‘गोहत्या’ कहानी में इस कड़वी सच्चाई की पोल खोलते हैं। सुक्का अपनी पत्नी को मुखिया के बुलाने पर हवेली नहीं

आने देता है। इसलिए उसे 'गोहत्या' के झूठे केस में फँसाया जाता है और सजा दी जाती है— "लाल दहकती फाल जबरन उसके हाथों पर रख दी गई। सुक्का की चीख बेबसी की सारी सीमाएँ तोड़कर धूल-धूसरित गलियों, कच्चे-पक्के मकानों से टकराकर वातावरण को दहला गई। ऐसी चीख जिसे सुनकर मरी गाय भी उठकर भाग जाए। भीड़ में एक खामोशी भर गई, मरघट के सन्नाटे सी।

पंडित रामसरन ने संतोष की साँस ली। जैसे समूचा गाँव गोहत्या के पाप से मुक्त हो गया।<sup>71</sup> इस कहानी की संवेदना सिर्फ जाति के नाम पर नहीं, बल्कि एक मानव होने के नाते हर जाति-धर्म के लोगों को झकझोर कर रख देती है।

महेशनाथ के द्वारा मोटेरामशास्त्री से पूछना कि 'धर्म बदलता रहता है? कभी कुछ, कभी कुछ? ये शब्द भारतीय वर्णवादी समाज के ऊपर कटाक्ष है जिसमें धर्म के ठेकेदार अपने सुविधानुसार धर्म को बदलते रहते हैं। इक्कीसवीं सदी में भी यह बात सौ प्रतिशत सही है। यदि कोई बहुत हाई-फाई प्रोफाइल या स्टेटस वाला व्यक्ति है, तो वह किसी जाति-धर्म, सम्प्रदाय में शादी-विवाह कर सकता है, किसी के साथ खान-पान का व्यवहार अपना सकता है, किसी के साथ प्रेम कर सकता है, लेकिन यदि दबा-कुचला शोषित है तो उसे ऊपरोक्त क्रिया-कलाप की स्वतंत्रता नहीं है। इसके बहुत सारे उदाहरण देखने को मिलते हैं। गाँव में अन्तर्जातीय प्रेम या विवाह नहीं हो सकता यदि किसी ने जुर्रत की, तो उसे मौत के घाट उतार दिया जाता है। आज जिस तरह 'लव जिहाद' के नाम पर कत्लेआम हो रहा है, गाय-गोबर मूत्र की राजनीति हो रही है धर्म के नाम पर, गाय का आधार कार्ड बनाने की सिफारिश चल रही है, इतनी घटिया सोच सिर्फ जातिवादी देश भारत में हो सकती है। जितने बड़े-बड़े महारथी हैं सब अपने परिवार में अन्तर्जातीय विवाह करते हैं, लेकिन भोली-भाली जनता को भड़काऊ भाषणों से भड़काते हैं, दंगे कराते हैं।



प्रेमचंद हिन्दू धर्म पर जितना तीखा प्रहार करते हैं, वैसा प्रहार उनके समकालीन लेखकों में नहीं दिखाई देता है। यही वजह है कि प्रेमचंद अपने समय से आगे और अलग नजर आते हैं। जब वे धर्म की पोल खोलते हैं, सामंतवादियों की पोल खोलते हैं तो निश्चित रूप से प्रगतिशील लगते हैं। जहाँ उन्होंने समाज की सच्चाई को आइना दिखाया है वहाँ हमें उनकी महत्ता को जरूर स्वीकारना चाहिए और जहाँ उनकी कमियाँ हैं उसे भी विमर्श के केंद्र में आना चाहिए। इसमें कोई बुराई नहीं है और न ही किसी को हाय-तोबा मचाने की जरूरत है।

‘कफ़न’ प्रेमचंद की सबसे विवादित कहानी है। पहली बार यह दिसम्बर 1935 में उर्दू मासिक पत्रिका ‘जामिया’ में प्रकाशित हुई थी, इसका हिन्दी रूप ‘कफ़न’ शीर्षक से अप्रैल 1936 में ‘चाँद’ पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इस कहानी की एक-एक लाइन विमर्श की मांग करती है। बहुत सारे विद्वानों ने अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं। राजा ढाले के शब्दों में— “कफ़न के आरम्भ में बुधिया भयानक प्रसव पीड़ा से छटपटा रही है। जाड़े की रात थी उस समय हवा भी ठण्डी रही होगी और रात के सन्नाटे में दूर भी आवाज सुनाई पड़ जायेगी। ऐसे में यह कैसे संभव हुआ कि पड़ोस की औरतों ने न कुछ सुना न ध्यान दिया। या तो वे बहरी थीं। या उन्हें उसके आसन्न प्रसव काल का पता नहीं था। पर बुधिया जैसी मेहनत मजदूरी करने वाली स्त्री के बारे में यह कैसे सम्भव हो सकता है? औरतें इसके मर जाने के बाद ही इकट्ठा होती हैं, वैसे ही जैसे सद्गति में दुखी के शव के चारों ओर लोग इकट्ठे हो जाते हैं। पर वे बुधिया के मरने से पहले क्यों नहीं आते?”

इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है सिवाय इसके कि बुधिया की मृत्यु के बगैर कहानी उस ट्रैजेडी की ओर बढ़ नहीं सकती थी जिसमें उनके कल्पित पात्र घीसू और माधव जैसों का जन्म हो सकता था। प्रेमचंद अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए मानवीयता के बजाय हर दर्जे की गरीबी और असहायता पर हमारा ध्यान केंद्रित करना चाहते हैं। फलतः वे बुधिया की निर्मम हत्या

कर देते हैं तथा घीसू और माधव द्वारा जुटाए गये पैसों की शराब पी जाने और बुधिया का शव बिना क्रिया-कर्म के यों ही घर में उपेक्षित पड़े रहने की परिणति चित्रित करते हैं।”<sup>72</sup>

ऊपर के पैराग्राफ में राजा ढाले बिलकुल वाजिब सवाल उठाते हैं। आखिर आस-पास की औरतें क्यों नहीं आईं बुधिया के पास। ठीक बाद वाले पैराग्राफ में इन प्रश्नों के उत्तर से इंकार करते हैं और इस बात पर जोर देते हैं कि ‘प्रेमचंद अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए मानवीयता के बजाय हृद दर्जे की गरीबी पर हमारा ध्यान केंद्रित करना चाहते हैं। “फिर प्रश्न उठाते हैं, ‘क्या प्रेमचंद द्वारा उत्तर प्रदेश के जीवन का गलत चित्रण हुआ है? कतई नहीं। उल्टे उत्तर प्रदेश के जीवन से ही प्रेमचंद के साहित्य का जन्म हुआ है।”<sup>73</sup>

यदि प्रेमचंद ने शुद्ध रूप से उत्तर प्रदेश की जनता द्वारा जीये हुए जीवन को ही अपने साहित्य का केंद्र बिंदु बनाया है, तो दलित को इतना निर्मम, निर्लज्ज, कामचोर, संवेदनहीन, अमानवीय क्यों दिखाया है? जबकि भारतीय लोक परंपरा में लिखित एवं मौखिक रूप से बहुत सी कहानियाँ मिलती हैं, या हम अपने दादी-दादा, बड़े-बुजुर्ग से सुनते आये हैं कि –एक समय में किसी गाँव में एक बहुत ही गरीब ब्राह्मण रहता था। वह दाने-दाने के लिए मोहताज था। उसकी चार लड़कियाँ थीं। चारों जवानी की दहलीज पर खड़ी थीं लेकिन गरीबी के कारण उनके मन-मुताबिक दूल्हा नहीं मिल रहा था...इत्यादि, इत्यादि। अन्त तक उस ब्राह्मण को संघर्षशील और मानवीय गुणों से युक्त साबित कर दिया जाता है। सवाल यह उठता है कि प्रेमचंद ने उन गरीब ब्राह्मणों को इस कहानी का पात्र क्यों नहीं बनाया? इस सन्दर्भ में मुद्राराक्षस के विचार बहुत ही प्रभावी लगते हैं— “डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार दरिद्र शूद्र ही नहीं ब्राह्मण भी होता है। क्या स्थिति बनती, अगर कफ़न के पैसे से दारू और पूड़ी खाने-पीने वाले शूद्र नहीं, ब्राह्मण बाप-बेटे होते? यह स्थिति प्रेमचंद को स्वीकार्य नहीं हो सकती थी। बहू के कफ़न की

दारु ब्राह्मण बाप को नहीं पिला सकते थे, क्योंकि प्रेमचंद की मानसिकता के अनुसार हिंदू दो तरह के रहे हैं—“शुद्ध पवित्र सवर्ण और अशुद्ध गंदे शूद्र।” प्रेमचंद ने लिखा भी है— “हरिजनों में अभी बहुत सी गंदी आदतें हैं। वे शराब पीते हैं, गंदा काम करते हैं और मुर्दामांस खाते हैं” ... कुजड़े, खटिक, भटियारे ये सब जातियाँ जुबानी गंदगी खासतौर पर मशहूर हैं।”<sup>74</sup>

यही विचार प्रेमचंद को कफ़न जैसी कहानी लिखने पर मजबूर करती है। राजा ढाले घीसू माधव को प्रेमचंद की काल्पनिक उपज बताते हैं। सवाल यह उठता है, यदि प्रेमचंद का मूल्यांकन यथार्थवादी दृष्टि से किया जाए तो क्या उनकी कफ़न कहानी यथार्थ के धरातल पर कहीं टिकती है? मेरे ख्याल से नहीं। सोहनपाल सुमनाक्षर— “हम न तो मुंशी प्रेमचंद के विरोधी हैं और न उनके रचित साहित्य के। हमारा विरोध उनके जातिवादी—वर्णवादी नजरिये से है। गरीब चमार भी हो सकता है और ब्राह्मण भी। पर अपनी रचनाओं में प्रेमचंद का नजरिया जहाँ गरीब ब्राह्मण के प्रति आदर का भाव भरा है, वहीं गरीब चमार के प्रति निरादर भाव से भरा है। उनकी कहानी ‘कफ़न’ में चमारों के चरित्र का मटियामेट ही नहीं किया अपितु ऐसे बुद्धिहीन, संवेदनहीन, बेदिल, बेदर्द कफ़न के लिए माँगे गये पैसों से शराब पीने वाला दिखाया है, जो घोर आपत्तिजनक है।”<sup>75</sup>

प्रसिद्ध दार्शनिक और चिंतक प्रो. तुलसीराम कहा करते थे कि प्रेमचंद उर्दू साहित्य की चमत्कारी रचना ‘तिलस्मी होशरूबा’ जो हिन्दी की चन्द्रकान्ता जैसी चमत्कारी रचना है के लगभग डेढ़ दर्जन खण्डों को पढ़ चुके थे। अतः इन रचनाओं की चमत्कारिकता का प्रभाव प्रेमचंद की अनेक रचनाओं में मिलता है। कफ़न को भी इसी चमत्कार का शिकार बताते हैं, लेकिन विश्लेषण के साथ कई सवाल भी खड़ा करते हैं। लिखते हैं— “प्रेमचंद दलित समस्या पर लिखने वालों में से एक थे, किन्तु कफ़न जैसी कहानी में दलित—चरित्र का जिस तरह से उन्होंने ‘लुम्पेनाइजेशन’ (लफंगीकरण) तथा अमानवीयकरण किया वह उनकी महान् प्रतिभा पर धब्बा लगाने का काम

करता है। क्या दलित इतने संवेदनहीन होते हैं कि आलू खाने के चक्कर में प्रसव पीड़ा से मर रही बीवी या बहू को देखना पसन्द नहीं करते? क्या दलित अपनी बीवियों और बहुओं के कफ़न के पैसे से शराब पीकर दंगा करते हैं आदि-आदि? कफ़न से ऐसा ही झलकता है। दलित कितना भी भूखा क्यों न हो, वह अपने परिवार के प्रति अति संवेदनशील होता है। गरीबी में रहने का अभ्यस्त वह स्वयं भूखा रहकर अपने बच्चे को खिलाता है, लेकिन प्रेमचंद ने बिल्कुल उल्टा कर दिया है।... बहुत से आलोचक प्रेमचंद के पक्ष में यह तर्क देते हैं कि गरीबी के कारण मनुष्य अमानवीय हो जाता है। यह बात सही है, किन्तु सवाल यह उठता है कि इस तरह की अमानवीयता तथा संवेदनहीनता की चपेट में दलितों को, ही क्यों समेटा जाता है? कफ़न में उन दलित पात्रों के बदले कोई कायस्थ या ब्राह्मण भी हो सकता था। किन्तु ऐसा नहीं हुआ।<sup>76</sup>

डॉ. महीप सिंह— “भूख किसी व्यक्ति को किस हद तक अमानवीय बना देती है, कफ़न इसका उदाहरण है।”<sup>77</sup>

इनका उत्तर देते हुए कंवल भारती कहते हैं— “यदि ऐसा होता तो देश के भूखे लोग (जिनकी संख्या हजारों में नहीं, लाखों में नहीं करोड़ों में हो सकती है) सबसे पहले अमानवीय होते और धनवानों के जिस्म के टुकड़े-टुकड़े कर चुके होते। ऐसी हिंसा सिर्फ भूख से पीड़ित पशु ही कर सकता है, क्योंकि पशु में भूख के सिवा कुछ नहीं होता। किन्तु मनुष्य में भूख के साथ-साथ प्रेम और वेदना भी होती है। घीसू और माधव जैसे पात्र मनुष्य को सिर्फ भूख तक सीमित रखने का काम करते हैं। यह साज़िश है जिसके द्वारा अपने अन्तिम दौर में दलितों में वर्ग-संघर्ष पैदा करने का मार्ग तलाशा है। कफ़न से वह यह सन्देश देना चाहते हैं कि दलितों की मुख्य समस्या गरीबी की है। गरीबी ही उनमें तमाम विकृतियाँ पैदा करती है। यदि घीसू और माधव गरीब नहीं होते तो वे इतने बड़े अमानवीय नहीं हो सकते थे।”<sup>78</sup>

यदि गरीबी का दुख किसी को अमानवीय बना सकता है, तो जितने भी क्रूरतापूर्ण और अमानवीय कुकृत्य होते हैं, वह खाए-अघाए लोगों के द्वारा किये जाते हैं, इतिहास गवाह है जितने भी जघन्य अपराध हुए हैं, हो रहे हैं, अधिकांश समाज, राजनीति और धर्म में बड़ी पहचान रखने वाले लोगों द्वारा होता है, जिनकी आर्थिक स्थिति आसमान छू रही होती है। इसलिए यह कहना कि गरीबी अमानवीयता का कारण है, निराधार है। 'कफ़न' पर विजेन्द्र नारायण सिंह की टिप्पणी है— "कफ़न के नायक निहिलिस्ट जरूर हैं, पर यह निहिलिज्म विद्रोह के लिए अनिवार्य शर्त है। कोई अवर्ण चमार नायक ही इस धार्मिक जड़ता को तोड़ने का प्रयास कर सकता है। इसलिए कफन का नायक कोई सवर्ण चाहे वह शूद्र ही क्यों न हो, हो ही नहीं सकता था। मात्र इसके नायक की वर्णोत्तरता के सन्धान में भी प्रेमचंद की महान सृजनात्मक प्रतिभा की पहचान मिलती है।"<sup>79</sup>

यहाँ दो बातें स्पष्ट हैं— एक, यह सर्वविदित है कि जो कुछ भी किसी के लिए बाधा उत्पन्न करता वही उन धारणाओं या कुरीतियों के खिलाफ उठ खड़ा होता है, उस बुराई से उबरना चाहता है, यह कोई बड़ी बात नहीं है। ऐसा होना स्वाभाविक है। बड़ी बात तब होती है जब धारा के विपरीत कोई अपने को ढालता है। अच्छा तो तब होता जब प्रेमचंद धर्म के ठेकेदारों से धर्म का माखौल उड़वाते।

दूसरी, जो महत्त्वपूर्ण बात है, वह यह कि यदि प्रेमचंद इस कहानी में अतिशूद्र की जगह सवर्ण को रखते तो उनके लिए कामचोर निकम्मा, जाहिल, झूठा, संवेदनहीन, अमानवीय, जानवरों से तुलना करना आसान नहीं होता। इस दृष्टि से प्रेमचंद की महान् सृजनात्मक प्रतिभा नहीं मानी जा सकती। जो व्यवस्था में रहते हुए व्यवस्था की अच्छाईयों-बुराईयों के विरोध में खड़ा हो उसे यथार्थवादी कहा जा सकता है। जैसे कबीर को इस समाज-व्यवस्था से लड़ने के लिए किसी जंगल, गुफा, सुनसान पर्वत पर जाने की जरूरत नहीं पड़ी और न ही माथे पर टीका, शरीर में भभूत लगाने की जरूरत पड़ी या

हाथों में माला फेरने की जरूरत पड़ी, न बैराग्य करने की, बल्कि वे उसी व्यवस्था में रहते हुए उस व्यवस्था की खामियों से लड़ते रहे। इसे महान सृजनात्मकता कहा जा सकता है। इस तरह का साहस कबीर, रैदास जैसे संतों में था प्रेमचंद में नहीं। प्रेमचंद द्वारा कफ़न के लिए किसी सवर्ण पात्र का चुनाव नहीं करना यह दर्शाता है कि उन्हें भी भारतीय संस्कृति की सड़ी-गली मान्यताओं को मिटाना गंवारा नहीं था।

सदानंद शाही प्रेमचंद की पक्षधरता प्रकट करते हुए लिखते हैं—  
 "प्रेमचंद का क्या दोष कि उनके समय तक समाज (पूर्वी उत्तर प्रदेश) के घीसू माधव का आँसू पोछने कबीर पहुँचे हुए थे अम्बेडकर नहीं। इसलिए कफ़न को आरोपित करने का अर्थ कबीर को आरोपित करना भी हो सकता है। अस्तु लेखक की जाति देखकर मूल्यांकन की हड़बड़ी के बजाय उसकी रचना का सतर्क पाठ-पुनर्पाठ करके मूल्य-निर्णय करना बेहतर होगा। यदि अम्बेडकर ने ऐसी हड़बड़ी की होती तो उन्हें बौद्ध धर्म की अच्छाईयाँ समझ में न आती।"<sup>80</sup>

सदानंद जी खुद लिख रहे हैं कि सतर्क बात होनी चाहिए। तर्क के आधार पर शाही जी का ऊपरोक्त विचार निराधार है। प्रेमचंद के समय में स्वामी अछूतानंद हरिहर द्वारा उत्तर प्रदेश में दलित जागृति के लिए आंदोलन चलाया जा रहा था। उसी समय बाबा साहब द्वारा गोलमेज सम्मेलन में दलित अधिकारों की मांग को लेकर सिर्फ उत्तर प्रदेश या पूरे देश में ही नहीं, विदेश में भी चर्चा हो रही थी। उत्तर प्रदेश के चमार और महाराष्ट्र के महार गाँधी का विरोध और बाबा साहब का समर्थन कर रहे थे। इसलिए बाबा साहब से उत्तर प्रदेश अनभिज्ञ था यह कहना बेबुनियाद है।

जहाँ तक कबीर को आरोपित करने का सवाल है, तो जो लोग यह समझते हैं कि हम कबीर के पक्षधर हैं उन्हें तटस्थ होकर सोचना चाहिए— कबीर के बारे में साहित्य में क्या धारणा है? कबीर जैसे जितने भी क्रांतिकारी सन्त हुए हैं सबको उनकी वास्तविक पहचान दलित साहित्य और बहुजन चिंतकों एवं राजनीति ने दिलाई है। इससे पहले तो साहित्य में कबीर जैसे

क्रांतिकारी को अक्कड़-फक्कड़, अटपटी भाषा वाला, लापरवाह, क्या-क्या उपाधियों से नवाजा गया है। इसलिए झूठी नैतिकता के खँचे में बाँधकर कबीर का सहारा लेना ठीक नहीं है। तीसरी बात— बाबा साहेब अथक परिश्रम, खोजपूर्ण अध्ययन, गहन चिंतन—मनन के बाद बुद्ध—धर्म की अच्छाईयों को समझे थे। सिर्फ समझे ही नहीं, उस धर्म में दीक्षित भी हुए और पूरे समाज को वैज्ञानिक धर्म का विकल्प देते दिए। सवाल यह है, कितने सतर्की सवर्ण हैं, जो बाबा साहब की समझदारी को अपनाकर बुद्ध—धर्म की राह पर चलते हैं? बिना किसी स्वार्थ के बेटी—रोटी का संबंध बनाते हैं? धार्मिक पाखण्डों से लड़ने के लिए तैयार होते हैं? जातिवाद का विरोध करते हैं? इस देश से जातिवाद खत्म करने का बीड़ा उठाते हैं? मेरे विचार से एक भी नहीं। यह काम सिर्फ दलित साहित्य और बहुजन वैचारिकी कर रही है, जो बाबा साहब की बाइस प्रतिज्ञाओं पर आधारित है।

‘कफ़न’ कहानी का दूसरा पैराग्राफ (जो प्रेमचंद के अपने निजी विचार हैं) में पूरे दलित समाज का खँका खींचा गया है, जिसमें दलितों को निकम्मा इत्यादि दिखाया गया है। प्रेमचंद के विचार से चमार सारे गाँव में बदनाम, कामचोर निट्ठले, हेकड़ी वाले, निर्लज, चोर, सुधार की कोई गुंजाइश नहीं, बल्कि ‘बेटा बाप से बड़ा’ वाली कहावत को भी सार्थक करता हुआ माधव को बेहद ही संवेदनहीन साबित किया गया है। यदि यह किसी पात्र के मुँह से कहलवाते प्रेमचंद जी तो भी क्षम्य था लेकिन स्वयं उनके विचार हैं। कहानी आगे बढ़ती है तो एक पैराग्राफ और आता है— “जिस समाज में रात—दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से बहुत अच्छी नहीं थी, और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना चाहते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात नहीं थी। हम तो कहेंगे, घीसू किसानों से कहीं ज्यादा विचारवान था और किसानों के विचार शून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाजों की कुत्सित मण्डली में जा मिला था। हाँ उसमें यह शक्ति

न थी कि, बैठकबाजों के नियम और नीति का पालन करता। इसलिए जहाँ उसकी मंडली के और लोग गाँव के सरगना और मुखिया बने हुए थे, उस पर सारा गाँव उँगली उठाता था। फिर भी उसे यह तसकीन तो थी ही कि अगर वह फटेहाल है तो कम-से-कम किसानों की सी जी-तोड़ मेहनत नहीं करनी पड़ती, और उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेजा फायदा तो नहीं उठाते।”<sup>81</sup>

यहाँ प्रेमचंद की विचारों में अनतर्विरोध दिखाई देता है। ऊपर वाले पैराग्राफ में जिस घीसू माधव को निकम्मा, चोर इत्यादि तक सीमित करते हैं। उन्हीं के सारे अवगुणों को गुण बताने लगते हैं। प्रेमचंद के विचार से जो बातें पहले गलत थीं वही बाद में सही लगने लगती हैं। ऐसा लगता है पूर्व बातों की भरपाई के लिए दूसरी बातें रखी गई हैं। घीसू को किसानों से ज्यादा विचारवान साबित करना और किसानों की मण्डली को ‘विचार शून्य’ तथा बैठकबाजों की मण्डली को कुत्सित कहना खुद की अकर्मण्यता को बढ़ावा देना है। प्रेमचंद स्वयं किसी निर्णायक बिन्दु पर नहीं ठहर पाते हैं, दोनों तरफ झूल रहे हैं। एक पल में दोनों को अमानवीय साबित करना दूसरे पल उनके द्वारा किये हुए कार्यों की प्रशंसा करना, यह साबित नहीं कर पाता है कि प्रेमचंद आखिर में किसके पक्ष में खड़े हैं? समाज के या घीसू-माधव के पक्ष में? एक और बिन्दु की तरफ हमारा ध्यान आकर्षित होता है— यदि घीसू यह सोचता है कि ‘जमींदार उसका बेजा फायदा नहीं उठा पाते हैं, तो इसका अर्थ है वह अपने कर्तव्य और अधिकारों के प्रति सजग है। जो व्यक्ति इतना सजग है, उसकी बहू प्रसव वेदना से तड़पती है और वह आलू खाने पर लगा है। क्या यह द्विपक्षीय विरोधाभास नहीं है?

इस कहानी पर बहुत सारे सवाल उठते हैं और उठने भी चाहिए। सवर्णों को भी उन सवालों को तटस्थ होकर निष्पक्ष भाव से सोचना-विचारना चाहिए कि सवाल वाजिब उठे हैं या नहीं। घीसू-माधव के पास काम होते हुए भी काम नहीं करना चाहते हैं, कामचोरी करते हैं, दूसरों की खेती से चोरी



करके खाते हैं इत्यादि। सूरज बड़त्या लिखते हैं— “अगर, यह अन्तर्विरोध प्रेमचंद में मौजूद है, तो फिर वह सवालों के घेरे से परे कैसे हैं। इस लिए प्रेमचंद को मसीहा न बनाएँ, उन्हें मानवीय कमजोरियों और अन्तर्विरोधों से युक्त इनसान बना रहने दें। एक ऐसा इनसान जिसमें इनसानी दुर्बलताएँ, सामाजिक संस्कार हैं।”<sup>82</sup>

प्रो. तुलसी राम का यह कहना है कि— “दलितों के चरित्र—चित्रण में प्रेमचंद सदैव विरोधाभास के शिकार हुए हैं और यह विरोधाभास की शुरुआत उन्हीं की ‘कफ़न’ कहानी से आरंभ होती है, जिसमें उन्होंने एक कुनबे के चित्रण में इतनी अतिशयोक्ति बरती है, जो भारत के पाँच लाख गाँवों में एक भी स्थान पर नहीं मिलती। प्रेमचंद ने दलितों को संवेदनहीन प्राणी सिद्ध किया है। ऐसा सिद्ध करके वे संभवतः मनुस्मृति आदि के बर्ताव को इंगित करना चाहते हों, क्योंकि उनमें दलित तबके के मनुष्य प्राणी को जानवर से ज्यादा गिरा हुआ प्राणी सिद्ध किया है।”<sup>83</sup> बाप—बेटे की तुलना प्रेमचंद ने अजगर, साँप से की है— “जैसे दो बड़े—बड़े अजगर गेंडुलिया मारे पड़े हों।” यह तुलना ही अमानवीय है। अजगर चुपचाप लेटा रहता है, लेकिन जैसे उसे शिकार की भनक लगती है, वह धीरे—धीरे अपनी गिरफ्त में लेकर हजम कर जाता है। अच्छा होता ऐसी तुलना जमीन, जाति, धर्म, शिक्षा, इज्जत—प्रतिष्ठा, सब पर डाका डालने वाले वर्चस्ववादियों तथा सामंतों से की जाती तो सन्दर्भ और प्रसंग यथार्थवादी लगता।

विजेन्द्र नारायण सिंह— “साहित्य कल्पना विलास के लिए तो होता ही है। प्रेमचंद ने इस कल्पना विलास का उपयोग अपने युग में एक ‘संभाव्य वास्तविकता’ को प्रकट करने के लिए किया है। कल्पना जब सामाजिक महत्वाकांक्षा से उद्वेलित होती है, तब उसमें ‘क्रांति’ की अर्थच्छवियाँ सिमट आती हैं। अस्पृश्य जीवन से संबंधित प्रेमचंद के गल्पों में यही शक्ति समाविष्ट है।”<sup>84</sup> जिस ‘संभाव्य वास्तविकता’ और क्रांति की बात विजेन्द्र जी कर रहे हैं

क्या होता यदि इन बातों को करने के लिए किसी सवर्ण पात्रों को चुना गया होता? तब तो प्रेमचंद घृणा के प्रचारक बना दिये जाते हैं आखिर क्यों?

यही फर्क है दलित साहित्य और गैर-दलित साहित्य में। दलित साहित्य का आधार अनुभवजनित सत्य है, कल्पनाधीन नहीं। यह साहित्य विलासिता का नहीं है, बल्कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से तटस्थ होकर चेतना परिवर्तन और गैर-बराबरी को मिटाने का साहित्य है। गैर-दलित साहित्य की यह विलासिता कफ़न कहानी में दिखाई पड़ती है— “फिर दोनों नाचने लगे। उछले भी, कूदे भी। गिरे भी, मटके भी। भाव भी बताए, अभिनय भी किये और आखिर नशे में मदमस्त होकर वहीं गिर पड़े।”<sup>85</sup>

घटना और प्रसंग का कोई संबंध नहीं है, क्यों न बौखलायेगा चेतनशील दलित। एक की बहू और दूसरे की पत्नी की मृत्यु हुई है। वह भी ऐसी औरत जिसने दिन-रात कठिन परिश्रम करके पूरे घर का भार अपने ऊपर उठा लिया था, उनका पेट पालती थी, उसी के निधन पर कितने बेरहमी से प्रेमचंद दोनों बाप-बेटे को नचवाते, गवाते, अभिनय कराते नशे में डुबा कर गिरा देते हैं। यही सवर्ण साहित्य की विलासिता और कल्पना है। इसे क्रांतिकारी या सामाजिक मान्यताओं के प्रति विरोध कत्तई नहीं कहा जा सकता है। विजेन्द्र नारायण के ही शब्दों में— “ये अवर्ण कहीं-न-कहीं सामाजिक जकड़न से मुक्त रहे हैं। इसलिए वे स्वच्छंद होकर नाच सकते हैं।”<sup>86</sup>

कितनी संवेदनहीनता से विजेन्द्र नारायण सिंह उक्त बातें कर रहे हैं। पहली बात— धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, राजनीतिक, किसी भी तरह की स्वतंत्रता दलितों को मनुवादियों ने नहीं दी। दूसरी बात— सामाजिक जकड़न से स्वतंत्रता का मतलब ये तो नहीं है कि किसी की मृत्यु होने पर भी विलासितापूर्ण क्रिया-कलाप किया जाए? कम-से-कम दलितों की संस्कृति में न तो ऐसा था, और नहीं ऐसा होता है। पूरी तरह से यह कहानी दलित विरोधी है इसकी निंदा होनी चाहिए। दलित समाज हमेशा से खुद भूखे रहकर

अपने परिवार का पेट पालता रहा है। सिर्फ इतना ही नहीं, यह ऐसा जीवट वर्ग है जिसकी मेहनत, मजदूरी, परिश्रम, भूख—प्यास तथा संघर्ष की बदौलत तथाकथित सवर्ण समाज जिन्दा है और मौज कर रहा है। अतः किसी भी दलित के लिए उसके परिजनों के मृत्यु की कीमत महज एक आलू और नाचना गाना नहीं हो सकता। इस तरह का स्टेटमेंट देना ही अपने—आप में अमानवीयता का परिचायक है, न कि घीसू और माधव।

‘जुर्माना’ मुस्लिम भंगी महिला अलारक्खी की कहानी है। वह बहुत ही ईमानदारी से सफाई का काम करती है, लेकिन हर महीने उसके वेतन से कुछ—न—कुछ पैसे काट लिए जाते हैं। एक तरह से यह स्त्री—शोषण की भी कहानी है। अलारक्खी दारोगा मु. खैरात अली खाँ के कुछ विशेष आग्रहों को टुकरा देती है। इसलिए जुर्माने के तौर पर इसकी पगार से पैसे काट लिये जाते हैं। “खाँ साहब नेकनाम थे, दयालु थे। मगर अलारक्खी उनके हाथों बराबर ताड़ना पाती रहती थी। वह कमजोर नहीं थी, बेअदम नहीं थी, फूहड़ नहीं थी, बदसूरत भी नहीं थी; पहर रात को इस ठण्ड के दिनों में वह झाड़ू लेकर निकल जाती और नौ बजे तक एक चित्त होकर सड़क पर झाड़ू लगाती रहती। फिर भी उस पर जुर्माना हो जाता है।”<sup>87</sup>

प्रेमचंद की अपनी शैली कहिए या पूर्वाग्रह कहिए, जो वर्चस्ववादी होता है, उसे ‘दयालु’ लिखते हैं। चाहे वह ‘कफन’ कहानी का दरियादिल ठाकुर हो या दयालु जमींदार या फिर ‘मंदिर’ कहानी का दयालु पुजारी। खाँ साहब भी दयालु हैं, लेकिन उन्हीं के हाथों से अलारक्खी अत्याचार व अन्याय और शोषण का शिकार होती है। अजीबो—गरीब विडम्बना है, एक तरफ तो खाँ साहब दयालु हैं, दूसरी तरफ एक औरत का शोषण भी करते हैं। पता नहीं प्रेमचंद के यहाँ दयालुपन की कसौटी क्या है?

उनकी कथा साहित्य में सामान्यतया यही होता है कि जमींदार हो या कोई प्रशासनिक अधिकारी हो, पहले अत्याचार करेगा, शोषण—दमन करेगा और अन्त में हृदय परिवर्तन हो जायेगा। जबकि वास्तविकता में ऐसा बहुत

कम होता है। दारोगा खाँ साहब भी शुरू से अलारक्खी के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते हैं। हर बार उसके पैसे काट लेते हैं, लेकिन कहानी का अन्त होते-होते उनका हृदय-परिवर्तन हो जाता है और उसकी पूरी पगार मिलती है।

अलारक्खी की दूधमुही बच्ची है। एक दिन उसे ज्वर हो जाता है। इसलिए उसे अपने साथ लेकर काम पर जाती है। बच्ची को दर्द होता है और वह बार-बार रोने लगती है, जिससे सफाई के काम में बाधा उत्पन्न होती है। अलारक्खी परेशान हो जाती है— “उसने झाड़ू तानकर कहा— चुप हो जा, नहीं तो झाड़ू से मारूँगी, जान निकल जायेगी; अभी दरोगा दाढ़ीजार आता होगा...

पूरी धमकी मुँह से निकल भी न पाई थी कि दारोगा खैरात अली खाँ सामने आकर साइकिल से उतर पड़ा। अलारक्खी का रंग उड़ गया, कलेजा धक्-धक् करने लगा! या मेरे अल्लाह; कहीं इसने सुन न लिया हो! मेरी आँखे फूट जायें। सामने से आया और मैंने देखा नहीं। कौन जानता था, आज पैरगाड़ी पर आ रहा है? रोज तो इक्के पर आता था। नाड़ियों में रक्त का दौड़ना बन्द हो गया। झाड़ू हाथ में लिए निःस्तब्ध खड़ी रह गई।”<sup>88</sup>

इस घटना के बाद दारोगा में अस्वभाविक परिवर्तन आता है। वेतन बँटते समय अलारक्खी डरी सहमी-सी है कि इस बार तो पता नहीं क्या होगा। जब उसकी बारी आती है तो वेतन पूरे के पूरे मिलते हैं। तीन वरसों में पूरा वेतन कभी नहीं मिला था। पूरा वेतन पाकर भी वह खुश नहीं है— “अलारक्खी चली पर उसका मन प्रसन्न न था। वह पछता रही थी कि दारोगा जी को गाली क्यों दी।”<sup>89</sup>

दो-तीन बिन्दु हैं जिस पर प्रेमचंद ने ध्यानाकर्षित किया है। ‘सद्गति’ की तरह इसमें भी अलारक्खी बार-बार पश्चाताप करती है कि मैंने दारोगा को गाली क्यों दी। अर्थात् वह भी व्यवस्था परिवर्तन की समर्थक नहीं है।

दूसरी प्रेमचंद जी सामाजिक व्यवस्था को यथावत बने रहने देना चाहते हैं। इसीलिए उनकी बहुत सी कहानियों में चेतना की बजाए दीनता उभरकर सामने आती है। इन दोनों बिन्दुओं से मिलकर जो तीसरी बात आती है, वह है— प्रेमचंद का यह साबित करना कि बड़े लोग अत्याचारी, दमनकारी, पीड़ादायी होकर भी परोपकारी और दयालु होते हैं। इसलिए छोटों को हमेशा अपने दायरे में रहना चाहिए। बार-बार इनके दलित-दमित पात्र अपने द्वारा उठाये गये कदम पर पश्चाताप करते हैं। खुद को दोषी मानते हैं। यही इसकी परिणति है।

## संदर्भ-सूची

- 1 प्रगतिशीलता के पक्ष में, वीरेन्द्र यादव, साहित्य भण्डार, 50, चाहचन्द, इलाहाबाद, पृ. 20
- 2 प्रेमचंद व्यक्तित्व और रचना दृष्टि- संपादक- दयानंद पाण्डेय, पृष्ठ 64-65, जागरण 08/01/1934,
- 3 दलित साहित्य: आशय, आंदोलन और अवधारणा- डॉ. राम चंद्र, पृ.110
- 4 घासवाली (कहानी संकलन), संकलन व संपादन- राजीव रंजन गिरि, प्रस्तावना, पृ.9
- 5 दोनों तरफ से (कहानी), पृ.12
- 6 वही, पृ.18, 21, 22
- 7 वही. पृ. 24,25
- 8 घासवाली, संकलन व संपादन- राजीव रंजन गिरि, प्रस्तावना, पृ.7
- 9 सिर्फ एक आवाज (कहानी), पृ.32
- 10 वही. पृ. 30,29
- 11 दलित साहित्य: आशय, आंदोलन और अवधारणा- डॉ. राम चंद्र, पृ.89-90
- 12 सिर्फ एक आवाज, पृ.26
- 13 सलाम (कहानी संग्रह)- ओमप्रकाश वाल्मीकि, ग्रहण कहानी, पृ.66
- 14 मंत्र कहानी, पृ.46-47
- 15 वही. पृ.47-48
- 16 सलाम कहानी संग्रह से 'जिनवार' कहानी, पृ.102
- 17 मंत्र, पृ.48-49
- 18 वही. पृ.49
- 19 दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद- संपादक-सदानंद शाही, पृ.149
- 20 मंत्र, पृ.58
- 21 कजाकी कहानी, पृ.61
- 22 वही. पृ.62
- 23 वही. पृ.64,65
- 24 वही. पृ.68
- 25 वही. पृ.69
- 26 दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद- संपादक-सदानंद शाही, पृ.146
- 27 मंदिर कहानी, पृ.72
- 28 वही. पृ.73-74
- 29 वही. पृ.75
- 30 वही. पृ.77
- 31 वही. पृ.78
- 32 वही.

- 33 प्रेमचंद की दलित विषयक कहानियाँ: संवेदना और सरोकार— डॉ. राम चंद्र, पृ.93
- 34 सद्गति, घासवाली कहानी संग्रह, पृ.110
- 35 सलाम— ओमप्रकाश वाल्मीकि, कहाँ जाए सतीश, पृ.51,52,53
- 36 सद्गति, पृ.111,112
- 37 खानाबदोश (कहानी), ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.129
- 38 सद्गति, घासवाली कहानी संग्रह, पृ.112
- 39 प्रेमचंद की दलित विषयक कहानियाँ: संवेदना और सरोकार— डॉ. राम चंद्र, पृ. 87—88
- 40 सद्गति, पृ.113
- 41 दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद— संपादक—सदानंद शाही, पृ.63
- 42 वही. पृ.137
- 43 वही. पृ.160
- 44 वही. पृ.161
- 45 प्रेमचंद और दलित विमर्श, संपादक—अनिल कुमार, एस.एस. गौतम, पृ.88
- 46 सलाम, पृ.17
- 47 गोहत्या, पृ.58—59
- 48 सद्गति, पृ.11
- 49 कहाँ जाए सतीश, पृ.55
- 50 दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद, पृ.111
- 51 वही. पृ.96
- 52 'राष्ट्र का सेवक', घासवाली कहानी संग्रह, पृ.116
- 53 वही.
- 54 जातिभेद का बीजनाश (जातिभेद का उच्छेद)— बाबा साहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर (हिन्दी अनुवाद—अनिल गजभिये), पृ.66—67
- 55 ठाकुर का कुआँ, पृ.141
- 56 दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद, संपादक—सदानंद साही, पृ.94
- 57 ठाकुर का कुआँ, पृ.142
- 58 अम्मा (कहानी)— ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.116
- 59 ठाकुर का कुआँ, पृ.143
- 60 प्रेमचंद की दलित विषयक कहानियाँ: संवेदना और सरोकार— डॉ. राम चंद्र, पृ.73
- 61 दूध का दाम, पृ.153
- 62 ग्रहण— ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.69
- 63 दूध का दाम, पृ.154
- 64 वही. पृ.156—57
- 65 वही. पृ.158
- 66 वही. पृ.159,160

- 67 प्रेमचंद और दलित विमर्श— संपादक—अनिल कुमार, एस.एस. गौतम, पृ.63,64
- 68 वही. पृ.160
- 69 प्रेमचंद की दलित विषयक कहानियाँ: संवेदना और सरोकार— डॉ. राम चंद्र, पृ.78
- 70 दूध का दाम, पृ.154
- 71 गोहत्या, पृ.63
- 72 दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद, पृ.152
- 73 वही. पृ.153
- 74 प्रेमचंद और दलित विमर्श— संपादक— अनिल कुमार, एस.एस. गौतम, पृ.14
- 75 वही. पृ.18
- 76 दलित प्रसंग— संपादक— प्रणव बंद्योपाध्याय, पृ.140
- 77 दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद, पृ.89
- 78 वही. पृ.89
- 79 वही. पृ.82
- 80 वही. पृ.102—103
- 81 कफ़न, पृ.162—163
- 82 प्रेमचंद और दलित विमर्श, पृ.36
- 83 वही. पृ.43
- 84 दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद, पृ.83
- 85 कफ़न, पृ.168
- 86 दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद, पृ.83
- 87 जुर्माना, पृ.169
- 88 वही. पृ.170
- 89 वही. पृ.172



## पाँचवाँ अध्याय

### अंग्रेजी में अनूदित विवेच्य कहानियों की भाषिक संरचना का विश्लेषण

भाषा दो व्यक्तियों की भावनाओं को जोड़ने का माध्यम है। भाषा के माध्यम से ही एक व्यक्ति अपने समाज की भाषा, अपनी संस्कृति, अपने रहन-सहन के तौर-तरीके, वेश-भूषा, क्रिया-कलाप, विचारधारा आदि को दूसरे भाषा-भाषी समाज तक पहुँचाता है। इसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अनुवाद की होती है। अनुवाद भाषागत दीवारों को तोड़कर मूलपाठ में कही गई बात को उसके भाव एवं शैली की यथासंभव रक्षा करते हुए लक्ष्य भाषा का आवरण पहनाकर उन भाषा-भाषियों तक पहुँचाता है।

अनुवाद मूलतः एक भाषिक प्रक्रिया है। मोटे तौर पर यह कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति को यदि दोनों भाषाओं (स्रोत भाषा-लक्ष्य भाषा) का ज्ञान हो तो वह अनुवाद करने में सक्षम हो सकता है, लेकिन अनुवाद कार्य सिर्फ लक्ष्य पाठ और स्रोत पाठ की जानकारी पर ही निर्भर नहीं करता, बल्कि भाषा के शिल्पगत सौंदर्य और अर्थगत भाव की भी जानकारी होनी चाहिए। किसी भी भाषा का निर्माण संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, पदबंध, वाक्य, प्रोक्ति आदि के सामंजस्य से होता है। अनुवाद मूलतः लक्ष्य भाषा और स्रोत भाषा की समतुल्यता के आधार पर होता है लेकिन यह आवश्यक होता है कि वह समतुल्य शब्द स्रोत पाठ के अर्थ को अभिव्यक्त करे नहीं तो अर्थ का अनर्थ हो जायेगा। जिस तरह मूल पाठ और अनूदित पाठ की भाषा में व्याकरणित और लिपिगत संरचना की भिन्नता होती है उसी तरह उनकी अर्थ संरचना में भी विविधता होती है। इसलिए अनुवादक अर्थ संरचना को लेकर पाठक, मूल लेखक और दोनों भाषाओं में संतुलन बिठाते हुए अनूदित कृति को सार्थकता प्रदान करता है। अंग्रेजी के ऐसे क्रिया पदबंध हैं जो हिंदी भाषा में अर्थ संप्रेषण की दृष्टि से भिन्नता लिए हुए हैं। जैसे- मैं जलेबी खाना चाहती हूँ (I want to eat Jalebi) हिंदी में स्पष्ट है कि खाने वाला स्त्री है या पुरुष, लेकिन अंग्रेजी में लिंग स्पष्ट नहीं हो रहा है। जैसे- To like को ले सकते

हैं, इससे हिंदी में समान अर्थ वाले तीन अलग-अलग वाक्य निर्मित होते हैं— I like apple— मुझे सेब पसंद है, मुझे सेब अच्छा लगता है और मैं सेब पसंद करती या करता हूँ। तीनों वाक्य रचना उनमें आई क्रिया के द्वारा निर्धारित हुई। कभी-कभी हिंदी वाक्य से पता नहीं चलता कि अमुक स्त्री लिंग है या पुलिंग, जैसे—उसने मेरी पेन चुराई। हिंदी में 'उसने' का अर्थ स्त्री है या पुरुष पता नहीं चल रहा है जबकि अंग्रेज़ी में He or She सर्वनाम से लिंग की अभिव्यक्ति हो रही है।

अनुवादक को दोनों भाषाओं की आंतरिक संरचना, व्याकरणिक संरचना, मुहावरे, लोकोक्तियों, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक तत्त्वों आदि का सूक्ष्म ज्ञान होना आवश्यक है।

अनुवाद के संबंध में विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं। ड्राइडन के अनुसार अनुवाद के तीन भेद होते हैं—

- (1) शब्दानुवाद (Metaphrase)— शब्द प्रतिशब्द अथवा पंक्ति प्रति पंक्ति अनुवाद।
- 2) भावनुवाद (Paraphrase)— मूल कृति के भाव-प्रभाव की रक्षा के लिए किया जाने वाला भाव प्रति भाव अनुवाद।
- (3) अनुकरण (Imitation)— मूल कृति की आत्मा की रक्षा के लिए शब्द और अर्थ के स्तर पर स्वतंत्रतापूर्वक किया जाने वाला अनुवाद।<sup>1</sup>

ड्राइडन के भावनुवाद को सर्वोत्तम माना गया है।

कैटफोर्ड के अनुसार — “अनुवाद एक भाषा की पाठ-सामग्री को दूसरी भाषा की समतुल्य पाठ-सामग्री में प्रतिस्थापित करने की प्रक्रिया है।”<sup>2</sup> तो सैमुअल जॉनसन कहते हैं— “अनुवाद एक भाषा से दूसरी भाषा में भाव को बनाए रखकर अंतरण करने का नाम है।”<sup>3</sup>

डॉ. रीतारानी पालीवाल ने लिखा है कि “मानव के पास आयु, समय और साधन की एक सीमा रहती है। हर व्यक्ति संसार की प्रत्येक भाषा नहीं सीख सकता। ऐसी स्थिति में अनुवाद ही वह माध्यम है, जिसके द्वारा हम सभी भाषाओं

से संपर्क स्थापित कर सकते हैं।”<sup>4</sup> डॉ. जी. गोपीनाथन ने अनुवाद को सांस्कृतिक सेतु की संज्ञा से अभिहित किया है। उनके अनुसार— “अनुवाद मानव सभ्यता के साथ विकसित हुई एक ऐसी तकनीक है जिसका आविष्कार मनुष्य ने बहुभाषिक स्थिति की विडम्बनाओं से बचने के लिए किया था।”<sup>5</sup> डॉ. कैलाशचन्द्र भाटिया के अनुसार ‘दूर-दूर सीमाओं में बंटी मानव जाति अनुवाद के माध्यम से समीप आती जाती है।’<sup>6</sup>

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि अनुवाद के माध्यम से ही हम अन्य देशों की संस्कृतियों, भाषाओं एवं गतिविधियों से प्रभावित होकर उसे जानने और सीखने की कोशिश करते हैं, जिससे दो देशों के बीच की दूरियाँ भी कम होती हैं। भावानुवाद ही सर्वोत्तम अनुवाद है। अनूदित कृति मूल की भावों को सम्प्रेषित करने में सक्षम होनी चाहिए। और यह तभी संभव है जब अनुवादक स्रोत भाषा के सूक्ष्म ज्ञान के साथ-साथ लक्ष्य भाषा में गहरी पैठ रखता हो।

अनुवाद अपने-आप में श्रमसाध्य और कठिन कार्य है। किसी भी एक भाषा में लिखित साहित्यिक कृति का दूसरी भाषा में विषम समाज के लिए अनुवाद करना तो और भी ज्यादा कठिन है। साहित्य में बुद्धि से ज्यादा भावना प्रधान होती है इसलिए रचनाएँ प्रेम, घृणा, रीति-रिवाज, संस्कार, सभ्यता, चिंतन, शिक्षा, संस्कृति आदि से जुड़ी होती हैं। कृति विशेष किस समाज की बात कर रही है? किस जाति, वर्ग, धर्म, विचारधारा परिवेश से जुड़ी हुई है? इसकी गहरी जानकारी अनुवादक को होनी चाहिए। लक्ष्य भाषा में स्रोत भाषा की बात कहने की क्षमता यदि अनुवादक में नहीं है तो वह अनुवाद मूल कथ्य का छायामात्र रह जायेगा। इसलिए अनुवादक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह दोनों भाषाओं के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश का सम्यक ज्ञान रखता हो।

साहित्य के किसी भी विधा का अनुवाद करते समय अनुवादक को अनेक समस्याओं से जूझना पड़ता है। पहले से ही यह निर्धारित होता है कि अनुवादक को दोनों भाषाओं पर पूर्ण अधिकार होने के साथ-साथ मूलकृति में वर्णित पात्रों तथा घटनाओं के माध्यम से अभिव्यक्त किये गये सांस्कृतिक तथा आस्था संबंधी तत्त्वों से भी परिचित होना आवश्यक है।

हिंदी साहित्य में मुख्यधारा के साहित्य का अनुवाद करना दलित साहित्य की अपेक्षा कम चुनौतीपूर्ण है, क्योंकि दलित साहित्य की स्थिति मुख्यधारा के साहित्य से नितांत भिन्न है। दलित रचनाकार जिस समाज की सच्चाई को सामने ला रहे हैं, उसकी रीति-रिवाज, संस्कृति, पहनावा-ओढ़ावा, भाषा, देवी-देवता, मिथक प्रतीक, बिम्ब, सौन्दर्य आदि पारंपरिक साहित्य से अलग पहचान रखते हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस साहित्य में एक सत्ताधारी समाज द्वारा होने वाले अन्यायों, तथाकथित मनुवादियों द्वारा दिये गये भयानक यातनाओं, आदि का वर्णन जिस बोली-भाषा में हुआ है वैसा मानक भाषा में नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी भाषा में तो इस साहित्य का अनुवाद करना और भी कठिन है। वहाँ के समाज में ऐसी संस्कृति, ऐसा श्रेणीबद्ध सामाजिक ढाँचा है ही नहीं। भारतीय समाज के एक ही गाँव में रहने वाले सत्ताधारी वर्ग और वंचित वर्ग की जीवन पद्धति में बहुत भिन्नता है, और जब दो विषम भाषी सामाजिक रचना का अनुवाद होगा तो वह और भी ज़्यादा चुनौतीपूर्ण होगा। इस परिस्थिति में अनुवादक लिप्यंतरण और फुटनोट (पाद टिप्पणी) का रास्ता अख्तियार करता है। मात्र संस्कृति की सूक्ष्म जानकारी से ही अनुवाद प्रक्रिया संभव नहीं होती अपितु किसी भी भाषा को बोलने वाला समाज जिस भौगोलिक परिवेश में जीता है वहीं से उसकी शब्द-संपदा भी तैयार होती है उस शब्द के मूल अर्थ तक जाने के लिए वहाँ की भौगोलिक जानकारी भी अनुवादक के लिए जरूरी है।

आमतौर पर ऐसी धारणा है कि काव्यानुवाद अधिक चुनौतीपूर्ण है, लेकिन सर्वथा ऐसा नहीं है। जिसकी शब्दावली का अभी भी कोश तैयार नहीं है उस हर विधा के साहित्य का अनुवाद चुनौतीपूर्ण है। स्वयं अनुवादक नरेश कुमार जैन ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों का अंग्रेजी में अनुवाद 'Amma and other stories' करते हुए जो महसूस किया उसे अभिव्यक्त किया है— "Translating from one language to another particularly in a different cultural zone, is always challenging. So it has been with me. Frost once said that poetry was what was lost in translation. Fortunately short stories are much less untranslatable. This is what I have tried to do in the translation. It was like walking on a tight rope."<sup>7</sup>

अंग्रेजी में अनूदित प्रेमचंद की कुछ दलित विषयक कहानियों और ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों को इस शोध कार्य का आधार बनाया गया है। प्रेमचंद की जिन कहानियों को इस विषय के लिए चुना गया है, उनका अनुवाद विभिन्न अनुवादकों द्वारा हुआ है— 'दोनों तरफ से' (From Both Side), 'सद्गति' (Deliverance), 'ठाकुर का कुआँ' (The Thakur's Well), 'दूध का दाम' (The Price of Milk), 'कफन' (Shroud), 'राष्ट्र का सेवक' (A Servant of the Nation), Mandir 'जुर्माना' (Penalty). ये डेविड रूबिन द्वारा अनूदित हैं। 'सिर्फ एक अवाज' (The lone voice)—मदन गोपाल, 'मंत्र' और 'कजाकी' (Manthra-Pencea, Kazhaki- Sudha Narasimhachar), 'मंदिर' (Mandir- Nandini Nopany).

सर्वप्रथम हम शीर्षक की बात करें तो पुस्तकों के नाम तथा कविताओं, कहानियों, उपन्यासों, लेखों आदि शीर्षकों के अनुवाद की समस्या एक विशिष्ट समस्या है। यदि शीर्षक व्यक्तिवाचक या स्थानवाचक है तो अनुवाद करने में विशेष दिक्कत नहीं आती लेकिन जब शीर्षक व्यंजनात्मक और प्रतीकात्मक हो तो भाव संप्रेषण की समस्या होती है। सामान्यतः शीर्षक के लिए कुछ गुण अपेक्षित होते हैं— शीर्षक कृति का प्रतिनिधित्व करने वाला होना चाहिए उसमें आकर्षण हो उच्चारण सुलभ हो तथा छोटा हो। अर्थात् कहानी के पूरे भाव शीर्षक से द्योतित होने चाहिए।

वाल्मीकि की कहानियाँ मुख्यधारा की कहानियों से अपनी अलग पहचान बनाती हैं। इनके साहित्य का समाज दलित शोषित, वंचित सदियों से पीड़ित रहा है। इसलिए इसकी संस्कृति इसकी भाषा, खान—पान, बोल—चाल, वेश—भूषा सब कुछ भिन्न है। वाल्मीकि जिस पृष्ठभूमि से जुड़े हैं वहीं की बोली—भाषा इनकी कहानियों में उपस्थित है।

नरेश कुमार जैन द्वारा किये गए इन कहानियों के अंग्रेजी अनुवाद में वंचित समाज का दुःख दर्द उनका जीवन सम्प्रेषण के किस स्तर तक सफल रहा है यह एक अहम सवाल, लेकिन जैन जी ने अनूदित कृति का जो शीर्षक दिया है, वह बहुत ही आकर्षक हैं। मूल संग्रह की एक महत्वपूर्ण कहानी 'अम्मा' और अन्य कहानियों को सहभागी रूप में पिरोकर अनूदित कृति का शीर्षक 'अम्मा एण्ड अदर

स्टोरीज' ऐसा लग रहा है कि अम्मा घर की अभिवावक और कहानियाँ परिवार के अन्य सदस्य हैं। अनूदित कृति में तीन कहानियों के मूल शीर्षक को लक्ष्य भाषा अंग्रेजी में लिप्यंतरण के माध्यम से यथावत रखा गया है। ये तीन कहानियाँ हैं— 'सलाम' (Salaam) अम्मा' (Amma) और 'शवयात्रा' (Shavayatra)।

सलाम कहानी का पूरा ताना—बाना 'सलाम' शब्द के इर्द—गिर्द ही बुना गया है। यदि सलाम शीर्ष का अनुवाद लक्ष्य भाषा अंग्रेजी में Salutation, Compliment और Good bye किया गया होता तो वह भाव या संदेश लक्ष्य पाठ द्वारा पाठकों तक नहीं संप्रेषित हो पाता जो स्रोत पाठ से हुआ है। 'सलाम' शीर्षक उन सड़ी—गली मान्यताओं और परंपराओं को अपने में समेटे हुए है जो हज़ारों साल से एक सत्ताधारी वर्ग द्वारा वंचित वर्ग विशेष के उपर थोपा गया है, जिसमें उन्हें आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक राजनैतिक तथा शैक्षणिक अधिकारों से वंचित कर शोषण की चक्की में पिसा जाता रहा है। यह शीर्षक रूढ़िवादी मानसिकता का द्योतक है जो सदियों से दलितों के स्वाभिमान को चिंदी—चिंदी करता आया है। शीर्षक का लिप्यंतरण इस बात का सबूत है कि अनुवादक अनुवाद संबंधी बारीकियां तथा भारतीय वर्णवादी समाज के प्रति गहरी समझदारी रखता है। 'सलाम' की जो व्यंजना है वह अंग्रेजी भाषा में अनूदित नहीं हो सकती यह अनुवादक के सूझ—बूझ को दर्शाता है।

बाकी जो ग्यारह कहानियाँ हैं उसे समतुल्यता के आधार पर अंग्रेजी में अनूदित किया गया है। मूल कहानियों का अनुवाद इस प्रकार है— 'बैल की खाल' (The Hide of an Ox), 'भय' (Fear), 'कहाँ जाए सतीश' (Where can Satish go? ), 'गोहत्या' (The killing of a Cow) 'ग्रहण' (Eclipse), 'बिरम की बहू' (Biram's wife) 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' (Twenty-five fours are a Hundred and Fifty), 'अंधड़' (Storm) 'जिनावर' (The Beast), 'कुचक्र' (The Web of Intrigue) 'खानाबदोश' (The Homeless) उक्त में से अधिकांश शीर्षक प्रतीकात्मक भाव को समाहित किए हुए हैं। 'अंधड़' और 'कुचक्र' यहाँ पर प्राकृतिक उपादान नहीं हैं बल्कि एक में स्वयं द्वारा निर्मित झंझावातों में भटकने की कहानी है तो दूसरे में सवर्ण मानसिकता वाले लोगों द्वारा बनाये गये षड्यंत्र में फँसाने की। 'जिनावर' उन पुरुषों के लिए

आया है (विशेषकर कहानी का पात्र चौधरी के संबंध में) जो औरत को जानवर की तरह नोचता-खसोटता है, औरत उसके लिए सिर्फ भोग की वस्तु है। नरपशु की हिंसक प्रवृत्ति The Beast में समाहित है। 'खानाबदोश' कहानी का अनुवाद Nomads होता, लेकिन खानाबदोश का अपना कोई स्थाई घर नहीं होता वह यायावर की जिंदगी गुज़ारता है कभी यहाँ तो कभी वहाँ। यहाँ पर खानाबदोश उससे भिन्न अर्थ रखने वाला शब्द है जो विशेषकर उस दलित समाज के लिए है जिनका किसी गाँव में अपना घर होता है और एक पक्के घर का सपना लेकर दिन-रात मेहनत करता है। अनुवादक ने इस भाव को पकड़ा है और उचित शीर्षक दिया है— The Homeless.

प्रेमचंद की कहानी 'दोनों तरफ से' (From Both Side) के शीर्षक की बात करें तो यह एक विशेष अर्थ को द्योतित करता है। इसमें पत्नी और पति द्वारा मिलकर दो अलग-अलग किनारों पर रहने वाले व्यक्तियों के बीच भाईचारे के लिए किए गए क्रिया-कलाप को दिखाया गया है। कहानी दलित समस्या से जुड़ी हुई कम, पति-पत्नी के प्रेम की कहानी ज्यादा लगती है। इस कहानी पर उर्दू का व्यापक प्रभाव पड़ा है—

"रफ़ता-रफ़ता पण्डित जी की इस हमदर्दी ने अछूत जातों के साथ बिरादराना ताल्लुकात कायम कर दिये। उनके परगने में तीन सौ मौजे थे और नीची जाति की तादाद छः हजार से कम न थी। इन सबों के साथ पंडित जी को दोस्ता-ओ-बिरादराना लगाव था। उनकी शादियों में शरीक होते और रिवाज के मुताबिक उपहार ले जाते। अगर उनमें कोई फ़साद होता तो अक्सर फ़रियाद पण्डित जी के यहाँ ही आती थी। मुमकिन न था कि पण्डित जी उनमें से किसी के बीमार होने की ख़बर पाये और बीमार का हाल-चाल पूछने के लिए न जायें। उन्होंने वैद्यक में खुद भी थोड़ी सी मशक-बहम (उपलब्ध करना) पहुँचाई थी। खुद मरीज की तीमारदारी करते और ज्यादा तकलीफ़ में पाते तो रुपये-पैसे से भी इमदाद करते। मगर बेशरत सूरतों में उनकी हमदर्दी और मुहब्बत काफी होती थी। ऐसे कामों के लिए रुपयों की इतनी

जरूरत नहीं होती, जितनी बेग़रज इन्सानियत और कौमी ख़िदमत के जोश की। उनकी सालभर की लगातार और सरगर्म हमदर्दना कोशिशों ने इस फ़िरके में एक इन्कलाब सा पैदा कर दिया।”<sup>8</sup>

“Gradually Panditji's sympathy developed a fraternal relationship with the untouchables. In his district there were 300 villages and the number of low caste people was no less than 6,000. Panditji had a friendly brotherly affection for all of them. He attended the weddings and behaved with them according to their customs. If there was some altercation among them very often a petition for judgement would be brought to be panditji. It was not possible for him to hear of one of them being ill without his going to find out about the nature of man's sickness. In Indian medicine he had acquired a little skill; he would attend the sick man and if he found him in difficult straits would help him along with money. But for the most part his love and sympathy were sufficient in themselves. For such achievements oney was not so necessary as disinterested humanitarianism and the zeal for social service. After a whole year of his enthusiastic and unflaggingly sympathetic endeavours; sort of revolution had been produced in this community.”<sup>9</sup>

चूँकि हर भाषा की अपनी शब्दावली होती है, इसलिए किसी भी विषय वस्तु को एक रूप देने के लिए उन शब्दावलियों का प्रयोग किया जाता है। यहाँ हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी तीनों की भाषा संरचना अलग-अलग शब्दों से मिलकर बनी हैं। इसलिए मूलपाठ का भाव हिन्दी भाषी और उर्दू भाषी दोनों के लिए अलग-अलग अनुभूत होती है। अंग्रेजी में इतनी भाषा बाध्यता या भिन्नता नहीं होती है इसलिए सारे अंग्रेजी भाषियों के लिए समान भाव की सम्प्रेषणीयता होगी।

**मूलपाठ:** “मगर उन मंत्रों से साँप का जहर न उतरा। कोलेसरी यूँ ही हूँ—हाँ करती रही। जहर ने उसके कान बन्द कर दिये थे।”<sup>10</sup>



**अनूदित पाठ:** But the snake's poison was not drawn out by these spells. Kolesari still said nothing except an occasional 'Hm' or 'Han'. The poison had closed up her ears."<sup>11</sup>

कोलेसरी पर औरतों द्वारा तंज कसने की तुलना 'साँप के जहर' से की गयी है। इसलिए यहाँ प्रतीकात्मक अर्थ की व्यंजना हुई है। अनुवाद करते समय अनुवादक ने शब्दानुवाद का सहारा लिया है। भावानुवाद करने पर अर्थ पूरी तरह से स्पष्ट नहीं हो पाता और पाठक के लिए मुश्किलें पैदा हो सकती थीं। गाँव की औरतों द्वारा मारे गये ताने रूपी जहर ने कोलेसरी के कान बन्द कर दिये थे, इसलिए पंडितजी द्वारा कारण पूछे जाने पर भी बस वह हाँ-हूँ कर रही थी। जब भाषा में मुहावरे और प्रतीकों का प्रयोग होता है वहाँ अनुवाद की समस्या बढ़ जाती है। मूलपाठ की तरह ही लक्ष्य पाठ में अर्थ की सम्प्रेषणीयता नहीं बन पाती।

**मूलपाठ:** "अपने कौमी फर्ज को शख्सी फर्ज पर कुर्बान करने के लिए उन्हें अपने दिल पर बड़ा ज़ब्र करना पड़ता था। जब अपने बगीचे में तनहा बैठे हुए वह अपने दिल से इस मसले पर बहस करने लगते तो बाज-औकात अपनी कमजोरी पर झुँझला जाते और जी में आता कि चलकर कोलेसरी से साफ़-साफ़ कह दूँ कि मैं कौम को जात पर कुर्बान नहीं कर सकता।"<sup>12</sup>

**अनूदित पाठ:** "To sacrifice his social commitment for a personal obligation had to go violently against his feelings. When he would sit in his garden alone and argue about this with himself at times he became irritated at his weakness and feel like going to Kolesari and saying frankly that he would not give up his duty for personal caste pride."<sup>13</sup>

मूल पाठ को पढ़ते समय पाठक को हिंदी-उर्दू भाषिक भिन्नता का बोध होता है, लेकिन अनूदित पाठ अंग्रेजी को पढ़ते समय पाठक को भाषिक भिन्नता का आभास तक नहीं होता है। उपर्युक्त उद्धरण में उर्दू का विशेष प्रभाव है जिसमें बहुतायत मात्रा में अरबी और फ़ारसी के शब्दों का चयन

प्रेमचंद ने किया है। लक्ष्य भाषा में मूल भाषा का भाव पूर्णरूपेण सुरक्षित है। यह अनुवादक की सफलता है। स्रोत भाषा का जो संदेश है वह लक्ष्य भाषा तक बखूबी सम्प्रेषित हुआ है।

‘सिर्फ एक आवाज’ कहानी चन्द्रग्रहण के समय स्नान करने जाने से शुरू होकर अन्त में दलित समस्या से जुड़ गई है। चन्द्रग्रहण का जो मूल तत्व है— कि ग्रहण लगने पर आम आदमी क्या सोचता है? किस तरह की आस्था जुड़ी होती है आमजन की? उस मूल तत्व को अनुवादक ने अनदेखा कर दिया है—

“चाँद सूरज दूनों लोक के मालिक  
एक दिन उनहूँ पर बनती  
हम जानी हमहीं पर बनती।”<sup>14</sup>

इस पर भोजपुरी क्षेत्रीय बोली का प्रभाव है, फिर भी इसका भावानुवाद किया जा सकता था, जो नहीं हुआ है। लोक में ऐसा प्रचलित है कि जब सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण लगता है, तो आमजन सूर्य, चन्द्रमा अर्थात् ईश्वर पर संकट की घड़ी आ पड़ी है ऐसा मानती है और आस्था से जोड़कर देखती हैं। ऐसी भारतीय संस्कृति की भी मान्यता है, जबकि वैज्ञानिक धारणा में ये सारी आस्थाएँ निर्मूल हो चुकी हैं। अन्तर्भाषियों तक इस आस्था को पहुँचाने के लिए अनुवादक पाद टिप्पणियों का सहारा ले सकता था।

प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में कहीं—कहीं काव्यात्मक और अलंकारिक भाषा का भी प्रयोग किया है—

**मूलपाठ:** “सूरज गंगा की गोद में जा बैठा था और माँ प्रेम और गर्व से मतवाली जोश से उमड़ती हुई, रंग में केसर को शर्माती और चमक में सोने को लजाती थी। चारों तरफ एक रोबीली खामोशी छायी थी। उस सन्नाटे में संन्यासी की गर्मी और जोश से भरी हुई बातें गंगा की लहरों और गगनचुम्बी

मंदिरों में समा गयीं। गंगा एक गंभीर माँ की निराशा के साथ हँसी और देवताओं ने अफसोस से सिर झुका लिया, मगर मुँह से कुछ न बोले।<sup>15</sup>

**अनु.पाठ:** "The sun was setting over the Ganges. There was a hushed silence among the gathering. Nobody from the crowd moved. It seemed as if the words of the speaker had got drowned in the Ganges."<sup>16</sup>

यहाँ अनुवादक ने भावानुवाद का सहारा लिया है, लेकिन सफलता हाथ नहीं लगी है। 'सूरज मानो गंगा की गोद में जा बैठा था' यहाँ उत्प्रेक्षा और मानवीकरण दोनों अलंकार एक साथ प्रयोग हुआ है जिसका अंग्रेजी में अनुवाद करना मुश्किल है। यदि यहाँ शब्दानुवाद होता तो भाव ज्यादा स्पष्ट हो सकता था। गंगा भारतीयों के लिए सिर्फ एक नदी नहीं माँ का भी और धार्मिक आस्था का भी प्रतीक है।

मूल कहानी पढ़ने के बाद अंग्रेजी में अनुवाद पढ़ने पर मूल जैसा भाव स्पष्ट नहीं हो रहा है। अनेक जगहों पर लम्बे-लम्बे पैराग्राफ को दो-दो, चार-चार पंक्तियों में समेट दिया गया है। जिससे लक्ष्य भाषा में स्रोत भाषा जैसा भाव सम्प्रेषित नहीं हो रहा है। इस कहानी को उर्दू से अंग्रेजी में अनुवाद मदन गोपाल ने किया है। कहीं-कहीं तो बहुत ही दोयम दर्जे का अनुवाद हुआ है।

**मूल पाठ:** "गेरुए बाने का आदर और भक्ति करना उसके धर्म और विश्वास का एक अंग था। संन्यास में उसकी आत्मा को अपना अनुचर बनाने की एक सजीव शक्ति छिपी हुई थी और उस ताकत ने अपना असर दिखाया।"<sup>17</sup>

इस तरह की अनेक पंक्तियाँ हैं जिनका अनुवाद नहीं हुआ है। दर्शन सिंह की धार्मिक आस्था भावानुवाद में गुंफित हुआ है। अन्तर्भाषियों के लिए लक्ष्य पाठ ज्यादा समस्या नहीं उत्पन्न करेगा, लेकिन जिसने हिंदी की मूल कहानी पढ़ी हो उसके लिए यह अनुवाद बिलकुल निरस लगेगा।

**मूलपाठ:** "किसी योद्धा को अपनी तलवार पर जितना घमण्ड होता है, उतना ही घमण्ड कजाकी को अपनी चपरास पर था। जब वह चपरास खोलने लगा, तो उसके हाथ काँप रहे थे और आँखों से आँसू बह रहे थे।"<sup>18</sup>

**अनु.पाठ:** "Kazhaki was as proud of his badge as a warrior would be of his spear. As he removed his badge, his hands shivered and his eyes filled with tears."<sup>19</sup>

हिंदी और अंग्रेजी की भाषिक संरचना और व्याकरण नितान्त भिन्न हैं। इसलिए मूलपाठ प्रश्नवाचक शब्द से शुरू हुआ है, जबकि अंग्रेजी में संज्ञा से। 'चपरास' की तुलना 'तलवार' से की गई है, जिससे भाषिक सौंदर्य में वृद्धि हुई है। जिस तरह से तलवार एक योद्धा के लिए सम्मान का परिचायक है, उसी तरह से 'चपरास' कजाकी के अस्मिता का द्योतक था।

**मूल पाठ:** "शायद अम्मा जी उसे सीधा देना चाहती थीं।"<sup>20</sup>

**अनु.पाठ:** "Maybe Ammaji wanted to give her the information."<sup>21</sup>

यहाँ 'सीधा' का अर्थ अनाज से है न कि संदेश। अनुवादक से बड़ी चूक हुई है। लोकल भाषा में कच्चे चावल और आटा के द्वारा जब किसी की सहायता की जाती है तब उसे सीधा देना बोला जाता है। अनुवादक को raw rice, flour या Grain का भी प्रयोग करना चाहिए था जिससे मूल का अर्थ और संदेश दोनों सुरक्षित रहता।

अनुवाद की दृष्टि से प्रेमचंद की 'सद्गति' कहानी के शीर्षक को लें तो अलग-अलग अनुवादकों ने भिन्न-भिन्न टाइटिल से अनुवाद किया है, लेकिन सबका ध्येय एक ही है इस जहालत की जिंदगी से मुक्त होना। 'सद्गति' शब्दावली विमर्श की माँग करती है, लेकिन अनुवादक को इतनी छूट नहीं होती है कि मूलभाव को परिवर्तित कर सके। इसलिए समतुल्यता के आधार पर शीर्षक का अनुवाद किया गया है।

David Rubin द्वारा अनूदित यह कहानी 1969 में 'Deliverance' शीर्षक से छपी थी। यही कहानी मदनगोपाल द्वारा अनूदित 'Salvation' शीर्षक से 1997 The Best of Premchand a collection of 50 best sort stories volume-2 में छपी। Ruhul Amin द्वारा अनूदित 'A Blessed Death' नाम से Premchand Stories में 2006 में छपी थी।

भारतीय समाज में जाति आधारित सम्बोधन किया जाता है, जिसे अन्तर्भाषिए तक पहुँचाना अनुवादक के लिए कठिन होता है।

**मूलपाठ:** "दुखी को देखकर श्रीमुख से बोले— आज कैसे चला रे दुखिया?"

दुखी ने सिर झुकाकर कहा— बिटिया की सगाई कर रहा हूँ महाराज!

कुछ साइत—सगुन विचारना है। कब मर्जी होगी।

घासी— आज मुझे छुट्टी नहीं! हाँ सांझ तक आ जाऊँगा

दुखी— नहीं महाराज, जल्दी मर्जी हो जाय। सब सामान ठीक कर आया हूँ। यह घास कहाँ रख दूँ?"<sup>22</sup>

**अनु.पाठ:** "At the sight of Dukhi he intoned, 'What brings you here today, little Dukhi?'"

Bowing his head, Dukhi said, 'I'm arranging Bitiya's betrothal. Will your worship help us to fix an auspicious date?'

'When can you find the time?'

'I have no time today'. Panditji said. 'But still, I'll manage to come toward evening.'

'No maharaj, please come soon. I've arranged everything for you. Where shall I set this grass down?'"<sup>23</sup>

क्षेत्रीयता की पुट को बनाए रखने के लिए अनुवादक ने Bitiya's, Panditji और Maharaj जैसे शब्दों को लिप्यंतरण के माध्यम से यथावत रखा

है। 'रे दुखिया' सम्बोधन मूलपाठ में जिस ऊँच-नीच के भेदपरक परत को खोल रहा है वह अनुवाद में नहीं हो सकता है। भारतीय समाज में जाति आधारित लिंग आधारित परिकल्पनाएँ गढ़ ली जाती हैं जिसका कोई ठोस आधार नहीं होता है। खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, चलने-फिरने, बोलने-बतियाने, हंसने-रोने हर क्रिया-कलाप में जातीय आकलन होने लगता है। जैसे—

**मूल पाठ:** "पंडित— दो-चार रोटियों में क्या होगा? चमार है, कम-से-कम सेर भर चढ़ा जायेगा।

पंडिताइन कान पर हाथ रखकर बोली— अरे बाप रे! सेर भर! तो फिर रहने दो।

पंडित जी ने अब शेर बनकर कहा— कुछ भूसी-चोकर हो तो आटे में मिलाकर दो ठो लिट्टा ठोंक दो। साले का पेट भर जायेगा। पतली रोटियों से इन नीचों का पेट नहीं भरता। इन्हें तो जुआर का लिट्टा चाहिए।

पंडिताइन— अब जाने भी दो, धूप में कौन मरे।"<sup>24</sup>

**अनु. पाठ:** "What's the good of two or three pieces for a tanner? Those people need at least a good two pounds.

His wife put her hands over her ears. My, my a good two pounds! Then let's forget about it.

Majestically Panditji said, 'If there's some bran and husks mix them in flour and make a couple of pancakes. That'll fill the fastard's belly up. You can never fill up these low-caste people with good bread. Plain millet's what they need'

'Let's forget the whole thing.' The Panditayin said, 'I'm not going to kill myself cooking in weather like this'. "<sup>25</sup>

‘चमार’ ‘नीच’, साला जाति आधारित अपमानसूचक गालियों के रूप में प्रयोग किया गया है। समतुल्यता के आधार पर अनुवादक ने कोशिश की है एक समाज की बुराईयों से दूसरे समाज को परिचित कराने का। मूल पाठ को पढ़कर जो संवेदनाएँ उत्पन्न होंगी वैसा ही हू-ब-हू अनूदित पाठ को पढ़कर नहीं होगी। क्योंकि उस समाज में जाति आधारित गालियों का प्रयोग नहीं किया जाता है। ‘दो ठो लिट्टा ठोंक दो’ इस पंक्ति में लापरवाही और नफरत दोनों भरा हुआ है जो अनुवाद में लाना मुश्किल है।

**मूलपाठ :** “पंडिताइन ने झुंझलाकर कहा— इन डाइनों ने तो खोपड़ी चाट डाली। सभों का गला भी नहीं पकता।

पंडित ने कहा— रोने दो चुड़ैलों को, कब तक रोयेंगी। जीता था, तो कोई बात न पूछता था। मर गया, तो कोलाहल मचाने के लिए सब की सब आ पहुँचीं।

पंडिताइन— चमार का रोना मनहूस है।

पंडित— हाँ बहुत मनहूस।

पंडिताइन— अभी से दुर्गंध उठने लगी।

पंडित— चमार था ससुरा कि नहीं। साध—असाध किसी का विचार है इन सबों को।

पंडिताइन— इन सबों को घिन भी नहीं लगती।

पंडित— भ्रष्ट हैं सब।”<sup>26</sup>

**अनु. पाठ:** "Angrily the Panditayin said. Those witches are driving me out of my mind. And they're not even hoarse yet!

'Let the hags cry as long as they want. When he was alive nobody cared a straw about him. No that he's dead everybody in the village is making a fuss about him.'

The wailing of tanners is bad luck,' The panditayin said.

'Yes, very bad luck.'

'And it's beginning to stink already.'

Wasn't the bastard a tanner? Those people eat anything, clean or not, without worrying about it.'

'No sort of food disgusts them.'

They're all polluted.!"<sup>27</sup>

यहाँ के समाज में मनुष्य-मनुष्य में इतनी बड़ी खाई निर्मित की गई है कि तथाकथित सवर्ण दलितों के दुख की घड़ी में भी गालियों से बात करते हैं। बहुत सी जगहों पर सवर्णों का दलितों के प्रति रंचमात्र भी संवेदना नहीं दीखती है। मूल पाठ में 'पंडित पंडिताइन' समूहवाचक संज्ञा को अनूदित पाठ में हटा दिया गया है, फिर भी भाव ज्यों का त्यों बना हुआ है। यह अनुवाद की सफलता है। Tanner का अर्थ होता है चमड़े का काम करने वाला। अन्तर्जातीय समाज में Tanner व्यवसाय का द्योतक है जबकि भारत में जाति विशेष का। यदि अनुवादक 'चमार' शब्द का लिप्यंतरण करके पाद टिप्पणी करता, तो अन्तर्भाषीय समाज तक केंद्रीय भाव को पहुँचाने में ज्यादा सफल होता। 'ससुरा' भारतीय समाज में दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है – एक गाली के रूप में और दूसरा मज़ाक के रूप में यहाँ गाली के रूप में प्रयोग किया गया है, जिसको अनुवादक ने बखूबी पकड़ा है और इसका उचित अनुवाद 'Bastard' किया है

**मूलपाठ:** "लुआठे से मुँह झुलस दूंगी"— पृ.110 (सद्गति)

**अनूदित पाठ:** I will scroch his face with firebrand, p.198 (Deliverance)

**मूलपाठ:** दाढ़ीजार— पृ.110



**अनूदित पाठ:** Good for nothing, p.198, दाढ़ीजार के लिए कोई विशेष शब्द प्रयोग नहीं किया गया है, 'Good for nothing' उसकी भरपाई हुई है।

जो चुटिलापन मूलपाठ में है वो अनुवाद से व्यंजित नहीं हो रहा है। यह अनुवाद और अनुवादक की सीमा है।

अनुवाद के अन्त में अनुवादक ने Chamar शब्द की पाद टिप्पणी की है और 'दुखी' नामक चरित्र को भी व्याख्यायित किया है।

" 'Dukhi' means 'Sorrowful' – such names are common in villages and are usually bestowed to discourage or avert the envy of the gods; in this case, of course it is ironic. The Gonds are a community of low standing but considerably above the Chamar."<sup>28</sup>

ओमप्रकाश वाल्मीकि के साहित्य में गालियों के स्वर बहुत ही तीखे और तल्खी के साथ उभरकर आए हैं—

स्वयं का अहंकार व्यक्त करने हेतु, सामने वाले का अपमान करने हेतु, किसी की औकात बताने हेतु या फिर दुःखों को व्यक्त करने हेतु गालियों का प्रयोग होता है। जब व्यक्ति अपने क्रोध पर काबु नहीं कर पाता तो गालियाँ देने लगता है। आमतौर पर गालियाँ स्त्री-पुरुष के जननेन्द्रियों से संबंधित होती हैं। माँ-बहन का रिश्ता बहुत ही नाजुक होता है और गालियों में ये दोनों रिश्ते सर्वाधिक सुनाई पड़ते हैं। भाई-भतीजा, बाप या अन्य रिश्तों से संबंधित गालियाँ बहुत कम मिलती हैं।

गालियों का अनुवाद करना बहुत चुनौतीपूर्ण होता है क्योंकि गालियाँ अपने परिवेश, अपनी बोली का ख्वालिस रूप लेकर आती हैं, इसलिए उनका शाब्दिक अनुवाद भी संभव नहीं है। मध्यवर्गीय जीवन से संबंधित साहित्य में गालियों का प्रयोग बहुत कम मिलता है। इसके पीछे कारण है, दलित साहित्य इसका जीवंत उदाहरण है। कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा कि किस परिस्थिति में गालियाँ किसको और कैसी दी जा रही हैं—

**मूलपाठ:** ओ, सहरी जनखे हम तेरे भाई हैं? –साले जबान सिभाल के बोल, गाँड में डंडा डाल के उलट दूँगा। जाके जुम्न चूहड़े से रिश्ता बणा। इतनी जोरदार लौंडिया लेके जा रे हैं सहर वाले, जुम्न के तो सींग लिकड़ आए हैं। अरे, लौंडिया को किसी गाँव में ब्याह देता तो म्हारे जैसो का भी कुछ भला हो जाता....

„29

**अनु.पाठ—** "O you impotent city dweller, are we your brothers? -Saale, mind your language, or I will push a rod up your arse and turn you upside down. Go and make an alliance with Jumman sweeper. Such an attractive girl the city people are taking with them. Arey, if the girl had been married off in some village, It'd have benefitted people like us. "30

उपरोक्त पाठ में कमल को चूहड़ा समझकर उसकी औकात बताने के लिए अपमान एवं तिरस्कारपूर्ण अभद्र गालियों का प्रयोग सवर्ण समाज द्वारा दिया गया है। अनुवादक मूल अर्थ को सुरक्षित रखने का पूरा प्रयास किया है। 'जनखा' शब्द लोक व्यवहार में प्रचलित है, इसका प्रामाणिक हिंदी शब्द 'नपुंसक' होता है। इसी तरह 'लौंडिया' आम बोल-चाल में कभी-कभार प्रयोग होता है। लौंडिया का दूसरा अर्थ रखैल भी होता है। 'जोरदार लौंडिया' Such an attractive girl में उपहास और अश्लीलता का भाव है। 'जनखे' Dweller अपमान निर्योग्यता का द्योतक है। लोक प्रचलित अपशब्द युक्त मुहावरे की कड़वी सच्चाई अनुवाद में उपस्थित है— गाँड में डंडा डाल के उलट दूँगा का— I will push a rod up yor arse' सटीक अनुवाद है। अनूदित पाठ में उक्त मुहावरे का अर्थ स्पष्ट रूप से संप्रेषित हो जाय, इसलिए अनुवादक ने 'I' 'Your' सर्वनामों का प्रयोग किया है।

'बैल की खाल' कहानी में पंडित बिरिज मोहन काले और भूरे पर अपना हक जमाते हुए गालियों का प्रयोग करता—

**मूलपाठ—** कहाँ मर गये थे भोसड़ी के...तड़के से ढूँढ-ढूँढ के गोड्डे टूट गए हैं। और इब आ रहे हो महाराजा की तरियों...इस बैल को कौन उठावेगा... तुम्हारा बाप... "31

**अनु.पाठ—** "Where were you, you bastards? We have worn our knees out looking for you... You're coming now like a maharaja... who will remove the Ox... Your father?"<sup>32</sup>

मूलपाठ के भाव को अनुवादक ने बारीकी से पकड़ा है। जैसे 'गोड्डे टूटना' लोक में प्रचलित मुहावरा है जिसका अर्थ है— 'किसी को भी ढूँढ़-ढूँढ़ कर थक जाना' यदि यहाँ शब्दों का अनुवाद होता तो अर्थ का अनर्थ हो जाता। इसलिए worn का प्रयोग सार्थक है। 'महाराजा' शान-शौकत से जुड़ा शब्द है इसका लिप्यंतरण ही सही है क्यों कि इसमें कटाक्ष छिपा हुआ है। उक्त अनूदित पाठ में मध्यम पुरुष वाचक सर्वनाम का प्रयोग किया गया है जो कि मूल में नहीं है। सर्वनामों के प्रयोग से भाव संप्रेषण में स्पष्टता आ गई है। भारतीय हिंदी पाठक अनुवाद में मूल की तरह ही भाव ग्रहण नहीं कर पायेगा क्योंकि क्षेत्रीयता का पुट अंग्रेजी भाषा में लाना मुश्किल है। जैसे बाप के लिए 'Father' में वही अर्थ नहीं है। बाप शब्द का प्रयोग हमेशा गुस्से और गालियों के साथ ही होता है।

पुलिस प्रशासन द्वारा पढ़े-लिखे दलितों के साथ किस तरह का व्यवहार किया जाता है, उनके साथ गाली-गलौज करने का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

**मूल पाठ—** "यहाँ आराम करो—कल देखेंगे... तुम साले पढ़े-लिखे लोग शराफत की भाषा नहीं जानते। पुलिस के डंडे चूतड़ों पर जब पड़ेंगे सारी सच्चाई सामने आ जाएगी।" इंस्पेक्टर ने चीखते हुए कहा।<sup>33</sup>

**अनूदित पाठ —** "Cool your heels here... we shall see tomorrow. Educated people like you don't understand the language of politeness. When you receive the police thrashing on your bare bottoms, all the truth will come out," screamed the inspector.  
"34

अनुवाद स्पष्ट और चुभने वाला है, जैसे— Police thrashing on your bare bottom अर्थात् यूँ ही पीटाई नहीं होगी नंगा करके पीटा जायेगा। Cool your heels मुहावरेदार अनुवाद है। मूल पाठ में 'साले' गाली का प्रयोग है जो अनूदित पाठ में छूट गया है जिससे पुलिसिया गाली गलौज की भाषा थोड़ी कुंद पड़ गई है।

भारतीय समाज में वंचितों के साथ तथाकथित सवर्ण शिक्षकों का बात-बे-बात पर कैसा वरताव होता है। इसकी एक बानगी मूलपाठ में प्रस्तुत है, जिसे अनुवाद के माध्यम से इन चीजों से अनभिज्ञ समाज तक पहुँचाया गया है।

**मूलपाठ—** "मास्टर शिवनारायण हत्थे से उखड़ गया। खींचकर एक थप्पड़ उसके गाल पर रसीद किया। आँखें तरेरकर चीखा, "अबे तेरा बाप इतना बड़ा बिदवान है तो यहाँ क्या अपनी माँ...(एक ऐसी क्रिया—जिसे सुसंस्कृत लोग साहित्य में त्याज्य मानते हैं)।...आया है साले; तुम लोगों को चाहे कितना भी लिखाओ, पढ़ाओ...रहोगे वहीं के वहीं...दिमाग में कूड़ा—करकट जो भरा है। पढ़ाई—लिखाई के संस्कार तो तुमलोग में आ ही नहीं सकते। चल बोल ठीक से ...पच्चीस चौका सौ...स्कूल में तेरी थोड़ी—सी तारीफ क्या होने लगी पाँव जमीन पर नहीं पड़ते। उप्पर से जबान चलावे है। उलटकर जवाब देता है।"<sup>35</sup>

**अनु.पाठ—** "Master Shivnarain flew off the handle. He gave him a stinging slap and shouted : 'Abe, if your father is such a learned man, why do you come here? To have your mother...?' (a verb which 'cultured' people consider unworthy of being used in literature), Saale. However much one might try to educate you, you will remain where you were...so full of rubbish is your brain. The sanskaar of education are beyond you people. Come, speak correctly: "Twenty- five fours are a hundre..." what with the small bit of praise you have started receiving in the school, your feet don't seem to touch the ground any more. In addition, you bandy words with me answer me back!"<sup>36</sup>

उपरोक्त अनुवाद में सामाजिक सांस्कृतिक संदर्भ के साथ उसकी स्थानीयता बनी रहे इसलिए अनुवादक ने Abe और Sanskar शब्द को मूल से यथावत ले लिया है। Abe यहाँ पर अपमानित करने के लिए प्रयोग किया है। 'संस्कार' का अनुवाद करना कठिन है क्योंकि इसमें पारिवारिक विरासत के रूप में आचार—व्यवहार का भाव छिपा है। स्रोत पाठ में 'हत्थे से उखड़ जाना', 'आँखें तरेरना' 'पाँव जमीन पर नीं पड़ना', 'उलटकर जवाब देना' मुहावरों का प्रयोग जीवंतता उत्पन्न कर रहे हैं। अनूदित पाठ में आँखें तरेरना का अनुवाद नहीं हुआ है। यहाँ look angrily and shouted किया गया होता तो भाव और ज्यादा स्पष्ट होता। दूसरी बात, 'हत्थे से उखड़ना का शाब्दिक अनुवाद हुआ है जो उचित नहीं है। इस मुहाबरे का अर्थ है बहुत अधिक क्रोधित होना अर्थात्

‘आपे से बाहर हो जाना’ इसका अंग्रेज़ी समतुल्य मुहावरा To lose one's temper सटीक अनुवाद है जो नहीं किया गया है।

‘अम्मा’ कहानी में अम्मा मि. चोपड़ा के बारे में जब हरदेई से बताती है तो हरदेई कैसी प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। इसका एक उदाहरण इस प्रकार है—

**मूलपाठ—** “तू तो मुख है नासपिट्टी, अपनी माँ के यार कू टट्टी में घसीट लेती। पहले उतरवाती उसके कपड़े कि आ तुझे करवा दूँ मसूरी का सैर। फेर करवाती उससे थिगनी का नाच। झाड़ू से पीट-पीट कर साले कुत्ते कू सड़क पे लियात्ती। जुलूस लिकड़ (निकल) जात्ता चोद्दे (गाली) का जिब गणपति को हिलाता सड़क पे दौड़ता। भूल जाता सारा इशक... है।”<sup>37</sup>

**अनु. पाठ:** "You're stupid. You cursed one. You should've dragged the mother's lover into the lavatory. First, you should've stripped him naked, and made him take a walk through Mussoorie, and then made him dance. After that you should've beaten the dog with the broom and taken him to the street. That would've completed the disgrace of the mother-fucker—seeing him run with his ganpati swinging about. He would've forgotten all about romancing..."<sup>38</sup>

उपरोक्त अंश में क्षेत्रीयता के साथ-साथ जो गाली और मुहावरे आये हैं उसे मूल भाव के जैसा ही अनुवाद में लाना मुश्किल है। इसमें अनुवादक का कोई दोष नहीं है। ऐसी बहुत-सी शब्दावली और मुहावरे, लोकोक्तियाँ हैं जो लोक में प्रचलित हैं। इनका अर्थ शब्दकोश में भी मिलना मुश्किल है। जैसे एक मुहावरे का प्रयोग हुआ है ‘थिगनी का नाच’ यह पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कुछ हिस्सों में लोक प्रचलित औरतों से संबंधित मुहावरा है जिसका अंग्रेज़ी में कोई समतुल्य मुहावरा या शब्द नहीं है। इसका अनुवाद dance हुआ है जो कामचलाउ है। एक गाली इसमें— ‘गणपति को हिलाता सड़क पर दौड़ता’। गणपति का लिप्यंतरण करके ग्लोसरी में पाद टिप्पणी दी गयी है— (Name of the elephant god, Ganesh; used here humorously) इसे कोई अन्तरभाषिया पढ़ेगा तो अर्थ स्पष्ट नहीं होगा क्योंकि यहाँ भावार्थ उस पात्र के लिंग से है। इस व्यंजनात्मक अर्थ को अनूदित पाठ में स्पष्ट करना चाहिए था।

मूलपाठ: "कब इन लोगों को दया आती है किसी पर। बेचारे महँगू को इतना मारा कि महीनों लहू थूकता रहा। इसलिए तो उसने बेगार न दी थी! उस पर ये लोग ऊँचे बनते हैं।"<sup>39</sup>

अनु.पाठ: "When had these people ever had pity on anybody? They beat poor Mahngu so hard that he spat blood for mouths, and the only reason was that he refused to work in the forced labour gang. Was this what made such people consider themselves better than every body else?"<sup>40</sup>

कुछ ऐसी ही घटना का जिक्र ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'बिरम की बहू' में भी अया है—

मूलपाठ: "उस बार भी तो ऐसा ही कुछ हुआ था, जब भंगी बस्ती के दस-पन्द्रह मर्दों को चौधरी की चौपाल के चबूतरों पर पुलिस ने डंडों से पीटा था। भंगी-बस्ती की तमाम औरतें गली में खड़ी ऊँची आवाज में चीख-पुकार मचा रही थीं। स्वयं उसने खिड़की से देखा था। कितनी बेदर्दी से पीटा जा रहा था। चौधरी मोढ़े पर बैठे हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे, सहज भाव से।

रात में जब बिरम हवेली में आया तो बहू जी ने बिरम से भी जानना चाहा। बिरम ने सहजता के कहा था, "इन कमीनों का यही इलाज है। हरामजादों के दिमाग चढ़ गए हैं।"

बिरम ने बहू की ओर तरेर कर कहा था, "तुम्हें क्या पड़ी है जो इन पर इतना लाड़ आ रहा है। ढोल, गँवार, शूद्र और नारी ये सब तो पीटने से ही काबू में रहते हैं... बाहर की बातों को दखल मत दो। अपने काम से काम रखो..."<sup>41</sup>

अनु.पाठ: "Something similar had happened on that occasion also when the police beat up some ten-fifteen people belonging to the sweepers' colony with sticks on the platform of the Chaudhari's chaupal. All the women belonging to

the sweepers' colony stood in the street wailing and shrieking. She had seen this herself through the window. How mercilessly were they beaten! The Chaudri sat in his murha smoking his hookah as usual. ...

At night when Biram came into the haveli, she had tried to find out from him also. Biram had simply said; "This is the only remedy for these low-born people. These bastards have become very conceited.

Biram had glared at his wife, saying: What have you to do with them that you seem so soft towards them? The drum, the villager, the shudra and the women—you can control them only by beating them. ... Don't meddle with outside matters. Mind your own business..."<sup>42</sup>

प्रेमचंद से लेकर ओमप्रकाश वाल्मीकि तक दलितों के प्रति शोषण, दमन, अन्याय की जो संस्कृति भारतीय समाज में रही है, वह आज भी कायम है। कुछ भी नहीं बदला। उनको मारना, पीटना, काटना, बहन-बेटियों के साथ बदसलूकी करना, अमानवीय व्यवहार करना, तथाकथित सवर्णों के लिए शान और गौरव का द्योतक था और आज भी है। हर रोज ऐसी घटनाएँ घट रही हैं।

अनुवाद ही वह माध्यम है जिसके द्वारा ऐसी वीभत्स संस्कृति की जानकारी विभिन्न भाषा-भाषी समाज तक पहुँचता है। भारतीय समाज द्वारा इज़ाद किये गये जो शब्दावली है— Chaudhari, chaupal, Murha, hookah, haveli और drum इनका समतुल्यता के आधार पर अनुवाद हो सकता था, लेकिन इसमें जो व्यंजनात्मक अर्थ है वह अंग्रेजी में अनूदित होकर नहीं आ सकता है। इसलिए अनुवादक ने लिप्यंतरण का सहारा लेकर भारतीयता का जो वर्चस्ववादी कलेवर है उसको यथावत रखने का प्रयास किया है।

व्यक्ति को अपने जीवन में कई तरह के रिश्ते-नातों का निर्वाह करना पड़ता है, जिसमें सुख-दुख, हँसी-मजाक, हास-परिहास, गाली-गलौज आदि शामिल रहते हैं। इस तरह के अंशों का अनुवाद करना कठिन होता है। दाम्पत्य जीवन की चुहलबाजियों की एक झलक देखी जा सकती है—

**मूल पाठ:** "स्त्री कहती थी— अगर अबकी बेटा न हो तो मुँह न दिखाऊँ; हाँ—हाँ, मुँह न दिखाऊँ, सारे लच्छन बेटे के हैं। और गूदड़ कहता था— देख लेना, बेटी होगी और बीच खेत बेटी होगी। बेटा निकले तो मूँछे मुँडा लूँ, हाँ—हाँ मूँछें मुड़ा लूँ।

भूंगी बोली— अब मूँछ मुँड़ा ले दाढ़ीजार! कहती थी बेटा होगा। सुनता ही न था। अपनी ही रट लगाये जाता था। मैं आज तेरी मूँछ मूँडूँगी, खूँटी तक तो रखूँगी ही नहीं।

गूदड़ ने कहा— अच्छा मूँड लेना भलीमानस! मूँछें क्या फिर निकलेंगी ही नहीं? तीसरे दिन देख लेना, फिर ज्यों की त्यों हैं, मगर जो कुछ मिलेगा, उसमें आधा रख लूँगा, कह देता हूँ।

भूंगी ने अँगूठा दिखाया और अपने तीन महीने के बालक को गूदड़ के सुपुर्द कर सिपाही के साथ चल खड़ी हुई।<sup>43</sup>

**अनु.पाठ:** "If it isn't a son this time I'll hide my face in shame. That's right. I'll hide my face— 'but all the signs are for a son.' And Gudar would say, But can't you see it's going to be a girl? It's plain as day! If it's a son I'll shave of my moustache, that's right. I'll shave it off!"

Bhungi said, 'You can shave it off right now, you old cheat. I said it was going to be a son but instead of listening you just went on talking I'll shave it off myself and won't leave even a bristle.

There's my good old woman! It'll grow again. Won't it? After three days take a look, it'll be just the way it was before. And anyway, I'll claim half of whatever you get. I'm telling you now."

Bhungi made a contemptuous gesture with her thumb. Then, handing her three-month-old son to Gudar, started out with the messenger."<sup>44</sup>

‘दाढ़ीजार’ सामान्य सी गाली है जिसे प्रेम और गुस्से दोनों परिणितियों में प्रयोग किया जाता है। ‘बीच खेत होना’ मुहावरा है जिसका अर्थ होता है



‘डंके की चोट पर’ इसका अनुवादक ने भावानुवाद किया है जो उचित है। ‘मुँह न दिखाना’ मुहावरे का समतुल्यता के आधार पर अच्छा अनुवाद हुआ है। ‘मुँछे मुड़ाना’ मुहावरे का शब्दानुवाद हुआ है, लेकिन भाव व्यंजना स्पष्ट एवं सुरक्षित है। ‘अंगूठा दिखाना’ भी मुहावरा है। इसका बहुत ही अच्छा अनुवाद हुआ है— ‘Contemptuous gesture’ इस शब्द से अंगूठा दिखाते हुए जो शरीर की भाव-भंगिमाएँ होती हैं वो सब स्पष्ट हो गया है। पूरे पैराग्राफ में भावानुवाद उभरकर सामने आया है।

कुछ ऐसे भी रिश्ते हैं जो हँसी-मज़ाक से संबंधित हैं, जैसे— ननद-भाभी का, देवर-भाभी का रिश्ता इत्यादि। इन रिश्तों के बीच हुई चुहलबाजियों का अनुवाद करना चुनौतीपूर्ण होता है—

**मूल पाठ:** लल्ला जी, ऐसे क्या देखते हो...?" रमेसर हड़बड़ा गया। जैसे चोरी पकड़ी गई हो। हकलाते हुए बोला, "कुछ नहीं...आगे बोलो...!" "अरे देवर जी, आगे क्या बोल्लूँ...तुम तो बड़े छुपे रुस्तम हो...क्या बात है ? ...इब तो दिक्खे चाच्ची से कहके पारे गले में जेवड़ी (रस्सी) घलवानी ही पड़ेगी। यो लच्छन (लक्षण) ठीक न है।" वह खिलखिला कर हँस पड़ी।<sup>45</sup>

**अनु.पाठ:** "Why do you look at me like that, Lallaji...?' Ramesar was confused as though he had been caught stealing. He stammered: 'No nothing. Please proceed...' 'Arey, devarji. What more shall I say! You are a Chhupa rustam. What is the matter?... I think we will have to ask chaachi to rope you into marriage... These signs aren't any good.' She burst into laughter..."<sup>46</sup>

उक्त उदाहरण के क्षेत्रीय पुट को अंग्रेजी में लाना मुश्किल है। फिर भी अनुवादक ने मूल भाव को बनाए रखने के लिए कुछ रिश्ते-नाते संबंधी संबोधनों को यथावत ले लिया है। ‘छुपा रुस्तम’ मुहावरा है जिसका हिंदी में अर्थ होता है ‘छुपकर काम करने वाला’। इसे अंग्रेजी में ‘Dark horse’ कहते हैं। इस मुहावरा के पीछे एक परंपरा जुड़ी हुई है। रुस्तम एक परसियन योद्धा का नाम है जिसने एक मिसाल कायम की थी। गले में जेवड़ी घलवाने का अर्थ शादी के बंधन में बाँधना। अनुवादक ने मूल के भाव को सही तरीके से व्यक्त किया है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में प्रयुक्त भाषा शिल्प हिंदी साहित्य की प्रचलित भाषा से भिन्न है। इनकी कहानियों में पश्चिमी उत्तर प्रदेश मुख्य रूप से रामपुर, मुरादाबाद, आगरा, मैनपुरी, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, भरतपुर, करोली, ग्वालियर, देहरादून के मैदानी भाग, अंबाला (पूर्वी भाग) तथा पटियाला के पूर्वी भाग में बोली जाने वाली बोली 'कौरवी' का प्रयोग हुआ है। इसका क्षेत्र राजस्थान, हरियाण, ब्रज और पहाड़ी बोलियों के बीच में पड़ता है। जैसे— सज्जा, गाड़डी, बेट्टा, खन्ना, रोट्टी, पाणी इत्यादि। मूल पाठ के स्तर पर अनूदित पाठ कितना संप्रेषणीय है? इसका अध्ययन महत्त्वपूर्ण है।

क्षेत्रीय बोलियों को मानक भाषा के व्याकरण से नहीं बाँधा जा सकता है। बोलियों का अनुवाद करना बहुत ही कठिन है। इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

**मूल पाठ:** "तो बेट्टे हियाँ मत आया कर....म्हारी तो कट जागी इसी तरह। बस, सन्तो की फिकर है।"<sup>47</sup>

**अनु. पाठ:** "Then don't come here, son. We'll spend our life as we've done. I'm only worried about santo. ..."<sup>48</sup>

यह कहानी राजस्थानी पृष्ठभूमि में लिखी गई है। उक्त भाषा पर ब्रज का प्रभाव है, जैसे 'म्हा' ध्वनि का प्रयोग तो है ही साथ ही राजस्थानी की बोली में यह सर्वनाम भी है। क्रियाओं के रूप में भविष्य काल के लिए ग, ल और स रूप पाये जाते हैं। जैसे तुम काँइ करोला (तुम क्या करोगे) मैं बाप कनै जासयूँ (मैं बाप के पास जाऊँगा) 'कह जागा' इसी का रूप है जो उक्त अंश में प्रयुक्त है। चूँकि अंग्रेजी में इस तरह क्षेत्रीयता नहीं है इसलिए अनुवादक ने लक्ष्य भाषा की संरचना के अनुरूप अनुवाद किया है जो उचित है।

मूल के आधार पर अनूदित कहानी | Amma में विशेषण पदबंध को देखा जा सकता है—

**मूल पाठ:** "लम्बे घने बाल, चंचल गहरी काली आँखें साँवला सलोना रूप। भरा—पूरा शरीर जिसकी मोहक गंध ने सुकडू को सम्मोहित कर लिया था।"<sup>49</sup>

अनूदित पाठ: "She had long thick hair, lively dark, deep eyes, beautiful dark complexion, a well-filled body whose smell had entranced Sukru"<sup>50</sup>

मूल वाक्य 'लम्बे घने बाल' विशेषण से शुरू होकर भूतकालिक क्रियापदबंध (कर लिया था) पर खत्म हुआ है। अंग्रेजी भाषा की संरचना और व्याकरण भिन्न होने के कारण वाक्य 'She' सर्वनाम से शुरू होकर संज्ञा 'Sukru' पर खत्म हुआ है। हिंदी के दो वाक्यों को अंग्रेजी में 'कॉमा' के द्वारा एक वाक्य बनाया गया है।

संभावना सूचक वाक्य भी आए हैं जैसे—चाय मिलेगी। जो अंग्रेजी की सहायक क्रिया 'सकना' can से शुरू हुई है— Can I get tea

उपमा शैली से भाषा सौन्दर्य में वृद्धि होती है। जैसे—

"उनका आत्मविश्वास सूखे रेत—सा मुट्ठी से बिखरने लगा था।"<sup>51</sup>

"His confidence began to slip away like dry sand."<sup>52</sup>

"जर्जर शरीर वक्त के थपेड़े खाकर पुराने दरख्त की तरह समय के साथ गलने लगा है।"<sup>53</sup> "Decrepit bodies have wilted under the impact of time and like old trees have begun to waste away"<sup>54</sup>

भाषा का यह सौंदर्य विधान अनुवाद में सौंदर्य की वृद्धि तो करता है, लेकिन अनुवादक के लिए समस्या भी उत्पन्न करता है।

मूल पाठ में भाषा के स्तर पर दो रूप स्पष्टतया दिखाई दे रहे हैं। एक सवर्ण सत्ताधारी वर्ग की भाषा और दूसरा अवर्ण वंचित समाज की भाषा। दोनों के बोलने के अंदाज से उनकी हैसियत का पता चल रहा है—

मूल पाठ: "नमस्ते जी...!" नमस्ते का उत्तर दिये बगैर मिसेज पंत दहाड़ीं। "बात क्या है? इस तरह जंगलियों की तरह दरवाजा क्यों पीट रहे थे?" नये सिरे से हौसला जुटाने के प्रयास में पुरुष ने ढेर सारा थूक निगला, आपके यहाँ कोई सतीश नाम का लड़का रहता है?"

हाँ...रहता है। लेकिन तुम लोगों को क्या काम?"

"जी...जी...वह..."पुरुष हकलाकर रह गया।"<sup>55</sup>

**अनुपाठ:** "Namasteji. . . . "Without replying to his namaste, Mrs. Pant thundered:

‘What’s the matter? Why were you beating at the door like brutes? The man trying to muster courage again swallowed a lot of spittle. ‘Is there a boy named Satish living with you here?’ ...

‘Yes...he lives here. But what work do you have with him?’

‘Ji...ji...he...’ The man just stammered.”<sup>56</sup>

मूल के आधार पर संवाद योजना अनुवाद में हुआ है लेकिन यदि भाषा संरचना और व्याकरणिक आधार पर देखा जाए तो संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, वाक्य, पद में भिन्नता नजर आएगी। जैसे ‘तुम लोगों को क्या काम’ का अनुवाद (But what work do you have with him) यहाँ शब्द का अनुवाद नहीं संदर्भ परक अनुवाद है। अंग्रेजी में बिना Him लगाए अर्थ स्पष्ट नहीं होगा।

वाल्मीकि शब्दों के खेल से भली-भाँति परिचित हैं। शब्दों में अकारांत और इकारांत जुड़ने से किस तरह उसके अर्थ बदल जाते हैं इसका एक अनूठा मिसाल हम देख सकते हैं!

“और वह चौपड़ी. . .ऐसी लुगाइयों का इलाज मैं जाणूँ हूँ।”( अम्मा,पृ.116)

And that Chopree! . . . I know how to handle such women... ( Amma, P.186 )  
मूलपाठ में मात्र ‘चौपड़ी’ शब्द के प्रयोग ने भाषा को जीवंत और चुटिला बना दिया है। जब तक यह शब्द मिसेज चोपड़ा रहा तब तक तो उनकी एक हैसियत रही लेकिन जैसे ही इकारांत चौपड़ी हुई उसमें घृणा और तिरस्कार के भाव भर गये। इस लिए अनुवादक ने चौपड़ी को लिप्यंतरण के माध्यम से Chopree ही रख दिया है।

ऐसा भी नहीं है कि वाल्मीकि ने सिर्फ क्षेत्रीय बोली का ही प्रयोग किया है। पात्र जिस परिवेश का वहाँ की भाषा बोलता है। अर्थात् व्यक्तिगत शैली में निजता का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा है। ‘अंधड़’ कहानी में इंग्लिश मीडियम में पढ़ने वाली पिकी अपने पिता से कहती है— डैड, वी आर ऑल्सो गोइंग विद यू...व्हाई दे आर कॉलिंग यू सुक्कड़। दीज अनकल्चर्ड पीपल डोंट हैव मैनर्स। और बाद में कहती

है— आई थिंक, यू हैव इग्नोर देम।<sup>57</sup> इस तरह के वाक्यांश का प्रयोग पढ़े-लिखे समाज और वातावरण का बच्चों पर पड़ने वाले प्रभाव को दर्शाता है।

कहानियों को प्रवाहमय बनाने तथा अनेकार्थी आशयों को प्रकट करने के लिए अनेक स्थानों पर मुहावरों के छटा की कलात्मक अन्विति की गई है। मुहावरे कहानी की भाषा-सौष्ठव को संवारने में मुख्य भूमिका निभाते हैं। साधारण शब्दावली के माध्यम से की गई अभिव्यक्ति की तुलना में मुहावरेदार भाषा में की गई अभिव्यक्ति जितनी प्रभावशाली तथा व्यंजक होती है, उसका अनुवाद उतना ही कठिन होता है। हर भाषा के मुहावरे तथा लोकोक्तियाँ अपनी मिट्टी की उपज होती हैं। उस पर क्षेत्र विशेष की संस्कृति, रहन-सहन, परंपरा, चिंतन आदि का गहरा प्रभाव रहता है। कई बार तो अनुवादक समानार्थी भाव व्यक्त करने वाले मुहावरे को लक्ष्य भाषा में प्रयोग कर लेता है, लेकिन समस्या तब होती है जब स्रोत भाषा के मुहावरे लक्ष्य भाषा में नहीं मिलते हैं। ऐसी स्थिति में कभी-कभी उनका शब्दानुवाद करना ही उचित होता है। इससे अनूदित कृति में स्थानीयता का भाव भी बना रहता है और मूल का ठीक-ठीक अर्थ भी सम्प्रेषित हो जाता है। मुहावरे के प्रयोग से भाषा में सौंदर्य वृद्धि होती है। प्रेमचंद की विशेषता है कि उनकी कथा साहित्य में बहुतायत मात्रा में मुहावरे और सूक्तियों एवं कहावतों का प्रयोग हुआ है।

मूल मुहावरे	पृ. सं.	अनूदित मुहावरे	पृ.सं.
माथा ठनका	14	Alarmed	113
बाज न आना	18	Can not leave off gambling	116
चाल चलना	19	Next more	118
भाँडा फूटना	19	Game is up	118
उड़ना	20	To turn pale	119
रंग फक हो जाना	20	To turn pale	119
जूती चाटना	49	Boot lickers	99
नाक रगड़ना	49	Become humble	99

काम तमाम होना	50	Task was done	101
हवाई कीले बनाना	63	Kept building such castles in the air	114
बाट जोहना	64	To looking for	114
फाके मस्त रहना	64	To helpless	115
मुँह फेरना	116	Eyes of doom turned away	181
देह जल जाना	108	Aggravating	195
लोहा से लोहा लेना	110	to match iron with iron	197
आँखों तले अँधेरा	110	Vision blurred	197
जी तरसना	143	To pine for	486
मुँह सीधा न होना	143	None would even talk properly	186
काम करते-करते मर जाना	143	One might work to the last drop of blood	186
मुँछे मुड़ाना	152	Shave off moustache	175
मुँह न दिखाना	152	Hide face in shame	175
मिट्टी पार लगाना	164	Given a decent funeral	190
रंग उड़ जाना	170	Turn pale	132
कलेजा धक धक करना	170	Heart began to thump	1932

मुँछे मुड़ाना अर्थात् हार स्वीकार कर लेना। यहाँ शब्दानुवाद हुआ है। इसका प्रस्तावित शब्द 'To admit defeat' हो सकता था, लेकिन भावार्थ के अनुसार शब्दानुवाद ही सटीक है। 'कलेजा धकधक करना' का भी शब्दानुवाद हुआ है, लेकिन भाव ज्यों का त्यों बना हुआ है।

प्रेमचंद की तुलना में वाल्मीकि की कहानियों की भाषा ज्यादा मुहावरेदार है। एक-एक अनुच्छेद में तीन-तीन, चार-चार मुहावरे प्रयोग किये गये हैं। लेकिन इससे भाषा की रवानगी कुंद नहीं पड़ी है। बहुतायत संख्या में मुहावरे का प्रयोग होने के कारण अनुच्छेदाधारित विश्लेषण नहीं किया जा सकता। मूल पाठ के

मुहावरों का अनूदित कृति में क्या अनुवाद किया गया है उसकी सूची नीचे दी जा रही है—

मूल पाठ के मुहावरे और पृष्ठ संख्या		अनूदित पाठ के मुहावरे और पृष्ठ सं.	
गाज गिरना	32	Lightning had struck	54
गोड्डे टूट जाना	33	Worn our knees	56
टूट पड़ना	34	At once swoop	57
हाथ तंग होना	34	Straitened circumstances	58
फाकें पड़ना	35	Forced to go without meal	59
खाली हाथ जाना	68	To go away empty handed	108
खाली हाथ लौट आना	37	Come back empty handed	62
ढुलकी की चाल चलना	33	Slow rolling gait	56
चूल्हा जलना	66	Food use to be cook	105
पेट की आग बुझाना	66	To quench the fire of hunger	106
ठगा—सा रह जाना	70	To feel cheated	112
हाड़तोड़ मेहनत करना	70	Hard labour	112
पाँव भारी होना	71	To be pregnant	114
उड़ती खबर	71	Quick-spreading news	115
चौकन्ना होना	71	Became alert	115
बवंडर उठना	72	To raise a storm	116
अपने काम से काम रखना	74	Mind your own business	118
भेद खुलना	73	The secret come out	117
खुशी से आँखें छलछला उठना	74	Sparkle with tears of joy	119
थके बैल की तरह लौट आना	75	Return a exhausted bullock	120
कुछ न सूझना	75	Nothing else struck	121

सुध-बुध खोना	77	Forgetting everything	123
अपलक निहारना	77	Gaze at unblinkingly	123
बाट जोहना	77	To wait for	123
नजरे गड़ाए रहना	77	Gaze riveted on the way	124
वजूद को छीन लेना	77	Robbed entire existence	124
आदमी बनना	79	Become a man	127
पाँव जमीन पर न पड़ना	82	Feet don't seem to touch the ground	131
मन में गाँठ पड़ना	82	A Knot in the mind	132
गदगद होना	83	Immensely delight	133
हौसला देना	85	To be console	136
नाक भौं सिकोड़ना	86	Raise eye brows and turn nose	137
हाथापाई की नौबत आना	87	To come to blows	139
सच पर झूठ का मुलम्मा चढ़ाना	87	To gild truth with lies	140
कन्नी काटना	90	To cut off ties	144
अँधेरे मुँह	94	Very early in the morning	151
छू-मंतर होना	94	To Vanish	154
पलक झपकते ही	98	In the blinking of an eye	156
हक्का-बक्का होना	99	Taken aback	158
हूक उठना	99	Feel a stab of pain	158
उँगलियों पर नाचना	100	Dance to tune	160
आँखों पर पट्टी बाँधना	100	Blindfolded	160
लहू-लुहान करना	100	Black and blue	160
दुखती रग को छूना	101	To touch a raw nerve	161
रास्ते पर आना	103	Make a clean confession	165



मुँह चिढ़ाना	104	To mocking	166
मातम छा जाना	104	The gloom of mourning	166
बगले झाँकना	105	Eyes in embarrassment	168
हथियार डाल देना	109	To capitulate	174
चेहरे पर हवाइयाँ उड़ना	111	Face to turn pale	177
पसीने छूटना	111	Broke into sweat	177
घुटने टेकना	111	To surrender	177
समय पंख लगाकर उड़ने लगा	114	Time had started flying on its wings	183
भौचक रह जाना	116	Dumbfounded	185
पूरा मोहल्ला सिर पर उठा लेना	116	Created an uproarious scene in the entire mohalla	186
घर में कुहराम मचाना	117	Veritable storm in the house	186
हाथ डालना	117	Attempt to molest	187
खून खौल उठना	118	Blood would boil	188
रोज-रोज का किटकिट (किचकिच)	118	Harrowing routine everyday	189
दिन पलटना	119	The time changing for the better	190
आँखों में सूअर का बाल होना	119	A pig's hair in eyes	190
पारा चढ़ना	121	Lost temper	193
भीगी बिल्ली बन जाना	124	Become timid	198
हाड़-तोड़ मेहनत करना	126	Back-breaking labour	202
मन की भड़ास निकालना	127	To give vent to one's	203
घिघ्घी बँध जाना	127	Render speechless	203
अकल मारी जाना	129	To lose one's wits	205
पचड़े में पड़ना	130	To get embroiled	207
रंग बदल जाना	131	Attitude change	208

होश उड़ना	39	Non-plussed	65
आँखें तरेरना	40	In glaring at	65
फटी कू चक्कर काटना	40	In dire straits	66
मूतने भी न आना	40	Wouldn't come to piss	66
एक-एक क्षण भारी पड़ना	42	Every moment was becoming burdensome	68
खलबली मचना	42	Turmoil in	76
कान फूँकना	42	To tutored	69
भूचाल आना	45	An earthquake	75
टके सा जवाब देना	42	No for an answer	69
एक दूसरे का मुँह ताकना	40	Stared at each other blankly	65
दिल धड़कना	45	Heart beat faster	75
रँगे हाथों पकड़ना	48	To caught red-handed	79
आसमान टूट पड़ना	49	The sky crashed down	80
न घर का न घाट का	49	Neither here nor there	80
महँगा पड़ना	70	Cost great deal	112
पीठ थपथपाना	52	Pat on back	84
ढेर होना	58	Died then	84
कान में तेल डालना	58	Put oil in ears	94
आँखों से चिनगारी झरना	59	Eyes began to emit sparks	94
औकात में रहना	59	Stay within bounds	94
सिर कुचलना	59	Heads to be crushed underfoot	94
समूचे वातावरण को साँप सूँघ गया	61	Entire atmosphere had gone dead	98
आँखों में शूल-सा गड़ना	64	Hurting on eyes	102
आँखों में तारे नाचना	65	Stars began to dance before eyes	104

फटी-फटी आँखों से देखना	65	Kept staring at	104
------------------------	----	-----------------	-----

उपरोक्त मुहावरों में बहुत से मुहावरे ऐसे हैं जिनका बिना अर्थ पकड़े ही शब्दानुवाद कर दिया गया है। शब्दानुवाद का सहारा तब लिया जाता है जब उस मुहावरे के समतुल्य कोई मुहावरा न मिले। शब्दानुवाद से सही अर्थ की व्यंजना नहीं हो रही है जबकि मुहावरे की कसौटी व्यंजनात्मकता ही होती है। व्यंजनात्मक अर्थ की पकड़ न होने से अनूदित कृति में मुहावरे के स्थान पर अर्थ का अनर्थ हो गया है। इन मुहावरों का मूल पाठ, अनूदित पाठ और प्रस्तावित पाठ नीचे रखा जा रहा है।

**मूल पाठ—** कान में तेल डालना— अर्थात् बातों पर ध्यान न देना

**अनूदित पाठ—** Put oil in ears

**प्रस्तावित पाठ—** To refuse to listen

**मूल पाठ—** थके बैल की तरह लौट आना— उम्मीद खत्म हो जाना या उम्मीदों पर पानी फिरना

**अनूदित पाठ—** Return a exhausted to bullock

**प्रस्तावित पाठ—** Hopes to be shattered

To throw cold water on one's hopes

**मूल पाठ—** आदमी बनना— सभ्य सुशिक्षित बनना

**अनूदित पाठ—** Become a man

**प्रस्तावित पाठ —** To teach good manners or etiquettes

**मूल पाठ—** पाँव जमीन पर न पड़ना— अत्यधिक खुश होना

**अनूदित पाठ—** Feel don't seem to touch the ground

**प्रस्तावित पाठ—** To be beside oneself with delight

**मूल पाठ—** नाक भौं सिकोड़ना— ना पसंद करना

**अनूदित पाठ—** Raise eyebrows and turn noises

**प्रस्तावित पाठ—** To sign of disapproval to

मूल पाठ— आँखों पर पट्टी बाँधना— सच्चाई को न जानना

अनूदित पाठ— Blindfolded

प्रस्तावित पाठ— To be blind to a reality

उसके हृदय में बवंडर उठने लगा। यहाँ सुदीप की स्थिति असमंजस वाली है कि 'उसके पिता जी झूठ बोल रहे हैं या मास्टर जी झूठ बोल रहे हैं'। इस भाव को समझकर ही अनुवादक को अनुवाद करना चाहिए था। यहाँ भी उन्होंने शब्दानुवाद Storms began to rage in his heart किया है जबकि उचित अनुवाद होगा To create confusion

देसी रंगत और क्षेत्रीयता को बनाए रखने के लिए दोनों लेखकों ने बहुत से देशज शब्दों का भी प्रयोग किया है। उसकी भी एक सूची यहाँ दी जा रही है। प्रेमचंद द्वारा प्रयोग शब्द—

देशज शब्द	पृ. सं.	अनूदित शब्द	पृ.सं.
अंगोछे	66	Angochi	117
अचकन	54	Dhoti	105
साफा	54	Kurta	105
दुपट्टा	54	Dupatta	105
शामियाना	47	Shamiana	97
परदा	66	Purda	116
पंडितार्ईबाना	113	Pandit regalia	201
चार खँची—भूसा	110	A little pile of hay	197
भूसी—चोकर	112	Bran and husks	199
लीपना	109	Plaster	197
गोबर	109	Cowdung	197
झाडू	109	Broom	197
उचटना	110	Glanced off	197
झौवा	113	Basket	200
भूसा	113	Hay	200
सांझ	109	Evening	197
कुप्पी	142	Lamp	485
इफरात	152	So much	176

मूँड़न	153	Tonsure Ceremony	177
चूड़े	153	Bracelets	177
कण्ठा	153	Necklace	177
तोड़े	153	Wrist bands	177
इक्का	169	Ekka	131
बस्तियाँ	57	Bastis	108
लाठी	50	Lathis	101
सनातन धर्म	58	Sanatan Dharma	109

‘अचकन’ और ‘साफा’ का अनुवाद सही नहीं हुआ है। ‘अचकन’ एक प्रकार का बन्द गले का लम्बा कोट होता है और साफा ‘पगड़ी’ को कहा जाता है—

**प्रस्तावित शब्द:** अचकन— Long Coat साफा— Turban

अनुवादक ने hinduism लिखकर सनातन धर्म को स्पष्ट किया है।

कुछ भारतीय खाद्य सामग्री के नाम हैं जिसे अनुवाद में नहीं लाया जा सकता है। इसलिए लिप्यंतरण का सहारा लेना पड़ा—

मूल शब्द	पृ. सं.	अनूदित शब्द	पृ.सं.
मोहनभोग	50	Mohanbhog	100
घी	50	Ghee	100
दाल	50	Dal	100
भांग	50	Bhang	100
कमल गट्टे	68	Kamalgatta	118
महुआ	108	Mahwa	195

## सम्बोधन वाचक शब्द—

बहूजी	153	Mistress	177	साहू	142	Shahu	486
महाराज	109	Mahraj	197	अम्मा	62	Amma	113
ठाकुरजी	109	Lord	196	सेठजी	55	Sethji	106
जजमान	109	Clients	196	मुल्ला	58	Mullah	
सरकार	54	Sarkar	104	पंडितजी	50	Pandjit ji	100
बाबूजी	60	Babuji	112	सेवक	47	Sevak	97
अम्मी	60	Ammi	113	भंगिन	154	Untouchable	177
चमरौना	114	Tanner	202	मेहतरानियाँ	169	Sweeper's women	131
लौंडिया	143	Maid servent	486				

भंगिन के लिए 'untouchable' शब्द का प्रयोग किया गया है। अनुवाद से स्पष्ट नहीं हो रहा है कि वह स्त्री है या पुरुष जबकि मूल पाठ में स्पष्ट है कि वह औरत है।

**मूल पाठ:** साम, दाम, दण्ड, भेद— पृ.46

**अनु.पाठ:** Sam, Dam, Dand, and Bhed, p.96

मनुवादियों द्वारा बनाई गई इन चार नीतियों का किसी भी व्यक्ति को दोषी ठहराने, उसे सजा देने और अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए औजार की तरह प्रयोग किया जाता है। इसलिए इन शब्दों का अनुवाद करना बहुत ही मुश्किल है, क्योंकि विषमभाषी समाज में इसके समतुल्य कोई शब्द नहीं है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि द्वारा प्रयोग देशज शब्द —

देशज शब्द		अनूदित शब्द		देशज शब्द		अनूदित शब्द	
लौंडिया	13	Girl	44	माई—बाप	60	Mai-baap	97

भभक	45	Flare	74	जी जुड़ाता	64	Source of joy	102
थमाना	40	Handed	66	गाड़ना	65	Bury	104
भीतर	41	In	68	भादोमास	65	Month of Bhadon	105
मैले कुचैले	48	Shabbily dressed	79	साँझ	66	Evening	106
ठिटुरन	48	Shivering	78	पिछवाड़े	66	Backyard	106
पोंछना	49	Wipe	80	गिरेहण	67	Elipse	107
धरा है (रखा है)	49	Use	80	अकिल	67	Intelligence	107
लम्बर	50	Number	81	कोठरी	68	Godwon	109
लपेटना	53	Cover	86	गुड़गुड़ाना	73	Smoking	118
तुड़ा-मुड़ा	87	Twisted	87	लच्छन (लक्षण)	75	Signs	121
मास्साहब	55	Teacher	89	अटकना	77	gaze fasten	123
पंडत	57	Pandit	92	खदबदाते	97	Simmering	155
ब्याह	58	Marry	93	सुस्ताना	98	Rest	157
निहारना	77	Gaze	123	काढ़ना	99	Out of	158
बाट जोहना	77	To wait for		बिलख पड़ना	99	Burst into sof	159
समूचा	77	Entire	124	बटोरना	105	Keeping	168
जिनगी	79	Life	127	दूसना	113	Thrus	181

फेर	80	Then	129	मुँह बाए सुनती	115	Merely listen	184
महतारी	81	Mother	129	दनदनाते हुए	116	Stormed	186
उम्मेद	81	Hope	129	घोघा भाई	117	Dumb doll	188
डॉक्टर	81	Doctor	129	लैन पे	118	Foot steps	189
लीला	81	Blue	129	लछमी	118	Lakshmi	189
लोट	81	Lote	129	सरम	122	Ashemed	194
लुगाई	81	Wife	130	पथी	123	Made	196
एक धेल्ला	81	A pice	130	दिहाड़ी	123	Daily wage	197
बिगार (बेगार)	81	Bigaar	130	डिबरियाँ	123	Tiny Lamps	197
बेद मंतर	81	Baid Mantras	130	दड़बेनुमा झोपड़ी		Fowl-houses cottage	197
टोकना	81	Interrupt	131	लट्ट	124	Lathis	198
बिदवान	82	Learned man	133	कुलबुलाते	126	Restless	202
लौंघा	83	Jumped	133	टेम	126	Time	202
पसारकर	83	Spread	133	धकियाना	128	Push	204
बाप	87	Father	133	ठेलन	129	Push	206
उघाड़ना	89	Throw	142	कौर	129	Eat a little	206
आपीसर	91	Aapisar	140	बामन	129	Baaman	206



ताकता	92	Staring	147	हाँड़ी	43	Pot	223
लाठी	94	Lathi	150	महतारी	81	Mother	129
हुकुम	94	Order	151	बगीचा	97	Orchard	155
सानी	94	Fodder	151	मिट्टी का ढेला	96	Cloud of earth	154
उतरन	96	Discarded clothes	153	दुपहर	97	Midday	155

देशज शब्दों में कुछेक शब्द हैं जिनका अनुवाद किया जा सकता है जैसे पंडित का Pandit आपीसर का Officer मास्साहब का Teacher इनका लिप्यंतरण करना ज़्यादा उचित नहीं लग रहा है। ऐसा भी नहीं है कि कोई व्यंजनात्मकता छिपी हुई है। अंग्रेज़ी में इनका अनुवाद होना ही अधिक संप्रेषणीय था।

एक शब्द है, बल्कि घरेलू चीज है 'हाँड़ी' इसके लिए अनुवादक ने Pot समतुल्य शब्द दिया है जो कि सही नहीं है। Pot समूह वाचक शब्द है जिसमें पीतल, स्टील, ताँवा, काँसा, सोने-चाँदी किसी भी धातु का बर्तन हो सकता है। हाँड़ी मिट्टी की बनी होती है। इसलिए हाँड़ी के लिए उपयुक्त अंग्रेज़ी पर्याय Earthen pot होगा।

### घरेलू और व्यवहारोपयोगी चीज़ें (शब्द)

देशज शब्द		अनूदित शब्द		देशज शब्द		अनूदित शब्द	
गिलास	46	Glass	75	गेहूँ	66	Wheat	105
छूरा	46	Knife	75	चना	66	Gram	105
हल्दी	43	Turmeric	71	मक्का	66	Maize	105
लहसून	45	Garlic	73	छाले	66	Pulses	105
घी	45	Ghee	73	नमक	66	Salt	105

बताशे	45	Batashas	73	टोकरी	66	Basket	105
रोटी	48	Chapatti	78	थाल	66	Thaal	106
चारपाई	52	Cot	84	लालटेन	67	Lantern	108
थैला	52	Bag	84	पीतल के कटोरे	67	Brass bowl	108
चटाई	52	Mat	84	रोटी-गुड़	68	Roti-gur	108
चादर	52	Chadar	84	बोरा	70	Sack	113
रजाई	52	Quilt	84	मोढ़ा	73	Muhra	118
भट्टी	54	Furnace	87	हुका	73	Hookah	118
झाड़ू	55	Broom	87	ढिबरी	76	Lamp	122
आटा	58	Flour	92	चूल्हा	76	Hearth	122
भाँग	58	Bhang	94	चटनी	76	Red Chilli	122
हल का फाल	62	Ploughshare	100	कोल्हू	76	Kolhu	122
उपले	62	Cow dung Cakes	99	बीड़ी	79	Bidi	126
अलमारी	83	Almirah	137	खाट	99	Bed	159
चारपाई	113	Charpai	181	कनस्तर	114	Tin Trunk	188
ढोलक हारमोनियम	118	Dholak Harmonium	188	गारे मिट्टी	127	Mud and earthen	203
धोती	124	Dhoti	198	रोटी	128	Roti	205
लोहा	125	Iron	200	ढिबरी	129	Small lamp	206
सीमेंट	125	Cement	200	साँचा	131	Mould	208
लकड़ी	125	Wood	200	डोल	98	Bucket	157
रेत	125	Sand	200				

उपरोक्त घरेलू एवं व्यवहारोपयोगी शब्दें— Batashas, Roti, gur, Thaal, Charpai, Dholak- Harmonium, Dhoti का अनुवाद नहीं हुआ है। इनका अनुवाद न होने के मुख्य दो कारण हैं— एक तो इससे ग्रामीण सांस्कृतिक और सामाजिक

भाव बना रहेगा दूसरी नामवाची संज्ञाओं को अनूदित नहीं किया जाता है। इसका नुकसान यह है कि विषमभाषी समाज के लिए ऐसे शब्द मुश्किलें खड़ी करते हैं लेकिन एक फायदा यह है कि अपरिचित पाठकों के लिए ये शब्द उनके ज्ञान का हिस्सा भी बनते हैं।

मूल पाठ		अनूदित पाठ		मूल पाठ		अनूदित पाठ	
बारात	11	Baraat	41	पंचायत	59	Panchayat	94
बराती	13	Baraati	50	रामनामी	59	Ramnami	95
बिदाई	18	Vidai	51	पंचपरमेश्वर	59	Panchpareswar	
चौपाल	17	Chaupal	50	हुजूर	61	Huzoor	97
सफाई कर्मचारी	14	Safai Karmchari	46	राक्षस	62	Rashasa	97
चक्रव्यूह	13	Chakravyuha	43	गोहत्या	62	Gohatya	101
कलयुग	12	Kaliyug		कच्चा-पक्का	63	Kuccha-Pucca	101
बलिस्टर	18	Balister	51	जिन	68	Jinn	109
बस्ती	39	Basti	64	आषाढ़	70	Ashaad	113
मोहल्ले	42	Muhallas	69	पल्लू	72	Pallu	116
आँचल	45	Anchal	74	कुलवंती बहू	74	Kulwanti bahu	119
राखी	49	Rakhi	80	माघ	76	Magh	122
कबाड़ी	54	Kabari	87	खेस	76	Khes	122
चौकीदार	56	Chawkidar	90	दुशाले	76	Dushala	123
ठवेली	57	Haveli	91	पान	79	Paan	126
सरपंच	59	Sarpanch	94	बरामदा	79	Verandah	127
ठेकेदार	118	Thekedar	189	मास्टर	79	Master	127
जमादारनी	116	Jamadaarni	185	ठिकाना	114	Thikana	184
तगारी	124	Tagaari	198				

घर परिवार एवं सगे संबंधियों के बीच प्रयुक्त होने वाले शब्द और संबोधन—

मूल पाठ		अनूदित पाठ		मूल पाठ		अनूदित पाठ	
	पृ. सं.		पृ. सं.		पृ. सं.		पृ. सं.
सास—ससुर	113	Mother and Father-in-laws	180	मामा जी	42	Mamaji	169
ननद—ससुर	113	Sister-in-law	11	बहू जी	68	Bahuji	
अरे! देवर जी	75	Arey devarji	121	चाच्ची		Chachchi	115
जेठजी	119	Jethji	190	माँ	72	Ma	116
भाभी	113	Bhabhi	180	पापा जी	107	Bhapaji	170
देवर	113	Younger brother	180	भैन जी	49	Bhainji	80
अम्मा जी	119	Ammaji	190	भाब्बी	67	Bhabbi	107
बेट्टे	122	Bette	194	लाल्ला जी	75	Lallaji	120
भाई जी	140	Bhaiji	166				

भारतीय समाज में जो रिश्तेदारी संबंध है, वह अन्य विषम भाषी समाज की अपेक्षा थोड़ा जटिल है। व्यक्ति जिस भाषा—भाषी प्रदेश का होता है, उसे लगता है कि नाते—रिश्ते वाले शब्द सब जगह एक ही जैसे हैं लेकिन वास्तविकता कुछ और है। हिंदी में दादा—दादी, नाना—नानी, ननद, देवरानी—जेठानी अपना अलग अस्तित्व रखते हैं लेकिन अंग्रेज़ी में क्रमशः Grandfather, Grandmother, Sister-in-law सिर्फ एक—एक शब्द है। स्वयं भारतीय भाषाओं में भी यह भिन्नता देखने को मिलती है। हिंदी प्रदेश के कुछ हिस्सों में माँ के पिता के लिए नाना और पिता के, पिता के लिए दादा स्वतंत्र शब्द है, जबकि मराठी में दोनों के लिए एक ही शब्द बावा या बाबा है। इसी तरह पूर्वी उत्तर प्रदेश में बेटा और छोटी बहन को 'बहिनी' कहा जाता है जबकि बिहार के भोजपुरी भाषी क्षेत्र में बेटा को 'बबुनी' बोला जाता है। मराठी के कुछ खास अंचल में बड़े भाई की पत्नी को 'बहिनी' और छोटे भाई की पत्नी को भाभी बोला जाता है। इसलिए अनुवादक के लिए लिप्यंतरण करके फुट नोट देने का रास्ता ही बचता है। अनुवादक ने इस अनुवाद में शब्द—सूची का सहारा लिया है।

समाज में प्रयुक्त होने वाले संबोधन –

मूल पाठ	पृ.सं.	अनूदित पाठ	पृ.सं.	मूल पाठ	पृ.सं.	अनूदित पाठ	पृ.सं.
प्रधान जी	9	Pradhanji	37	जी	68	Ji	109
मुखिया जी	57	Mukhiyaji	91	मुंशी जी	104	Munshiji	166
चौधराइन	64	Chaudhrain	102	मिस्त्री जी	38	Mistri ji	215
पंडे-पुजारी	64	Pandas and Pujari	102	ठेकेदार जी	38	Thekedarji	215
मुल्ला-मौलवी	64	Mullas and Maulvi		गुरु जी	108	Guruji	172
मास्टर जी	79	Masterji	127	डॉक्टर साहब	40	Doctor sahib	218
बाबू जी	128	Babuji	204	बाबा साहेब और बापू	45	Babasaheb and Bapu	74

जाति सूचक शब्द और अपशब्द-

मूल पाठ	पृ.सं.	अनूदित पाठ	पृ.सं.	मूल पाठ	पृ.सं.	अनूदित पाठ	पृ.सं.
बनिया –बामन	41	Baniya-Baaman	67	हरामजादों	59	Bastards	94
लला	36	Lala	60	साले नीच	60	Rascals low	96
चमार	36	Chamar	212	कमीना	57	Rascal	92
बल्हार	36	Balhar	212	साले	128	Saale	204
भंगी	50	Bhangi	82	भंगी चमार	105	Sweepers	
डोम	51	Dom	83	अबे चूहड़े के	81	Abe, Chuhre ke	131
कंजड़	14	Kangars	46	अबे! कालिए	82	Abe! Kaaliye	131
चूहड़ा-चमार	53	Chuhara-Chamar	85	अबे!	82	Abe	131
नाई	59	Barbers	95	छिनाल	116	Slut	185
धोबी	59	Whasherman	95	नासपिट्टी	116	Stupid	186
कहार	59	Whasher men	95	भंगीपन	55	Bhangipan	89
राजपूत	59	Rajput	95	भंगी-बस्ती	67	Bhangi Basti	107

स्थानीय शब्द—

मूल पाठ	पृ.सं.	अनूदितपाठ	पृ.सं.	मूल पाठ	पृ.सं.	अनूदित पाठ	पृ.सं.
भतेरा	49	Alot	80	साददी	49	Marriage	80
ईब	49	Now	80	गिया	49	Left	80
जेवड़ी	75	Rope	121	घलवानी	75	Into	121
पारे	75	Your	121	पारे	75	Your	121
जातक	79	Child	127	थारी	79	Your	127
ठाड्डे (बड़े)	80	Much figger	129	घोरे (पास)	80	Has	129
दूणना	88	Roast	141	धीरे (पास)	118	Near	189
करके (जरा)	120	Do spare	191	जोहड़	36	Pand	212

स्थानीय शब्दों के भावार्थ को अनुवादक ने संदर्भपरक अनुवाद किया है। 'धीरे' और 'धीरे' दोनों का अर्थ 'पास' से है। जहाँ पर कुछ पास रखने का संदर्भ है वहाँ has और जहाँ बैठने का मामला है वहाँ पर Near अनुवाद हुआ है जो सटीक है। 'घलवानी' का अर्थ है गले में रस्सी या जेवड़ी डलवाना अर्थात् शादी के बंधन में बाँधना। यहाँ अनुवादक को अनुवाद करते समय ज़्यादा परेशानी नहीं हुई है। अनुवादक सहज रूप से स्थानीय शब्दों का अर्थ अन्तर भाषियों तक पहुँचाने में सफल हुआ है।

पूजा पाठ और आस्था संबंधी शब्द—

मूल पाठ	पृ.सं.	अनूदित पाठ	पृ.सं.	मूल पाठ	पृ.सं.	अनूदित पाठ	पृ.सं.
जोत	45	Jot	74	घी	45	Ghee	74
बताशे	45	Batashas	74	टीका	59	Tika	95
गायत्री मंत्र	61	Gayatri mantra	98	शंख	67	Conch	107
शिवालय	76	Shiva temple	122	साक्षात नंदनी	57	Veritable Nandini	92
माई मदारन	39	Mai Madaran	65	शास्त्र	66	Shastras	105
गणपति	116	Ganapati	186	श्लोक	11	Shloka	41

संस्कार	15	Sanskaras	47	पूजा-पाठ	10	Puja	39
बेद-मंतर	81	Baid Mantras	130				

पूजा-पाठ एवं आस्था संबंधी शब्दों का अनुवाद करना बहुत ही चुनौतीपूर्ण है एक-एक शब्द अपने अंदर संस्कृति और समाज से सम्पृक्त व्यंजनात्मक अर्थ रखते हैं। यहाँ गाय के लिए 'साक्षात नंदनी' का प्रयोग हुआ जो भारतीय समाज में हिंदुओं के लिए आस्था का प्रतीक है। इसे अनुवाद में लाना कठिन है। 'माई मदारन' दलित समाज की कुल देवी हैं। ऐसे आस्थापरक और धार्मिक शब्दों के लिए पाद-टिप्पणी ही सटीक होती है।

मूलपाठ से अनूदित कुछ ध्वन्यात्मक शब्दा-

मूल पाठ	पृ.सं.	अनूदित पाठ	पृ.सं.	मूल पाठ	पृ.सं.	अनूदित पाठ	पृ.सं.
चीं-चाहट	88	Noise	141	तड़तड़	121	Resounding	193
भिनभिनाहट	88	Buzzing	141	चिट-चित	123	Crackling sound	197
सरसराहट	96	Stirred	154	भाँय-भाँय	123	Utterly lonely and weird	197
छपाक	98	Splash	157	झिन-झिन	126	Intermittent sounds	201
गटगट	98	Gurgling	157	खंच-खंच	128	Intermittently	205
फुफकार	98	Hiss	160	गुड़-गुड़	16	Rumble	48
छी: छी:	115	Ashamed	184	चप्प-चप्प		Audible sound	64
सड़ाक-सड़ाक	116	Relentlessly	185	चीं-चीं	39	Squealing	64
पें-पें	118	Playing the pipe	188	घर्र-घर्र	47	Grwol	77
कित कित	118	Harrowing	189	खटर-पटर	52	Noise	85
सर्र	53	Whize	86	उमड़-घुमड़	65	Rumble	103
साँ-साँय	69	Quaking voice	110	धम्म	85	Thud	136

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे शब्दों का भी अनुवाद हुआ है जो हिंदी, अंग्रेज़ी और देशज मिश्रत हैं। जैसे- लीले (नीले) लोट (नोट) Blue lote पंदरा कोस (Fifty kos), लम्बी

लाठी (Stout Lathi) कच्ची ईंटें (Cucchchi bricks) पक्का मकान (Pucca house). Blue notes, stout tall lathi अनुवाद हो सकता था लम्बी का अनुवाद छोड़ दिया गया है। kos का टिप्पणी दिया गया है क्योंकि इसका कोई सटीक पर्याय अंग्रेज़ी में नहीं है। एक कोस लगभग 3 किमी. का होता है।

उपरोक्त विवेचन निश्चित रूप से मूल एवं अनूदित कहानियों के भाषागत शिल्प को दर्शाता है। भाषा शिल्प के लिए जितने भी उपादान होने चाहिए वह मूल कृति के साथ-साथ अनूदित कृति में भी विद्यमान हैं। यह बात अलग है कि भाषाई बंधन होने के कारण मूल जैसी हू-ब-हू अभिव्यक्ति अनुवाद में नहीं हो सकती है। फिर भी अनुवादक ने प्रत्येक स्तर पर मूल पाठ के भाव को सुरक्षित रखने का प्रयास किया है जिसका उदाहरण उपरोक्त विवरण है।



## संदर्भ-सूची

- 1 प्रारंभिक अनुवाद विज्ञान सिद्धांत और प्रयोग- गुप्त, पृ.16
- 2 अनुवाद: अंक 100-101 जुलाई-दिसम्बर 1999, पृ. 271
- 3 वही. पृ. 271
- 4 प्रारंभिक अनुवाद विज्ञान सिद्धांत और प्रयोग- गुप्त, पृ.19
- 5 वही. पृ. वही.
- 6 वही. पृ. वही.
- 7 Amma and Other Stories- Introduction, P.32
- 8 कहानी 'दोनों तरफ से', (घासवाली कहानी संग्रह), पृ.13
- 9 From Both Side – Translated by David Rubin, Premchand Deliverance and other stories, P.112
- 10 दोनों तरफ से कहानी, पृ.115
- 11 From Both Side, P.114
- 12 दोनों तरफ से कहानी, पृ.118
- 13 From Both Side, P.116-17
- 14 सिर्फ एक आवाज, पृ.27
- 15 वही, पृ.30
- 16 The Lone Voice – Translated by Madan Gopal, The Best of Premchand A collection of 50 Short Stories, Volume 1, 1997, P.29-30
- 17 सिर्फ एक आवाज, पृ.32
- 18 कजाकी, पृ.61-62
- 19 Kazhaki– Translated by Sudha Narasimhachar, Selected Stories of Munshi Premchand, P.113
- 20 कजाकी, पृ.69
- 21 Kazhaki, P.119
- 22 सद्गति, पृ.109
- 23 Deliverance translated by David Rubin (The World of Premchand), P.197
- 24 सद्गति, पृ.111-12

- 25 Deliverance, P.199
- 26 सदगति, पृ.115
- 27 Deliverance, P.203
- 28 Deliverance, P.203
- 29 सलाम (कहानी), पृ. 13
- 30 Salaam, p. 44
- 31 बैल की खाल, (कहानी), पृ. 33
- 32 The Hide of an Ox, p. 56
- 33 कुचक्र (कहानी), पृ. 104
- 34 The Web of Intrigue, p. 166
- 35 पच्चीस चौका डेढ़ सौ (कहानी), पृ. 82
- 36 Twenty Five four are a Hundred and Fifty, p. 131
- 37 अम्मा (कहानी), पृ. 116
- 38 Amma, p. 186
- 39 ठाकुर का कुआँ, पृ.142
- 40 The Thakur's Well – Translated by David Rubin, p.72
- 41 बिरम की बहू– ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.73
- 42 Biram's Wife, Amma and Other Stories– Translated by Naresh K. Jain, p.118
- 43 दूध का दाम (घासवाली संग्रह), पृ.152–153
- 44 The price of milk – Translated by David Rubin, The world of Premchand, p.175-176
- 45 बिरम की बहू पृ. 75
- 46 Biram's Wife, p. 120-121
- 47 शवयात्रा (घुसपैठिये संग्रह), पृ. 37
- 48 Shavayatra, p.214
- 49 अम्मा पृ. 113
- 50 ‘Amma’ Amma and Other Stories, p.181
- 51 अंधड़, पृ. 89

- 52 Storm, p.142
- 53 अम्मा, पृ. 113
- 54 Amma, p.180
- 55 कहाँ जाए सतीश, पृ. 48-49
- 56 Where can Satish go, p.79
- 57 अंधड़ पृ. 91-93

## छठवाँ अध्यायः

### संकलित कहानियों का सामाजिक—सांस्कृतिक संबंध एवं अन्तरण की समस्या

प्रत्येक देश, समाज, सम्प्रदाय, जाति की अपनी—अपनी संस्कृति होती है। एक देश की संस्कृति को दूसरे देश में पहुँचाने के लिए अनुवाद की अपनी प्रतिबद्धता है। संस्कृति अन्तरण में अनुवाद की अहम भूमिका होती है। मानव जीवन में सम्पूर्ण गतिविधियों का विकासात्मक संचालन जिस मानवीय बौद्धिकता, स्वाभाविक प्रक्रिया तथा बाह्य व्यवस्था द्वारा होता है उसे ही संस्कृति कहा जाता है। संस्कृति मानव जीवन के आचार—विचार, रहन—सहन, खान—पान, वेश—भूषा का परिमार्जित रूप है। विभिन्न सभ्यताओं का उत्कर्ष—अपकर्ष संस्कृति द्वारा मापी जाती है। हम कह सकते हैं कि मनुष्य की वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक आर्थिक, राजनैतिक समस्त क्षेत्रों की क्रियाशीलता ही संस्कृति है।

किसी पूर्ववर्ती युग या दूसरे देश, समाज की संस्कृति के अध्ययन के लिए साहित्य और अनुवाद सबसे बड़ा साधन है। बोआम के अनुसार, 'संस्कृति एक ऐसी मानसिक तथा शारीरिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को कहा जा सकता है, जो एक सामाजिक समुदाय के घटक व्यक्तियों के व्यवहार को विश्लेषित करती है।'<sup>1</sup> अर्थात् सांस्कृतिक शब्दावलियाँ किसी विशेष समुदाय, वर्ग—विशेष की क्रिया—प्रतिक्रिया को दर्शाते हैं जिनके आधार पर यह निर्धारित होता है, कि अमुक समुदाय की संस्कृति किसी दूसरे समुदाय की संस्कृति से कैसे भिन्न है। यशदेव शैल्य संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहते हैं, "सामाजिक अनुभव को ही संस्कृति कहते हैं व्यक्तिगत अनुभव को नहीं। व्यक्ति अनुभव सामाजिक अनुभव के दर्पण के रूप में ही संस्कृति कहलाती है।"<sup>2</sup> स्पष्ट है कि मनुष्य अपने क्रिया—कलाप आचार—विचार के साथ जिस परिवेश में जीता है उसे ही संस्कृति कही जाती है।

भारतीय समाज में अलग—अलग आयोजनों पर अलग—अलग तौर—तरीके से संस्कृतियों का निर्वाह किया जाता है। घर—परिवार में जब

कोई कार्य—प्रयोजन होता है तो घर की महिलाएँ अपने से उम्रदराज लोगों को, महिलाओं को आदर—सम्मान देती हैं। इन आदर—सम्मानों को देने का या लेने का तौर—तरीका भिन्न—भिन्न जगहों पर भिन्न—भिन्न है। कहीं गले लगकर, कहीं पैर छूकर, कहीं हाथ जोड़कर अभिवादन करके आदि सम्मान देने—लेने के विभिन्न रूप हैं। ऐसी ही एक परंपरा का निर्वाह प्रेमचंद की कहानी 'दोनों तरफ से' में दर्शनीय है—

मूल पाठ: "कोलेसरी लोगों को गले लगा—लगाकर रुखसत करती थी। इनमें एक औरत बहुत वृद्ध थी। जब वह गले मिलने को बढ़ी तो कोलेसरी ने झुककर उसके पैरों को अपने आँचल से छुआ और आँचल को माथे से लगा लिया। उसकी यह विनम्रता और शिष्टाचार देखकर पंडित जी मारे खुशी के उछल पड़े और तीन—चार छलाँगें भरीं।"<sup>3</sup>

**अनूदित पाठ:** "Kolesari embraced the women as she saw them off. Among them was an extremely old woman. When she stepped forward to embrace Kolesari, Kolesari bowed down, touched the women's feet with the hem of her sari and then touched her own forehead with it. When he observed this humble courtesy, Panditji sprang up for joy and jumped three times;"<sup>4</sup>

खासकर उत्तर प्रदेश और बिहार के कुछ क्षेत्रों में यह प्रचलन है कि औरतें अपने से रिश्ते में बड़ी औरतों को अपने आँचल से पैर छूकर माथे पर लगाती हैं, जिससे कि उनके जीवन में सुख—समृद्धि बनी रहे ऐसी मान्यता है समाज में। इस कहानी में विडम्बना यह है कि प्रेमचंद ने एक ब्राह्मण स्त्री को दलित समाज की औरतों के साथ जिस बहनापे और आदर की बात दिखा रहे हैं वह यहाँ के समाज में कहीं भी दिखाई नहीं देता है। इसलिए अन्तर्भाषीय समाज का पाठक इस कहानी को पढ़कर भारतीय संस्कृति की एक पहलू से तो दो—चार होगा, लेकिन समाज में व्याप्त ऊँच—नीच के भेदभाव को समझने से अछूता रह जाएगा।

**मूल पाठ:** "आँगन में सफेद फर्श बिछा हुआ था और उस पर तीन-चार सौ औरतें देहाती अन्दाज से बनी-सँवरी हुई बैठी हुई थीं। कोई हँसती थी, कोई बातें करती थीं और कोलेसरी हाथ में थाल लिये सबको पान और इलायची तकसीम कर रही थी। बच्चों को खिलौने और मिठाइयाँ देती और प्यार करती थीं। पान तकसीम हो चुका तो गाना होने लगा। कोलेसरी ने आज मोटी साड़ी पहनी थी और गहने उतार दिये थे। वह ढोल लेकर बैठ गई और औरतों के साथ गाने लगी।"<sup>5</sup>

**अद्वैत पाठ:** "A white carpet had been spread in the courtyard. On it were sitting three or four hundred women dressed up in their village finery. Some were laughing, others chatting, and Kolesari was carrying around a tray of paan. She was giving sweets and toys to the children and fondling them affectionately. When the paan had been distributed the singing began. Today Kolesari was also wearing a coarse sari and had taken off her jewels. She sat down with drum and began to sing with the women."<sup>6</sup>

यहाँ के समाज में कुछ आयोजनों के अवसर पर 'पान' 'इलायची' देना प्रतिष्ठा का द्योतक माना जाता है। शादी-विवाह, तीज-त्यौहार जैसे खुशी के मौके पर औरतें अपनी मण्डली में ढोलक इत्यादि वाद्य यंत्रों के साथ गीत गाती हैं और खुशी का इजहार करती हैं ऐसा विदेशी समाज में नहीं होता है। इस तरह की संस्कृति को अनुवाद के माध्यम से दूसरे समाज तक पहुँचाने में मदद मिलती है। 'पान' और 'ड्रम' भारतीय वाद्ययंत्रों का अनुवाद नहीं हो सकता, अतः लिप्यंतरण का सहारा लिया गया है।

भारतीय संस्कृति में ज्यादातर घटनाओं को धार्मिक आस्था से जोड़कर देखा जाता है। हालाँकि यह सब बड़ी चालाकी भरा षड्यंत्र है किसी खास वर्ग को मजबूती तथा वर्चस्ववादी बनाने का। खैर! ऐसी संस्कृति भारत में जीवित है और व्यापक स्तर पर इस तरह का कारोबार यहाँ चलता है। धार्मिक अन्धविश्वास को निरन्तर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में पहुँचाने की जिम्मेदारी

औरतों ने बड़े पैमाने पर सम्भाल रखी है। जब भारत में सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण होता है तब इसे लोग आस्था से जोड़कर देखते हैं—

“चाँद सूरज दूनों लोक के मालिक  
एक दिना उनहूँ पर बनती  
हम जानी हमहीं पर बनती”<sup>7</sup>

चंद्रग्रहण या सूर्यग्रहण का आम जन-जीवन में विशेष महत्व है। जनता ‘भगवान पर विपत्ति पड़ी है’ से जोड़कर देखती है जबकि अन्य देशों में वैज्ञानिकता के आधार पर इस तरह की प्राकृतिक घटनाओं का आकलन किया जाता है। उपरोक्त पंक्तियों का अनुवाद नहीं हुआ है, जबकि यहाँ की आस्थावादी हास्यास्पद संस्कृति से अन्य भाषा-भाषियों का परिचय कराना जरूरी था। ऐसे मौके पर इस तरह के गीत औरतों द्वारा गाया जाता है और ब्राह्मण को दान-दक्षिणा देने की भी प्रथा है।

‘गंगा स्नान’ से जुड़े लोक में कई सारे मुहावरे भी प्रचलित हैं। पंडित श्यामस्वरूप दलितों के घर आते-जाते हैं। इसलिए अपमान की शिकार उनकी पत्नी कोलेसरी को बनाया जाता है। अपमानित करने के लिए एक मुहावरे का सहारा लिया गया है—

**मूल पाठ:** “एक औरत ने जो जाहिरा किसी ऊँचे खानदान की मालूम होती थी, अपने करीब की औरत से कहा— ‘जरा महारानी को देखो! मर्द तो चमारों के साथ खाना खाता फिरता है और यह गंगा नहाने आयी है।”<sup>8</sup>

**अनूदित पाठ:** “One woman, who appeared to be of some aristocratic family, said to the woman next to her, ‘Just look at the fine lady there- her husband goes around eating with untouchables and she comes to bath in the Ganges!”<sup>9</sup>

‘गंगा नहाना’ एक मुहावरा है, जिसमें सन्दर्भानुसार अर्थ में परिवर्तन आता है और कई सारे अर्थों को व्यंजित करता है। एक अर्थ है— जब कोई

व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है तब कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति ने 'गंगा नहा लिया', अर्थात् लक्ष्य हासिल कर लिया। दूसरा— किसी बड़ी जिम्मेदारी से मुक्त होना भी गंगा नहा लेना होता है। तीसरा अर्थ आस्था के प्रश्न से जुड़ा है। गंगा को भारतीय समाज में आस्था से जोड़कर देखा जाता है और चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण लगने पर लोग गंगा स्नान करने जाते हैं। हिन्दू पौराणिक मान्यताओं के अनुसार लोक परंपरा में यह उक्ति प्रचलित है कि 'गंगा स्नान से सारे पाप धुल जाते हैं' इस तरह के अनेक अतार्किक तर्क हैं जिससे हिन्दू धर्म भरा पड़ा है। चाहे जितना कुकर्म करो, अन्याय, अत्याचार करो, दुराचार करो सब करने के बाद गंगा नहा लो सब पापों से मुक्ति। यह तो अपराध करने के लिए बढ़ावा देना है। लेकिन उपरोक्त उदाहरण में जो 'गंगा स्नान' का प्रयोग हुआ है वह तंज के रूप में हुआ है और अर्थ बदल गया है, बल्कि विरोधाभासी अर्थ हो गया है। औरतें कोलेसरी पर इसलिए तंज कस रही हैं कि उसका पति दलितों के घर जाता है, खाना खाता है। इसलिए ये लोग पाप के भागी हैं इन्हें गंगा जैसी पवित्र पानी में स्नान करने का कोई हक नहीं है। बड़ी विचित्र स्थिति है भारतीय समाज और आस्था का! ऐसी संस्कृति और आस्था को समझना लक्ष्य भाषियों के लिए बहुत ही मुश्किल है। स्रोत पाठ को पढ़ने से जिस भाव का बोध पाठक को होगा वही लक्ष्यपाठ को पढ़कर वहाँ के पाठकों को सम्प्रेषण नहीं हो पायेगा क्योंकि एक—एक शब्द अनेकार्थक हैं। इससे मिलता—जुलता एक और कहावत लोक में प्रचलित हैं— 'कुलबोरनी चली गंगा नहाने' यह भी तंज कसना है।

इसी से मिलता—जुलता कफ़न कहानी का भी एक अच्छा उदाहरण द्रष्टव्य है —

**मूल पाठ:** "घीसू खड़ा हो गया और जैसे उल्लास की लहरों में तैरता हुआ बोला— हाँ, बेटा बैकुण्ठ में जायेगी। किसी को सताया नहीं, किसी को दबाया नहीं। मरते—मरते हमारी जिंदगी की सबसे बड़ी लालसा पूरी कर गई। वह



बैकुण्ठ में न जायेगी तो क्या ये मोटे-मोटे लोग जाएँगे, जो गरीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं, और अपने पाप को धोने के लिए गंगा में नहाते हैं और मंदिरों में जल चढ़ाते हैं?"<sup>10</sup>

**अनूदित पाठ:** "Ghisu stood up and as though bathing in waves at bliss he said, 'yes, son she'll go to heaven. She didn't torment anybody, She didn't oppress anybody. At the moment she died she fulfilled the deepest wish of all our lives. If she doesn't go to heaven then will those big fat people go who rob the poor with both hands and swim in the Ganges and offer holy water in the temples to wash away their sins.'"<sup>11</sup>

यहाँ धर्म को शोषण के हथियार की तरह प्रयोग किया जाता है और उसकी सत्ता को बनाए रखने की हर संभाव युगत भी की जाती है—

**मूल पाठ:** "सनातन-धर्म की विजय हो गई। गाँव-गाँव में मंदिर-मंदिर बनने लगे और शाम-सवेरे मंदिरों से शंख और घण्टे की ध्वनि सुनाई देने लगी। लोगों के आचरण आप ही आप सुधरने लगे। पंडित जी ने किसी को शुद्ध नहीं किया। उन्हें अब शुद्धि का नाम लेते शर्म आती थी— मैं भला इन्हें क्या शुद्ध करूँगा, पहले अपने को तो शुद्ध कर लूँ। ऐसी निर्मल और पवित्र आत्माओं को शुद्धि के ढोंग से अपमानित नहीं कर सकता।"<sup>12</sup>

**अनूदित पाठ:** "Sanathan Dharma (Hinduism) finally won. Incantations were heard in many villages and the sound of temple bells and conches were heard morning and evening. The behavior of the people bettered on its own. Panditji did not purify anybody. Panditji was ashamed to think that he had come to purify these people. 'How can I purify these people? Let me first purify myself. I cannot demean pure and holy souls in the name of purification.'"<sup>13</sup>

हिन्दू मान्यता के अनुसार 'सनातन धर्म' को सबसे प्राचीन 'हिंदू धर्म' माना गया है। 'सनातन धर्म' नाम से 20 जुलाई सन् 1933 में मालवीय जी के संरक्षण एवं संचालन में एक साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन भी हुआ और

1940 तक यह पत्रिका निकलती रही। इसके प्रथम संपादक श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' थे। मालवीय ने 'सनातन धर्म' पत्रिका में 'सनातन धर्म का स्वरूप' नामक लेख में लिखा— "संसार में जितने धर्म प्रचलित हैं, उनमें सबसे प्राचीन वह धर्म है, जो सनातन धर्म के नाम से प्रसिद्ध है।"<sup>14</sup>

धार्मिक अवधारणाओं और शब्दावलियों का अनुवाद करना मुश्किल है क्योंकि लक्ष्यभाषा में इस तरह की आस्था और संस्कृति नहीं हैं। इसलिए ऐसे शब्दावलियों के समतुल्य शब्दावली नहीं मिलती है। ऐसे जगहों पर अनुवादक को यह छूट होती है कि वह लिप्यन्तरण का सहारा ले और शब्दों का अर्थ 'ग्लोसरी' या पाद टिप्पणी द्वारा स्पष्ट करे।

धर्म का हवाला देकर इस देश में जातिवाद को सार्वभौमिक सत्य बनाया गया है। जातिवाद के बहुत से आयाम हैं। इस परिप्रक्ष्य में 'दूध का दाम' कहानी देखी जा सकती है— जब तक तथाकथित सवर्ण को तथाकथित दलित कही जाने वाली जातियों से स्वार्थ सिद्ध करना होता है, तब तक तो साथ रखते हैं, जैसे ही उनका मतलब निकला वैसे ही गिरगिट की तरह रंग बदल लेते हैं। उदाहरणार्थ—

**मूल पाठ:** "भूँगी का शासनकाल सालभर से आगे न चल सका। देवताओं ने बालक के भंगिन का दूध पीने पर आपत्ति की, मोटेराम शास्त्री तो प्रायश्चित्त का प्रस्ताव कर बैठे। दूध को छुड़ा दिया गया; लेकिन प्रायश्चित्त की बात हँसी में उड़ गयी। महेशनाथ ने फटकारकर कहा — प्रायश्चित्त की खूब कही शास्त्री जी, कल तक उस भंगिन का खून पीकर पला, अब उसमें छूत घुस गयी। वाह रे आपका धर्म।

शास्त्री जी शिखा फटकारकर बोले— यह सत्य है, वह कल तक भंगिन का रक्त पीकर पला। मांस खाकर पला, यह भी सत्य है; लेकिन कल की बात कल थी, आज की बात आज। जगन्नाथपुरी में छूत—अछूत सब एक पंगत में

खाते हैं, पर यहाँ तो नहीं खा सकते। बीमारी में तो हम भी कपड़े पहने खा लेते हैं, खिचड़ी तक खा लेते हैं बाबू जी; लेकिन अच्छे हो जाने पर तो नेम का पालन करना ही पड़ता है। आपद्धर्म की बात न्यारी है।"<sup>15</sup>

**अनूदित पाठ:** "The period of Bhungi's rule could not continue beyond a year. The Brahmans objected to the child's being nursed with an untouchable's milk, and Moteram Shastri even enjoined a penance. So the nursing was abandoned but the matter of a penance was laughed away. To taunt the Brahman Maheshnath said, 'A penance, Shastriji? Very sensible! Until yesterday the child was nourished by the blood of this same untouchable, so he must already be contaminated. My my, that's a great religion you've got!'

Shaking his topknot violently Shastriji said, In truth, the child was nourshed on her blood until yesterday, and indeed on flesh as well-since she is an eater of meat. But today's business for today, Let yesterday take care of itself. At the Jagannath temple at Puri untouchables sit down to eat together with Brahmins-but they can't do it here. Where we're ill we sit at our meals all dressed, we eat highly spiced stews, but Bhabuji, upon recovering we must once again eat according to the rules of morality. The regulations for emergencies are strange indeed."<sup>16</sup>

यहाँ के वर्णवादी-व्यवस्था में पग-पग पर धोखा, षड्यंत्र, फरेब, स्वार्थ भरा हुआ है। जब तक भूँगी की जरूरत थी तब तक उसका दोहन किया गया, जैसे ही ठाकुर का बच्चा थोड़ा बड़ा हुआ, वैसे ही ब्राह्मणों द्वारा एक भंगी महिला के दूध पिलाने पर आपत्ति उठाई गई। इस देश का ब्राह्मण वर्ग इतना शातिर है कि जन्म लेने से लेकर मरने के बाद तक तरह-तरह के संस्कारों और प्रायश्चित्तों से अपना पेट भरता है, बदले में, आम जनता को खोखला बनाता रहता है। इस तरह की चालाकी भरी संस्कृति, परंपराएँ, कुप्रथाएँ अन्य भाषा-भाषियों के लिए आश्चर्य और शोध दोनों तरह से महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं, जिसमें अनुवाद की विशेष भूमिका है। 'बीमारी में तो

हम भी कपड़े पहने खा लेते हैं, लेकिन अच्छे हो जाने पर तो नेम का पालन करना ही पड़ता है।' यह पंक्ति गहरे अर्थ का बोध कराती है। जिस काम को करने से अपना फायदा हो उसके लिए कोई भी नियम, परंपरा तोड़ते रहे, जब काम खत्म हो जाए तो नियम का पालन करना शुरू कर दो। इतनी दोगली नीति अपनाई जाती है धर्म के पुरोधाओं द्वारा कि जिसका कोई हिसाब-किताब नहीं है। 'आपद्धर्म' का अर्थ ही होता है विवशता से किया जाने वाला कर्म। भारतीय समाज में जाति के आधार पर जो श्रेणीबद्धता है उसे अनुवादक ने अनूदित कृति में पूरी तरह बिना किसी पूर्वाग्रह के सफल एवं सटीक अनुवाद किया है।

'दूध का दाम' में प्रायश्चित की बात तो होती है लेकिन उसे मजाक में उड़ा दिया जाता है क्योंकि सजा सुनाने वाले, सजा पाने वाले दोनों खास वर्ग के हैं। वहीं ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'गोहत्या' में सब एक होकर दलित को सजा देते हैं—

**मूल पाठ—** "अगले दिन पंचायत बैठी, मंदिर के चबूतरे पर। मुखिया, सरपंच, पंचायत के दूसरे सदस्य। मामला गोहत्या का था, इसलिए समूचा गाँव इकट्ठा हो गया। प्रत्येक परिवार से एक-एक व्यक्ति आया था। बामन राजपूत चबूतरे पर बैठे थे। चमार, मेहतर, नाई, धोबी, कहार सब चबूतरे से नीचे। पंडित रामसरन, मुखिया जी के बराबर में बैठा हुआ था। वह धुला हुआ रामनामी ओढ़कर आया था। माथे पर लम्बा-सा टीका दूर से ही दिखाई पड़ रहा था। सरपंच उम्र में सबसे बड़ा था झूरियों वाले चेहरे पर सफेद मूँछे आज कुछ ज्यादा ही नुकीली बनाई गई थीं।"<sup>17</sup>

**अनूदित पाठ:** The next day the panchyat met on the platform of the temple- the Mukhiya, the sarpanch and the other members of the panchayat. Since the matter concerned the killing of a cow the entire village had gathered together—one member from each family. The Brahmins and the Rajputs sat on the platform; Chamars, Sweepers, Barbers, Washermen, Water Carriers-sat below. Pandit Ramsaran sat by the side of Mukhiyaji. He had come with a newly washed ramnami wrapped round

him. An elongated tika was visible on his forehead from afar. The sarpanch was the oldest in years. White moustaches in a wrinkled face had been particularly trimmed sharp for the day."<sup>18</sup>

**मूल पाठ—** "उसने गिड़गिड़ाकर सरपंच से न्याय की गुहार की, "सरपंच जी आप में भगवान बसते हैं, नियाय करो महाराज, मैं निरदोष हूँ...मैंने गऊ हत्या नहीं की है...मैं भगवान की कसम खाता हूँ... मैंने गऊ हत्या नहीं की है... मैं निरदोष हूँ। मैं कभी सूअर मारने उस जंगल में नहीं गया...मुझ पर गोहत्या का इल्जाम मत लगाओ सरपंच जी..." उसके शब्द टूटने लगे।...

लाल दहकती फाल जबरन उसके हाथों पर रख दी गई! सुक्का की चीख बेबसी की सारी सीमाएँ तोड़कर धूल-धूसरित गलियों, कच्चे पक्के मकानों से टकराकर वातावरण को दहला गई। ऐसी चीख जिसे सुनकर मरी गाय भी उठकर भाग जाए।"<sup>19</sup>

**अनूदित पाठ:** He entreated the Sarpanch pleading for justice: 'God lives in you, Sarpanchji, kindly do justice to me, reversed sir...I am innocent...I haven't killed the cow...I swear by god..I haven't killed the cow...I am innocent ...I never went to the jungle to hunt boars...don't accuse me of killing a cow, Sarpanchji. His words started flatering.

The flaming red ploughshare was forcibly put into his hands. Sukha's shrieks crossing all limits of helpness and striking against dusty streets and Kuccha – Pucca houses, caused the entire atmosphere to shake with fear, such shrieks that might make a dead cow get up and run."<sup>20</sup>

अनुवाद में वर्ग-भेद एवं जाति भेद को स्वाभाविक ढंग से रखा गया है। संदर्भपरक भावानुवाद किया गया है। जैसे 'पंचायत बैठी', यहाँ 'बैठना' के लिए Met ही सार्थक और संदर्भपरक अनुवाद है। मूल की भाव भी सुरक्षित रहे और अन्तर्भाषियों तक भाव सम्प्रेषित भी हो जाए, इसलिए अनुवादक ने समाज-संस्कृति सापेक्ष शब्दों का लिप्यंतरण कर ग्लोसरी में इन पदों की व्याख्या कर दिया है। लक्ष्य पाठ में कहीं-कहीं दो वाक्यों को जोड़कर अनूदित किया गया है। मूल की

संवेदना अनुवाद में भी मार्मिक रूप से विद्यमान है। Kuccha-Pucca भारतीयता की पुट बनाए रखा है।

शुभ-अशुभ मुहूर्त, भाग्य, भगवान, कर्म-फल आदि अंधविश्वासों से प्रेमचंद के दलित पात्र इतने आतंकित हैं कि खुद को शोषण, अन्याय, अत्याचार की चक्की में पिसवाते चले जा रहे हैं। बेटी की सगाई के लिए मुहूर्त निकलवाने पंडित घासीराम के पास जाने से पहले दुखी और उसकी पत्नी पंडितजी को देने के लिए दान-दक्षिणा को कितनी मशक्कत से तैयार करते हैं। इसी से स्पष्ट हो जाता है कि वे ब्राह्मण की नाराजगी से कितने डरे हुए हैं—

**मूल पाठ:** "दुखी-कहीं ऐसा गजब न करना, नहीं तो 'सीधा' भी जाय और थाली भी फूटे! बाबा थाली उठाकर पटक देंगे। उनको बड़ी जल्दी क्रोध चढ़ आता है। विरोध में पंडिताइन तक को छोड़ते नहीं, लड़के को ऐसा पीटा कि आज तक टूटा हाथ लिये फिरता है। पत्तल में सीधा भी देना, हाँ। मुदा तू छूना मत। झूरी गोंड की लड़की को लेकर साहू की दुकान से सब चीजें ले आना। सीधा भरपूर हो। सेर भर आटा, आध सेर चावल, पाव भर दाल, आध पाव घी, नोन, हल्दी और पत्तल में एक किनारे चार आने पैसे रख देना। गोंड की लड़की न मिले तो भुर्जिन के हाथ-पैर जोड़कर ले जाना। तू कुछ मत छूना, नहीं गजब हो जायेगा।"<sup>21</sup>

**अनूदित पाठ:** "Don't commit any such sacrilege!" Dukhi said. 'If you do, the offering will be wasted and the dish broken. Baba will just pick up the dish and dump it. He flies of the handle very fast, and when he's in a rage he doesn't even spare his wife, and he beat his son so badly that even now the boy goes around around with a broken hand. So we'll put the offering on a leaf too. Just don't touch it. Take Jhuri the Gond's daughter to the village merchant and bring back all the things we need. Let it be a complete offering- a full two pounds of flour, a half of rice, a quarter of gram, an eighth of ghee, salt, turmeric, and

four annas at the adge of the leaf. If you don't find the Gond girl then get the woman who runs the parching oven beg her to go if you have to. Just don't touch anything because that will be a great wrong."<sup>22</sup>

खुद की हालत इतनी दयनीय है बावजूद इसके, दुःखी पंडितजी को दक्षिणा देने के लिए इतने सारे उद्यम करता है, सिर्फ और सिर्फ कोई अनिष्ट न हो जाए इसलिए। 'तू कुछ मत छूना नहीं तो गजब हो जायेगा' में जो अन्धविश्वासीय भय है उसी के चलते दुखी जैसे असंख्य दलित पिछड़ों का शोषण होता है। अदृश्य सत्ता का भय इतना गहरे पैठा है कि ब्राह्मण द्वारा कुपित होने के डर से बिना किन्तु-परन्तु किए अतार्किक परंपराओं को ढोते-ढोते खुद का अस्तित्व मिट जाता है। 'क्रोधित होने' के लिए अनुवादक ने बहुत ही सटीक समतुल्य मुहावरे का प्रयोग- 'Flies at the handle' किया है।

पंडित घासीराम द्वारा दुःखी से बेगार कराने और फिर भी धर्मात्मा बने रहने पर जब चिखूरी गोंड सवाल करता है तब दुखी कहता है-

**मूल पाठ:** "धीरे-धीरे बोल भाई, कहीं सुन लें तो आफत आ जाय।"<sup>23</sup>

**अनूदित पाठ:** "Speak softly, brother, if they hear you we'll be in trouble."<sup>24</sup>

दुखी के अन्तःमन में यह बात घर कर गई है कि ब्राह्मण द्वारा विचार किए मुहूर्त के कारण सारे कार्य पूर्णरूपेण निर्विघ्न सम्पन्न होते हैं। इसलिए वह भूखा-प्यासा रहकर भी घासीराम का बेगार करता है-

**मूल पाठ:** "पंडित हैं, कहीं साइत ठीक न विचारें, तो फिर सत्यानाश ही हो जाय। जभी तो संसार में इतना मान है। साइत ही का तो सब खेल है। जिसे चाहे बिगाड़ दे।"<sup>25</sup>

**अनूदित पाठ:** "This was the Pandit, if he didn't fix an auspicious day the marriage would be a total failure. And that was why everybody respected the

Pandits everything depended on getting the right day set. He could ruin anybody he wanted to."<sup>26</sup>

‘साइत का ही तो सब खेल है’ इससे भय, आतंक, अंधविश्वास, पीड़ा सब एक साथ ध्वनित होता है। इस तरह की संस्कृति, परंपराएं, कुप्रथाएं विदेशों में नहीं पायी जाती हैं। इसलिए विषम-भाषी समाज के लिए सांस्कृतिक पदों का अनुवाद करना बहुत बड़ी समस्या है।

भारतीय समाज में व्याप्त पूजा पाठ एवं आस्था संबंधी उदाहरण—

मूल पाठ— माँ ने पूजा का दिया जलाकर एक कमरे में जमीन पर, दीवार के पास रख दिया था। पूजा का सारा सामान भी वहीं सजा दिया था। गोबर के उपलों से तैयार किए गए अंगारे दीये के सामने सजा दिए थे। मामा के निर्देश से दिनेश ने उन अंगारों पर घी की आहुति दी। थोड़ी ही देर में अंगारों पर जोत भभक उठी। माँ ने सिर पर आँचल ढककर माथा नवाया। भाई का आशीर्वाद लिया। बताशे, पका हुआ मीट, भुनी हुई कलेजी और रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े जोत पर चढ़ाकर भोग लगाया। घी के धुएँ की एक अजीब-सी गंध पूरे घर में फैल गई थी।"<sup>27</sup>

**अनूदित पाठ—** Mother had placed the earthen lamp after lighting it in a room near the wall. The puja things were also set there nicely. Cinders of cow dung cakes were also arranged in front of the earthen lamp on instructions from the maternal uncle. Dinesh ceremonially poured ghee into the cinders. In a short while, the 'jot' on the cinders flared up, Mother, covering her head with her anchal, bowed low. She received Mai's blessings, made a ceremonial offering of batasha, cooked meat, baked animal liver and small pieces of roti. A strange smell of ghee filled the entire house."<sup>28</sup>

एक सफल अनुवादक का यह ध्येय होता है कि मूलपाठ के भाव को सुरक्षित रखते हुए उसके उद्देश्य को अन्तर्भाषियों तक सम्प्रेषित कर सके। मूल की अर्थवत्ता बनाए रखने के लिए ही अनुवादक ने कुछ आस्था एवं संस्कृति से जुड़े शब्दों को लिप्यंकन एवं लिप्यंतरण करके उसके पाद टिप्पणी दे दिया है।



अंग्रेजी में ध्वनि उच्चारण के अनुसार। Anchal का लिप्यंकन हुआ है। 'आँचल' के लिए अंग्रेजी भाषा में कोई समतुल्य पर्याय नहीं है क्योंकि वहाँ की औरतें साड़ी नहीं पहनती हैं। 'आँचल' के लिए अनुवादक ने पाद टिप्पणी 'The end of a sari दिया है। इसे वे पाठक तो समझ जायेंगे जहाँ साड़ी पहनी जाती है, लेकिन अन्तर्भाषिए नहीं समझ पायेंगे। साड़ी का किनारा तो दोनों तरफ होता है जो कमर में बाँधी जाती है उसे आँचल नहीं कह सकते। आँचल की बनावट पूरी साड़ी से भिन्न बॉर्डर से मेल खाती हुई होती है और उसे ही सर पर रखा जाता है या कंधे पर। भारतीय समाज में ऐसा रिवाज है कि पूजा के समय औरत अपना आँचल और यदि पुरुष है तो तौलिया सर पर रखता है। 'माई' Mai शब्द दलितों की कुल देवी 'माई मदारन' के लिए आया है। इसकी पाद टिप्पणी— One of the deities worshipped by the dalit देकर अर्थ स्पष्ट किया गया है जो उचित है। मूलपाठ की पाठनिष्ठता बनी रहे इसलिए लक्ष्यपाठ में आस्था एवं संस्कृति संबंधित शब्दों का लिप्यंतरण कर दिया गया है। जैसे jot, puja, Batasha, roti उपरोक्त अनूदित अंश में एक जो कमी लगी वह यह कि 'भूनी हुई कलेजी' का अनुवाद 'Baked animal liver' हुआ है। Animal से भ्रम उत्पन्न हो रहा है कि किस जानवर की कलेजी है। हालाँकि पूरी कहानी पढ़ने से संदर्भपरक अर्थ स्पष्ट हो रहा है। फिर भी यदि अनुवादक piglet liver किया होता तो ज्यादा सटीक अनुवाद होता क्योंकि 'माई मदारन' की पूजा के लिए सूअर का बच्चा ही जरूरी होता है।

अंधविश्वास, सांस्कृतिक दबाव और जाति तीनों का मर्मस्पर्शी वर्णन 'भय' कहानी में है, जिसका अनुवाद भी उतना ही प्रभावित करता है जितना कि मूल। दिनेश अपनी जाति का भेद खुल जाने की आशंका से इतना भयभीत है कि बदहवाशी में भागने लगता है—

**मूल पाठ—** "चिल्लाकर बोला, "वह देखो... सामने खड़ी है...वह देखो...तिवारी भी खड़ा है...उसे मालूम हो गया है...सबको बता देगा...सबको..." वह चीख रहा था।"<sup>29</sup>

**अनूदित पाठ —** He screamed: "There...look. She is there...just look...Tiwari is there too...he's come to know...he'll tell them all...all...he was shrieking."<sup>30</sup>

मूल में गैप देकर एक ही वाक्य में सब कुछ कह दिया गया है। अनूदित पाठ में भाषा की संरचना को देखते हुए छोटे-छोटे वाक्यों में स्पष्ट रूप से अनुवाद हुआ है।

जातीयता का दंश झेल रहा एक दलित बच्चा अपनी पढ़ाई के लिए जद्दोजहद करता है लेकिन कहीं भी उसे सर छुपाने की जगह नहीं मिलती। अनुवाद के माध्यम से ही एक ऐसा समाज इन कड़वी सच्चाइयों से अवगत हो रहा है जिसके लिए ये सब सामाजिक विडम्बनाएँ और संस्कृतियाँ आश्चर्यचकित करने वाली हैं। सही में सहानुभूति और स्वानुभूति क्या है इसका भेद भी खुलता है।

**मूल पाठ:** "उसने मुझे राखी बांधी थी साहब...पर आज उन्हें पता चल गया कि मेरी जाति क्या है। साहब, भंगी होने से रिश्ते टूट जाते हैं?...मैं इस भंगीपन से छुटकारा पाना चाहता हूँ साहब। मेरी परीक्षाएँ पास हैं.... मुझे रहने की जगह चाहिए। साहब क्या मैं सिर्फ सफाई कर्मचारी ही बनने के लिए पैदा हुआ हूँ। मैं कुछ और करना चाहता हूँ।

मुझे तुमसे पूरी सहानुभूति है...पर मैं तुम्हें फैक्टरी में रहने की जगह नहीं दे सकता।" एजाज साहब ने बिना किसी लाग-लपेट के साफ इनकार कर दिया।<sup>31</sup>

**अनूदित पाठ :** She had tied a rakhi round my wrist, sahib...but today... they came to know what my caste is ... sahib! Does being a bhangi result in the snapping of all ties?... I wish to get rid of this bhangi-pan, Sahib. My examinations are drawing near...I need a place to stay. Sahib, have I been born only to be a safai Karamchari ? I wish to say something more...

I have full sympathy with you...but I cannot let you stay in the factory. Aijaz Sahib refused in plain words without being wordy."<sup>32</sup>

उक्त अनुवाद में संवेदनाओं का अंतरण भली-भाँति हुआ है। बार-बार साहब सम्बोधन का प्रयोग मार्मिकता को बढ़ाया है। अनुवादक मार्मिकता बनाए रखने के लिए कुछ शब्दों को मूल की तरह लक्ष्य भाषा में यथावत रखकर अनूदित कृति को पाठनिष्ठ बना दिया है। भंगीपन, सफाई कर्मचारी, राखी इनका अनुवाद

कर देने से मूल का अर्थ ही खो जाएगा है। बिना लाग-लपेट मुहावरा का अनुवाद बहुत ही सटीक हुआ है।

इस समाज-व्यवस्था में ऊँच-नीच की खाई इतनी गहरी है कि इसके आगे मानवीयता लाचार दीखती है।

**मूल पाठ:** "संतों ने लकड़ियों का गट्ठर सिर पर रखकर हाथ में आग और हाँड़ी उठा लिये थे। पीछे-पीछे सरोज उपलों से भरा टोकरा लिए चल पड़ी थी।

इस शवयात्रा को देखने के लिए चमारिनें अपने छतों पर चढ़ गई थीं। उनकी आँखों के कोर भीगे हुए थे। लेकिन बेबस थीं, अपने-अपने दायरे में कैद। बल्हार तो आखिर बल्हार ही थे। अपने ही नहीं उन्हें तो दूसरों के मुर्दे भी ढोने की आदत थी"<sup>33</sup>

**अनुदित पाठ** — Santo carried the bundle of wood on her head and also fire and a pot in her hands. Saroj came behind with a basket full of dung cakes.

Chamarins climbed up to their roof to watch this funeral procession. Their eyes were moist. But they were helpless, each imprisoned in her ambit. These were balhars, after all. They were used to carrying not only their own dead but that of the others as well."<sup>34</sup>

मूल के प्रत्येक शब्द का अनुवाद लक्ष्य भाषा की वाक्य के अनुसार हुआ है। मूल लेखक जिस संवेदना के स्तर तक पहुँचा है अनुवादक भी उस संवेदना को सुरक्षित रखने का प्रयास किया है। गट्ठर, उपलों का सटीक अनुवाद हुआ है। भारत के अधिकांश प्रदेशों में स्त्रियों का शमशान घाट तक जाने का रिवाज नहीं है। दलित साहित्य ने इस रिवाज को तोड़ा है। पुरुष प्रधान समाज में स्त्रियाँ अपने मन-मुताबिक कुछ भी नहीं कर सकतीं। इन सारे बंधनों रीतियों, संस्कृतियों को अनुवादक ने विषम-भाषी समाज तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया है।

समाज में स्त्रियों के लिए एक दायरा निर्धारित है। उस दायरे से बाहर निकलने पर उनकी औकात बता दी जाती है। इसे अनुवाद में बखूबी उतारा गया है। पुरुष प्रधान सामाजिक-मानसिकता के लोगों द्वारा दलितों और स्त्रियों पर किये गए अत्याचार अन्यायपूर्ण संवेदनाओं का अन्तरण-

**मूल पाठ—** “मेरे बाप के खिलाफ एक भी लफज बोल्ली तो हाड़—गोड़ तोड़ के धर दूँगा। जिंदगी भर लूली लँगड़ी बणके खाट पर पड़ी रहेगी...औरत है तो औरत बणके रहे।”<sup>35</sup>

**अनूदित पाठ:** If you utter just one word against my father,.

I shall break your bones. You will lie lame and helpless in bed all your life...If you are a woman, then behave like a woman.”<sup>36</sup>

खाट के लिए Bed का प्रयोग संदर्भपरक अर्थ दे रहा है। ‘औरत है तो औरत बनके रहे’ का भावनानुवाद हुआ है। मूल में क्षेत्रीयता का पुट है जो अंग्रेज़ी में नहीं रूपांतरित किया जा सकता है।

भरतीय संस्कृति में ही दलित और कुत्ते दोनों की तुलना एक साथ होती रहती है। अमानवीयता और दरिद्रता की पराकाष्ठा दिखाई देती है जब दलित और कुत्ता दोनों एक ही कटोरे में खाते हैं—

**मूल पाठ:** “मकान के सामने एक नीम का पेड़ था। इसी के नीचे मंगल का डेरा था। एक फटा—सा टाट का टुकड़ा, दो मिट्टी के कसोरे और एक धोती, जो सुरेश बाबू की उत्तारन थी, जाड़ा, गरमी, बरसात हरेक मौसम में वह जगह एक—सी आरामदेह थी और भाग्य का बली मंगल झूलसती हुई लू गलते हुए जाड़े और मुसलाधार वर्षा में भी जिन्दा और पहले से कहीं स्वस्थ था। बस, उसका कोई अपना था तो गाँव का एक कुत्ता, जो अपने सहवर्गियों के जुल्म से दुखी होकर मंगल की शरण आ पड़ा था। दोनों एक ही खाना खाते, एक ही टाट पर सोते, तबीयत भी दोनों की एक—सी थी और दोनों एक दूसरे के स्वभाव को जाने गये थे। कभी आपस में झगड़ा न होता।”<sup>37</sup>

**अनूदित पाठ:** "There was a neem tree in front of the house. Mangal made his home directly under it with his piece of torn canvas, two clay bowls and a dhoti passed on from Suresh. The spot was equally comfortable in every season, winter, summer and the rains. In the scorching June winds, the freezing cold and the drenching rains lucky little Mangal stayed alive and was actually a lot healthier than he'd been before. And there was even someone he could call his

own, a village dog which, fed up with being picked on by his fellows in the pack, had taken refuge with him. They both ate the same food, slept on the same canvas and even had the same temperament and understood one another's moods. There was never once a quarrel between them."<sup>38</sup>

इस कहानी में प्रेमचंद ने बहुत विरोधाभाषी दृश्य उत्पन्न किया है। 'मंगल जूठन खाता है, ठीक से पहनने के कपड़े नहीं हैं, कड़कड़ाती ठण्ड, चिलचिलाती धूप, मूसलाधार बारिश सबको सहते हुए नीम के पेड़ के नीचे आराम से रहता है और स्वस्थ है' यह बात अतिशयोक्तिपूर्ण है। जो व्यक्ति इतना कष्ट झेलेगा वह आराम से सुखी नहीं रह सकता है। इस तरह के उदाहरणों से अन्तर्भाषियों तक भारत की सच्ची तस्वीर नहीं पहुँच सकती है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि 'बैल की खाल' में दलितों की दयनीय स्थिति का दृश्य प्रस्तुत करते हैं, तो उसमें सही रूप से भारतीय वर्ण-व्यवस्था की तस्वीर उभरकर सामने आती है। भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक मानी जाती है। इसी भारत में एक समाज ऐसा भी है जो दाने-दाने को मोहताज है जिसकी स्थिति जानवरों से भी दयनीय है।

**मूल पाठ-** "बिरिज मोहन की आँखों में निराशा को तोड़ती हुई चमक दिखाई दी। सामने गली से काले और भूरे चले आ रहे थे। उनके चेहरे बुझे हुए और आँखें गडढ़ों में धँसी हुई थीं। सख्त हाथों की हथेलियाँ चौड़ी और माँसविहीन थीं। जिससे हाथों की नसें और उभरी हुई दिखाई पड़ती थीं। दोनों ने घुटनों तक मटमैली सफेद धोती का टुकड़ा लपेट रखा था। कमर से ऊपर कमीज की जगह पुराने किस्म की बंडीनुमा चीकट बनियान पहन रखी थी। जिसमें जगह-जगह छेद हो गये थे। उनके पौर-पौर से विपन्नता झलक रही थी।"<sup>39</sup>

**अनूदित पाठ:** " Hope appeared bright in Birij Mohan's eyes dispelling despair. From the street opposite were coming kale and Bhoore. Their face looked dull and their eyes thrust deep inside their sockets. The palms of their hardened hands were broad and fleshless. For this reason the veins of their hands stood out prominently. Both of

them had tied round themselves part of a white soiled dhoti that came up to their knees. Instead of a shirt, they wore an old greasy bandi-like vest full of holes. Every part of their body reflected their poverty."<sup>40</sup>

गरीबी की मार झेल रहे दलितों की शारीरिक ढाँचा, उनके वेश-भूषा को विषम भाषी समाज के पाठकों तक पहुँचाने में अनुवादक सफल हुआ है। साहित्यिक भाषा शैली के स्थान पर सरल भाषा शैली में अनुवाद हुआ है। सामाजिक, सांस्कृतिक शब्दों के लिए शब्दकोशीय पर्याय के बदले प्रचलित शब्दावली का प्रयोग हुआ है। समतुल्यता के आधार पर 'आँखों में चमक आना' मुहावरे का अनुवाद उसके समकक्ष अर्थ रखने वाले अंग्रेज़ी मुहावरे 'dispelling despaired' से हुआ है। धोती—dhoti भारतीय समाज का पारंपरिक पहनावा है, इसी तरह बंडी Bandi, इनके लिए अंग्रेज़ी में कोई सटीक पर्याय नहीं है। इसे अनूदित कर देने पर मूल का भाव असंप्रेषणीय हो जायेगा। मूलपाठ में धोती के टुकड़े को लपेटा गया है। इसलिए अनुवाद में भी round up का प्रयोग हुआ है जो बिल्कुल सटीक है क्योंकि धोती न तो पूरी है और न ही व्यवस्थित ढंग से पहनी गयी है। सिर्फ़ घुटने से ऊपर के अंग को मुश्किल से ढँका गया है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि के दलित पात्र चेतनशील हैं। पारंपरिक कार्यों, मैला ढोने को छोड़ने के लिए काले भूरे से कहता है—

**मूलपाठ:** "भूरे चल कहीं चलते हैं...सूना है दिल्ली, गाजियाबाद में बड़े-बड़े कारखाने हैं। वहाँ कोई न कोई काम तो मिल ही जायेगा...मामचंद का सलेक देख्यानी पिछली बार ज़िब आया था। यहाँ था तो नंग-धड़ंग घूमा करे था... और इब...इब तो कमीज-पतलून पहनने लगा है...अंग्रेज़ी कट के बाल रखता है...हाथ में घड़ी बाँधता है...क्या कहवे था उस घड़ी को हैमटी ओटमट (एच.एम.टी. ऑटोमैटिक)...अपने आप चलती है दिन रात...आवाज बी ना करे हैं।"<sup>41</sup>

**अनूदित पाठ:** "Bhoore, let's go somewhere else. I hear there are big factories in Delhi, Ghaziabad. We should be able to get a job somewhere...you saw Mamchand's son Salek didn't you, when he came last time. Here he used to go about stark naked.

And now...now he's started to wear coat and pant—keeps English-cut hair...wears a wrist watch—what did he call the watch- "Hemtee Otmat"— it moves on its own, day and night...doesn't to make any sound either."<sup>42</sup>

मूल लेखक जिस बोली-भाषा से पाठक का परिचय करवाना चाहता है अनूदित पाठ में हू-ब-हू तो वैसा नहीं हो सकता लेकिन कुछ शब्द हैं जिसमें क्षेत्रीयता का भाव बना हुआ है। जैसे— Hemtee Otmat इन दोनों शब्दों से स्पष्ट हो रहा है कि पात्र अनपढ़ गँवार है।

भारतीय समाज के ग्रामीण क्षेत्रों में जो प्रसूति होती है उसका जिस तरह ध्यान रखना पड़ता है? ऐसी संस्कृति भी अन्य देशों में देखने को नहीं मिलती है। 'दूध का दाम' में भूँगी चूँकि बाबूसाहब के बच्चे को अपना दूध पिलाकर पालती है, इसलिए उसका ख्याल वैसे ही रखा जाता है जैसे बच्चे को जन्म देने वाली माँ का रखा जाता है—

**मूल पाठ:** "महेशनाथ के यहां अब भी भूँगी की खूब खातिरदारियाँ होने लगीं। सबेरे हरीरा मिलता, दोपहर को पूरियाँ और हलवा, तीसरे पहर को फिर और रात को फिर और गूदड़ को भी भरपूर परोसा मिलता था। भूँगी अपने बच्चों को दिन-रात में एक-दो बार से ज्यादा न पिला सकती थी। उसके लिए ऊपर के दूध का प्रबंध था। भूँगी का दूध बाबू साहब का भाग्यवान बालक पीता था।"<sup>43</sup>

**अनूदित पाठ:** "At Maheshnath's house Bhungi was warmly welcomed now. She got fruits and vegetables in the morning, puris and halva at noon, and the same things again in the afternoon and at night. And Gudar got plenty to eat as well. Since Bhungi was not able to nurse her own baby more than once or twice each day extra milk was arranged for him. It was Babu Sahib's lucky little boy who drank Bhungi's milk."<sup>44</sup>

'हरीरा' शब्द का भाव अंग्रेजी भाषा में अनुवाद के माध्यम से पहुँचाना मुश्किल कार्य है। 'हरीरा' का अर्थ होता है— जब किसी स्त्री को बच्चा होता

है तो उसे बारह दिन तक औंटे दूध में कच्ची हल्दी, मेवे गुड़ डालकर पेय पदार्थ बनाकर दिया है जिससे उसकी सेहत अच्छी हो और बच्चे को ठीक से स्तनपान करा सके। ऐसा अंग्रेजी समाज में नहीं होता इसलिए 'हरीरा' के पूरे भाव को अनुवाद में नहीं लाया जा सकता है। यह बड़ी समस्या है अनुवादक के लिए। 'हलवा' पूरी भी भारतीय व्यंजन हैं, इसका भी लिप्यंतन ही सही माध्यम है।

इसमें बहुत मार्मिक और महत्वपूर्ण बिन्दु है भूँगी के त्याग और प्रेम की। अपने मालिक की वंश परंपरा को चलाने के लिए वह अपने कोख के बच्चे को दूध न पिलाकर मालिक के बच्चे को दूध पीलाती है, उसे बड़ा करती है। बाद में उसकी मृत्यु के बाद उसके खूद के बच्चे को वहीं लोग दुत्कार देते हैं जिनके लिए उसने अपनी संतान तक को त्याग दिया था। यह एक दलित स्त्री के त्याग की कहानी है जिसे अनुवादक ने दूसरे भाषा-भाषियों तक पहुँचाने का प्रयास किया है।

भारतीय संस्कृति में जन्म से लेकर मृत्यु तक बहुत सारे संस्कार होते हैं। इन संस्कारों में लोग अपने सगे-संबंधियों को और गरीबों को कुछ न कुछ कपड़े, बर्तन, ज्वेलरी आदि भेंट स्वरूप देते हैं। ये उपहार खुशी और गम दोनों मौकों पर दिया जाता है—

**मूल पाठ:** "भूँगी कहती— बहूजी, मूँड़न में चूड़े, लूँगी, कहे देती हूँ।

बहूजी उत्तर देतीं— हाँ हाँ, चूड़े लेना भाई, धमकाती क्यों है? चाँदी के लोगी या सोने के।

वह कहती! चाँदी के चूड़े पहन के किसे मुँह दिखाऊँगी और किसकी हँसी होगी?

अच्छा, सोने के लेना भाई, कह तो दिया।'

और ब्याह में कण्ठा लूँगी और चौधरी (गूदड़) के लिए हाथों के तोड़े।"<sup>45</sup>



**अनूदित पाठ:** "Bhungi would say. When your son has his tonsure ceremony, I'll take some bracelets. I'll insist on that.'

'Of course, my dear', the mistress would answer. Why that threatening tone? Which do you want, silver or gold?'

'Oh mistress! If I wore silver bracelets who could I show my face to- and who would they make fun of?'

'Very well, my dear, I promise you gold.'

'And when your son is married I'll take a necklace and for my husband, silver wrist-bands."<sup>46</sup>

सोना चाँदी सामाजिक हैसियत की पहचान होती है। भूँगी ठकुराइन से कहती है, यदि आप सोना चाँदी के कड़े देंगी तो आपकी जगहँसाई होगी

भारत में अनगिनत व्यंजनों के प्रकार पाये जाते हैं। वैसे तो छप्पन तरह के भोग का जिक्र मिलता है लेकिन गिनती करने पर अपार संख्या हो सकती है। जितने व्यंजनों के प्रकार हैं उतनी ही मिठाइयों की भी विविधता पाई जाती है। खाने-पीने के तौर-तरीके भी अलग अलग होते हैं, यूँ कहे कि इसकी एक खास व समृद्ध परंपरा है—

**मूल पाठ:** "पंडित जी यों बहुत ही बलिष्ठ पुरुष थे, उन दोनों को एक धक्के में गिरा सकते थे। प्रातः काल तीन पाव मोहनभोग और दो सेर दूध का नाश्ता करते थे। दोपहर के समय पाव भर घी दाल में खाते, तीसरे पहर दूधिया भंग छानते जिसमें सेर भर मलाई और आध सेर बादाम मिली रहती। रात को डटकर ब्यालू करते; क्योंकि प्रातः काल तक फिर कुछ न कुछ खाते थे। इस पर तुरा यह पैदल पग भर भी न चलते थे। पालकी मिले तो पूछना ही क्या, जैसे घर का पलंग उड़ा जा रहा हो। कुछ न हो, तो इक्का तो था ही; यद्यपि काशी में दो ही चार इक्के वाले ऐसे थे, जो उन्हें देखकर कह न दे कि 'इक्का खाली नहीं है। ऐसा मनुष्य नर्म अखाड़े में पट पड़कर ऊपर

वाले पहलवान को थका सकता था, चुस्ती और फुर्ती के अवसर पर तो वह रेत पर निकला हुआ कछुआ था।"<sup>47</sup>

**अनूदित पाठ:** "Panditji was a very strong man and if he minded he could have just pushed the two of them down. Every morning he consumed three measures of mohanbhong (a kind of sweet dish made of concentrated milk) and two seers (measures) of milk for breakfast. At noon time he added nearly a measure of ghee to his dal and chewed milk-white bhang (a kind of intoxicant) in which he added a seer full of butter and half a seer of almond, in the evening He never failed to eat his suppur in the night because he did not eat anything until early morning. To top it all, he never walked as step! He only had to find a palanquin, he felts as though his bed at home was flying! If nothing, he would always find a two-wheeled carriage drawn by a horse or bullock. But there were a few men of Kashi, who owned these carriages who would say their carriages were engaged the moment they saw him! He was such a person who could tire the wrestler on top of him merely by lying tenderly on the arena! At times of adversities when he had to act briskly with agility, he was like a tortoise exposed on sand!"<sup>48</sup>

‘मोहनभोग’ ‘घी’ ‘दाल’ का अनुवाद कर देने पर इसके प्राकृतिक भाव खत्म सा लगने लगेगा क्योंकि लक्ष्य भाषा में इस तरह की खाद्य सामग्री नहीं पाई जाती है। महत्त्वपूर्ण बात इसमें यह है कि भारतीय समाज में किस समय कौन सा व्यंजन खाया जाता है उसे अन्य भाषा-भाषी और संस्कृति तक पहुँचाने में अनुवादक सफल हुआ है।

भारतीय समाज में सवर्ण और अवर्ण दोनों के खान-पान में काफी भिन्नता रहती है। जब ओमप्रकाश वाल्मीकि सादी में खाने का वर्णन करते हैं और जब प्रेमचंद खाने का वर्णन करते हैं, तो दोनों में सांस्कृतिक अन्तर दिखाई देता है—

**मूल पाठ:** "छोटे-बड़े सबने पूड़ियाँ खाईं और असली घी की! चटनी, रायता, तीन तरह के सूखे साग, एक रसेदार तरकारी, दही, चावल, मिठाई, अब क्या बताऊँ कि उस भोज में क्या स्वाद मिला, कोई रोक-टोक नहीं थी, जो चीज चाहो, माँगो, जितना चाहो, खाओ। लोगों ने ऐसा खाया, ऐसा खाया कि किसी से पानी न पिया गया। मगर परोसने वाले हैं कि पत्तल में गर्म-गर्म गोल-गोल सुवासित कचौड़ियाँ डाल देते हैं। मना करते हैं कि नहीं चाहिए पत्तल पर हाथ से रोके हुए हैं, मगर वह हैं दिये जाते हैं। और जब सबने मुँह धो लिया, तो पान इलायची भी मिली। मगर मुझे पान लेने की कहाँ सुध थी? खड़ा हुआ न जाता था। चटपट जाकर अपने कम्बल पर लेट गया। ऐसा दिल-दरियाव था वह ठाकुर!"<sup>49</sup>

**अनूदित पाठ:** The girl's side fed puris to all and sundry, big and small, real puris, fried in pure ghee. And there was sweet-sour chutney, vegetable salads spiced and pickled in curd, three kinds of fried vegetables, one juicily voluptuous curry, yogurt, garden mint paste, sweets - what shall I say- I never had it so good-no one to say no-you got all you asked for-you really got to eat your hearts fill. And I gorget and gorged till I didn't have space left for a drop of water. And there were all these servers who plopped hot and fragrant kachauris on your plantain leaf. You keep saying no, you spread you hand over the leaf, but who's listening to you-they go on serving merrily. And after you've washed your hands and rinsed your mouth, there's pan and cardamom seeds. But who wants pan? I was so heavy with food I couldn't even stand straight. So I scurried off home and slipped under my blanket for a good night's sleep. Such overflowing hospitality! That's the kind of man the Thakur was."<sup>50</sup>

प्रेमचंद द्वारा किया हुआ उपरोक्त वर्णन समयोचित नहीं है। घर में बहू की लाश पड़ी है और बाप-बेटे को खाने की पड़ी है। इस तरह का संदेश अंग्रेजी और भारतीय दोनों समाज के लिए ग्राह्य नहीं है लेकिन सांस्कृतिक रूप से महत्त्वपूर्ण है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि द्वारा किया गया वर्णन समयोजित और समयसापेक्ष है। घटना और तथ्य दोनों में अच्छा सामंजस्य है। विवाहोपरान्त दूसरे दिन का दृश्यात्मक चित्रण—

मूल पाठ: "शादी वाले घर में काफी चहल-पहल थी। दोपहर के खाने में विशेष इंतजाम किया गया था। पास के कस्बे से 'नान' और मीट बनाने के लिए कारीगर बुलाया गया था। एक मोटा-ताजा बकरा काटा गया था। पके हुए मीट और गर्म मसालों की महक पूरे आँगन में फैल गई थी। कुछ लोग सुबह से ही दारू पीने बैठ गये थे। काफी हो हल्ला होने लगा था। बच्चों की चिल्ल-पों अलग थी। बड़े बूढ़े हुक्के की गुड़गुड़ में अपने जमाने को याद कर रहे थे। औरतों की व्यस्तता कुछ अलग थी। हरीश की सास ने पुराने कपड़ों पर एक नई ओढ़नी डाल ली थी। दूल्हे को साथ लेकर उसे 'सलाम' पर जाना था।"<sup>51</sup>

अनूदित पाठ: "There was a lot of hustle and bustle in the marriage home. Special arrangement had been made for lunch. A skilled cook had been called in from a nearby town to. Cook naan and meat. A stout he-goat had been slaughtered. The smell of cooked meat and hot spices filled the courtyard. Some people had starting drinking right from early morning. There was a lot of noise around. Children were creating their own racket. The elderly members were recounting their own days amid the rumble of their hookah. Women were busy differently. Harish mother-in-law had put a new head cloth over her old dress. She was supposed to go with the bridegroom for the 'Salaam' visit."<sup>52</sup>

इसमें दलित समाज की संस्कृति अपने मूल पाठ की तरह ही लक्ष्य पाठ में सुरक्षित है। अनुवाद में न कुछ जोड़ा गया है न घटाया गया है। स्रोत पाठ की तरह ही अनूदित अंश भी भूतकाल से शुरू होकर भूतकाल में ही खत्म हुआ है। 'पुराने कपड़ों पर एक नई ओढ़नी डाल ली' वाक्य से दलितों की दयनीय स्थिति का पता चलता है जिसे अनुवादक ने सफलतापूर्वक अनुवाद में उतारा है। 'हुक्का' और 'सलाम' का अनुवाद नहीं हो सकता क्योंकि इन दोनों शब्दों में परंपराएँ छिपी हुई हैं। 'नान' अंग्रेजी शब्द है जिसकी हिंदी रोटी होती है लेकिन रोटी तो गेहूँ से

बनाई जाती है जबकि नान मैदा से। इसे Bread भी नहीं कहा जा सकता। हाँ यह रोटी का एक प्रकार है। रोटी-ब्रेड और नान में बहुत सूक्ष्म फ़र्क है इसलिए इसका लिप्यंतरण करना ही उचित है।

भट्टे के परिवेश में जीवन यापन करने वाले मजदूरों की जिंदगी और वहाँ के वातावरण, रहन-सहन को मूल पाठ में रेखांकित किया गया है, जो अनुवाद के द्वारा विषयम समाज तक पहुँच बनाने में सक्षम हुआ है—

मूल पाठ: "एक कतार में बनी छोटी-छोटी झोपड़ियों में टिमटिमाती डिबरियाँ भी इस अंधेरे से लड़ नहीं पाती थीं। दड़बेनुमा झोपड़ियों में झुककर घुसना पड़ता था। झुके-झुके ही बाहर आना होता था। भट्टे का काम खत्म होते ही औरतें चूल्हा-चौका सँभाल लेती थीं। कहने भर के लिए चूल्हा-चौका था। ईंटों को जोड़कर बनाए चूल्हे में जलती लकड़ियों की चिट-चिट जैसे मन में पसरी दुश्चिन्ताओं और तकलीफों की प्रतिध्वनियाँ भी जहाँ सब कुछ अनिश्चित था।"<sup>53</sup>

अनूदित पाठ: "The flickering tiny lamps in the small cottages built in a row were unable to wrestle with this darkness. In order to enter the fowl-house cottages, one had to bend low and come out in the same manner. As soon as the work at the kiln was over, the women started attending to work in the kitchen. The hearth was a hearth only in name. In a hearth made by putting some bricks together the crackling sound of turning pieces of wood seemed to echo the worries and hardships that occupied their mind. Everything was uncertain here."<sup>54</sup>

लक्ष्य भाषा की भाषिक संरचना का ध्यान रखते हुए ऊपर के कुछ वाक्यांशों को 'कौमा' के माध्यम से जोड़ा गया है तथा अंत में वाक्य को तोड़ कर अनुवाद हुआ है। मूल का संपूर्ण संदेश अनूदित अंश में सुरक्षित है।

शीर्षक भी अपने में सांस्कृतिक तत्त्वों को सजोए रहते हैं। अतः शीर्षक का अनुवाद करना मुश्किल होता है। एक कहानी है 'शवयात्रा'(Shavayatra), यह राजस्थानी पृष्ठभूमि में लिखी हुई मार्मिक एवं संवेदना को झकझोड़ देने वाली कहानी है। 'शवयात्रा' खुद दलितों के भीतर जातीय अंतर्विरोध सामाजिक विडम्बनाएँ, ऊँच-नीच की जकड़बंदी के कारण यातना और बेबसी जैसे

बहुफलकीय अर्थ को अपने में समाहित की हुई है। इस अर्थव्यापकता और मानवीय संवेदना को ध्यान में रखते हुए अनुवादक ने मूल शीर्षक का लिप्यंतरण कर दिया है। 'शवयात्रा' शीर्षक जिस यथार्थ की परत खोलता है, जिस संवेदना और संदेश को पाठक तक पहुँचाना है, वह अंग्रेज़ी के Funeral Procession से असंभव था। हो सकता है अंग्रेज़ी भाषा-भाषियों के लिए Funeral procession ज्यादा ग्राह्य हो, इसलिए अन्तिम में अंग्रेज़ी शब्द प्रयोग किया है। यह अनुवाद अन्तः भाषियों के लिए ज़्यादा सफल है।

'अम्मा' कहानी के शीर्षक की बात करें तो पायेंगे कि यह कोई आम अम्मा नहीं है। यह वह अम्मा है, जो पुरखों से चली आ रही विरासत के रूप में मैला उठाने का काम करती है। जीवन भर अभावों में जीवन यापन करने के बावजूद इस परंपरा को तोड़ती हुई अपने बच्चों को इससे दूर रखती है। अनुवादक ने अम्मा को अंग्रेज़ीयत में न ढालकर देशीपन का पुट दिया है। 'अम्मा' शीर्षक में अन्तरंगता की ऐसी अनुगूँज है जो पाठक के अन्तस को छू जाती है। अम्मा की छवि को मूल पाठ से अनुवाद में कैसे उकेरा गया है उसे देखा जा सकता है—

मूल पाठ है: "जो अब घिसट-घिसटकर धीमे कदमों से चलती है जिसकी गंदी साड़ी सामने पेट के पास ठूँसी रहती है। सण जैसे रूखे बाल, झुर्रियों से भरा चेहरा, मिचमिची आँखों वाली अम्मा, वक्त की मार ने जिसकी एक आँख को छोटा कर दिया है। और जिसके सामने के दाँत टूटे हुए हैं। जो एक आध बचा है, वह भी भड़भूजे की कढ़ाई में उछलते मकई के दानों की तरह हिलता है।"<sup>55</sup>

**अनूदित पाठ:** "She wasn't the Amma of today who walked dragging her feet slowly and whose dirty saree was thrust in near her stomach. Thick, jute-like lackluster hair, a face criss-crossed with wrinkles, small dim eyes, one of them made smaller by time and missing front teeth. Even the solitary tooth that remained shook like the maize seeds bobbing up and down in the baking pan of the grambaker."<sup>56</sup>

अनुवादक ने ठूँसी के लिए सटीक शब्द Thrust का प्रयोग किया है। Thrust का अर्थ होता है जबरदस्ती घुसाना। अम्मा भी अपनी सारी को बेतरतीब ढंग से पहनने जैसा एक कोरम पूरा कर लिया है न कि सलीके से पहना है। मूल पाठ में

दाँत के लिए जिस उपमा का प्रयोग है, अनुवाद में उसका शब्दानुवाद हुआ है जो उचित है। झुर्रियों के लिए criss-crossed with wrinkles अच्छा अनुवाद है क्योंकि झुर्रीदार चेहरा आड़ी-तिरछी रेखाओं से भरा रहता है।

मौसम, जलवायु, क्षेत्र भिन्नता के आधार पर भिन्न-भिन्न रंग-रूप, शारीरिक ढाँचे वाले लोग इस देश में मिलते हैं। 'कजाकी' कहानी का एक अंश—

**मूल पाठ:** "वह साँवले रंग का गठीला, लम्बा जवान था। शरीर ढाँचे में ऐसा ढला हुआ था कि चतुर मूर्तिकार भी उसमें कोई दोष न निकाल सकता। उसकी छोटी-छोटी मूँछें, उसके सुडौल चेहरे पर बहुत ही अच्छी मालूम होती थी। मुझे देखकर वह और तेज दौड़ने लगा, उसकी झुँझुनी और जोर से बजने लगती और मेरे हृदय में और जोर से खुशी की धड़कन होने लगती। हर्षातिरेक में मैं दौड़ पड़ता और एक क्षण में कजाकी का कन्धा मेरा सिंहासन बन जाता। वह स्थान मेरी अभिलाषाओं का स्वर्ग था।"<sup>57</sup>

**अनूदित पाठ:** "He was a dark-skinned tall and sturdy young man. His physique was so well-proportioned that even an accomplished sculptor could not find any defect in it. His small mustache looked very nice on his graceful face. He would speeden up on seeing me and his anklet bells would ring faster just as my heart-beats. In extreme happiness I would run to him and in a moment his shoulder would become my throne. That was the heaven at my aspirations."<sup>58</sup>

'उसकी झुँझुनी और जोर से बजने लगती और मेरे हृदय में और जोर से खुशी की धड़कन होने लगती' इस वाक्य का अनुवाद बहुत ही सार्थक हुआ है— 'His anklet bells would ring faster just as my heart-beats.' इसमें मूल पाठ से अधिक सम्प्रेषण क्षमता है।

कुछ चुनौतीपूर्ण शब्दावलियों को छोड़कर अनूदित पाठ में कहीं-कहीं तो इतना सरल स्वाभाविक, सहज और यथार्थपूर्ण वर्णन हुआ है कि पाठक पढ़ते

समय मूल की तरह ही अनुभूति प्राप्त करेगा है। जैसे— 'खानाबदोश' कहानी में मानो अपने पति सुकिया से कहती है—

मूल पाठ: "क्यों जी...क्या हम इन पक्की ईंटों पर घर नहीं बना सके हैं?"<sup>59</sup>

लक्ष्य पाठ: "Sunoji, can't we build a home with the help of these pucca bricks?"<sup>60</sup>

'सुनो जी' कहीं से भी नहीं लग रहा है कि जबरदस्ती थोपा गया है। यह स्वाभाविक रूप से अनूदित हुआ है जो संदर्भपरक और सटीक लग रहा है।

लोकोक्तियाँ एवं कहावतें भाषा अभिव्यक्ति की जितनी सशक्त माध्यम हैं उनका अनुवाद करना उतना ही कठिन है क्योंकि ये अपनी संस्कृति और परिवेश की उपज होती हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि द्वारा लिखित मूल पाठ में जो कहावतें आई हैं वे इस प्रकार हैं—

1 जल में रहकर मगरमच्छ से बैर रखना तो ठीक नहीं है। (सलाम, पृ.16)

2 कब्बा कबी हंस ना बण सके हैं (वही,18)

3 काला अक्षर भैंस बराबर। (पच्चीस चौका ढेढ़ सौ, पृ.80)

4 सूरत और सीरत दोनों में भली। (अम्मा, पृ.117)

5 सुबह का भूला शाम को घर लौट आए तो उसे भूला नहीं कहते। (अम्मा,पृ.121)

6 अपने देश की सूखी रोटी भी परदेश के पकवानों से अच्छी होवे है।  
(खानाबदोश' पृ.124)

7 गाँठ में नहीं पैसा चले हाथी खरीदने। (खानाबदोश, पृ.126)

8 घर में तो पैसा इस तरह गायब था जैसे चील के घोंसले में माँस,  
(कफन,पृ.164)



### अनूदित पाठ:

- 1 If you have to live in water, it isn't proper to make an enemy of crocodile  
(Salaam, 49)
- 2 Tell these city dwellers a crow can never become a swan (Salaam, 51)
- 3 Totally illiterate (Twenty-five Fours are a Hundred and Fifty, 129)
- 4 As good-natured as is beautiful (Amma, 188)
- 5 Get back on the track all right (Amma, 194)
- 6 Even the dry bread of your own place is better than delicacies in a strange land.  
(The Homeless, 197)
- 7 No money in your pocket and set out to buy an elephant. (The Homeless, 201)
- 8 The money in the house had disappeared like carrion in a kite's nest. . (The  
shroud, 189)

प्रेमचंद और ओमप्रकाश वाल्मीकि ने कुछ कहानियों के अंत में ऐसी सूक्तिपरक वाक्य दिए हैं, जो उनकी कहानी—कला के साथ—साथ पाठक के मन में विदग्धता पैदा करती हैं—

### मूल पाठ:

- 1 "दूध का दाम कोई नहीं चुका सकता और मुझे दूध का यह दाम मिल रहा है।" (दूध का दाम, पृ.143 )
- 2 "यही जीवन—पर्यन्त की भक्ति, सेवा और निष्ठा का पुरस्कार था।" (सद्गति, पृ.115 )
- 3 "राष्ट्र के सेवक ने प्रलय की आँखों से उसकी ओर देखा और मुँह फेर लिया।" (राष्ट्र का सेवक, पृ.116)
- 4 "शेर का मुँह इससे अधिक भयानक न होगा।" (ठाकुर का कुआ, पृ.143)

## अनूदित पाठ:

- 1 "They say nobody can ever really pay the price of milk, and this is the payment I'm getting." (The price of Milk, p.185)
- 2 "This was the reward of a whole life of devotion service and faith." p.203 (Deliverance,p.203)
- 3 "The servant of the people looked at her with the eyes of doom returned away. p.181 (A Servant of the Nation,p.181)
- 4 "A lion's open mouth could not have been more frightening." (The Thakur's Well, p.487)

## ओमप्रकाश वाल्मीकि –

### मुल पाठ:

- 1 "दूर कहीं चौकीदार की सीटी चीख रही थी, सन्नाटों को तोड़ती हुई जैसे कह रही हो 'कहाँ जाए सतीश...।' ("कहाँ जाए सतीश, पृ.56)
2. "पंडित रामसरण ने संतोष की साँस ली। जैसे समूचा गाँव गोहत्या के पाप से मुक्त हो गया" (गोहत्या, पृ.63)
3. "चन्द्रमा, ग्रहण से उबरकर पूर्णता की ओर बढ़ रहा था।" (ग्रहण, पृ. 69)
4. "कीड़े पड़ेंगे चौधरी...कोई पानी देने वाला भी नहीं बचेगा।" (पच्चीस चौका ढेढ़ सौ, पृ.84)
5. "अम्मा का टूटा-फूटा कनस्तर और झाड़ू दीवार के सहारे टिका मुँह चिढ़ा रहा था।" (अम्मा, पृ.122)
6. "वह अपनी पहचान भूल चुके हैं, जिसे ढूँढ़ने की तमाम कोशिशें अंधड़ के नीचे खो गई हैं।" (अंधड़, पृ.93)
7. "चमारों का गाँव और उसमें एक बल्हार परिवार।" (शवयात्रा, पृ.43.)

## अनूदित पाठ:

1. From the distance came the shrieking whistle of the chowkidar, shattering the silence of the night, as though asking: Where can Satish go ? (Where can Satish go, p.90)
2. Pandit Ramsaran heaved a sigh of relief, as though the entire village had been absolved of the sin gohatya (The killing of a Cow,p.101)
3. The moon, sick of eclipse, was making its way towards fulfillment. (Eclipse 111)
4. May the Chaudhari rot!...There would be none left to give him water even.' (Twenty-five Four are a Hundred and Fifty, p.135)
5. Amma's broken down. Canister and broom lay against the wall mocking her. (Amma, p.195)
6. He had forgotten his identity and all his efforts to retrieve it had got lost in the storm. (Storm, p.149)
7. A Chammar village and within it a family of balhars! (Shavayatra, p.223)

मूलपाठ के सूक्ति वाक्यों में कहानी का जो सम्पूर्ण मर्मभाव अन्तर्निहित है वह लक्ष्य पाठ में भी अनूदित हुआ है। मूल कथ्य पाठक को जो संदेश देना चाहता है वह अनुवाद के माध्यम से भी संप्रेषित हो रहा है। शब्दानुवाद प्रधान हो गया है जो भावार्थ को समझने में सहायक है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनुवादकों ने मूल कथ्य और कथाकारों के साथ पूर्णरूपेण न्याय किया है। अनूदित कृति 'अम्मा एण्ड अदर स्टोरिज' में स्रोत भाषा के शब्दावली के साथ लक्ष्य भाषा की शब्दावली का तालमेल उनकी भावपरकता के आधार पर बिठाया गया है तथा उनका प्रयोग संदर्भानुसार बड़ी कुशलता एवं सावधानी से किया गया है। जैसे— सलाम कहानी में एक प्रसंग है 'दलितों को जिंदा जला दिया गया', यहाँ जलाने के लिए अनुवादक ने Rosted का प्रयोग किया है जो बहुत ही अर्थगर्भित और सटीक है। Rosted का प्रयोग होता है भूने हुए माँस के लिए लेकिन यहाँ की समाज व्यवस्था में दलितों को जानवरों से भी बदतर समझकर जिंदा जलाया जाता है। जहाँ इस तरह की अमानवीयता नहीं

होती उन अन्तर्भाषियों तक दलित समाज की कड़वी सच्चाई को ले जाने में अनुवादक सफल हुआ है।

दलित साहित्य का मिथक, प्रतीक, उपमा, सौन्दर्य शास्त्र सब कुछ अलग है। इसलिए इनका अंग्रेज़ी में अनुवाद करना बहुत बड़ी चुनौती है। मौटे तौर पर यदि इनका शब्दानुवाद कर भी दिया जाए तो अर्थ का अनर्थ हो जाएगा। मूलपाठ सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश का बोध कराने के साथ समाज में जो व्याप्त विषमताएँ और श्रेणीबद्धता का विभाजन है उसे भी रेखांकित करता चलता है। इसके क्षेत्रीय बोलियों, शब्दावलियों, मुहावरों लोकोक्तियों, गालियों, सम्बोधनों, आदि को हू-ब-हू अंग्रेज़ी भाषा में रूपांतरित नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः मानवीय भावों से सम्बद्ध जो मूल अर्थ है उसे कोई भी अनुवाद सम्पूर्णता में नहीं व्यक्त कर पाता। हिंदी में ऐसी बहुत सी शब्दावलियाँ और अभिव्यक्तियाँ हैं, जो भारतीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से आबद्ध हैं। इसमें भी वंचित समाज की संस्कृति, भाषा, रहन-सहन, वेश-भूषा नितान्त अपरिचित है।

नरेश कुमार जैन द्वारा अनूदित 'अम्मा एण्ड स्टोरिज' में जिन कहानियों को शामिल किया गया है वह भारत के कुछ प्रान्तों में रहने वाले दलित समाज एवं सवर्ण समाज के जीवन शैली को उभारती हैं। अनुवाद की सफलता इसी में मानी जाती है कि अनुवादक अनूदित कृति में अपनी प्रिय उक्ति का समावेश न करे। इसका पूरा ध्यान रखते हुए मनुवादी समाज में रहने वाली दलित जातियाँ जिस कटु सत्य का सामना करती हैं उसे नरेश कुमार जैन ने अन्तर्भाषीय पाठकों तक पहुँचाया है। यह उनकी महत्ता है। भारतीय सामाजिक संरचना, उसकी व्यवस्था, स्त्रियों की दुर्दशा, पुरुषवादी मानसिकता, दलितों के साथ किये गये उत्पीड़न, अमानवीय व्यवहार, खुद दलितों के भीतर अन्तर्विरोध इत्यादि समस्याओं को एक अपरिचित समाज के पाठकों तक पहुँचाने में अनुवादक का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अनूदित कृति की पूरी कहानियों में बहुत कम गलतियाँ हुई हैं। इन दो-चार गलतियों को छोड़ दिया जाए तो यह अनुवाद उच्च कोटि का अनुवाद है। अनुवादक ने मूल कृति के साथ पूरा-पूरा न्याय किया है।

## सन्दर्भ-सूची

- 1 अनुवाद: अंक 100-101 जुलाई-दिसम्बर 1999, पृ. 271
- 2 वही.
- 3 'दोनों तरफ से' (घासवाली कहानी संग्रह), संकलन व संपादन, राजीव रंजन गिरि, पृ.24
- 4 From Both Sides, Translated by David Rubin, Premchand Deliverance and other stories, p.122
- 5 'दोनों तरफ से', पृ 23..24
- 6 From Both Sides, p.122
- 7 सिर्फ एक आवाज, घासवाली कहानी संग्रह, पृ.27
- 8 दोनों तरफ से, पृ.15
- 9 From Both Side, Translated from the Hindi by David Rubin, Premchand, Deliverance and Other Stories, p.113
- 10 कफन, पृ.168
- 11 The Shroud, Translated by David Rubin, The World of Premchand, Selected Stories of Premchand, p.193
- 12 मंत्र, पृ.58
- 13 Manthra (Panceca), Selected Stories of Munshi Premchand, Translation by Sudha Narasimhachar, p.109
- 14 हिन्दी साहित्य कोश, भाग-2, नामवाची शब्दावली, संपादक मण्डल- डॉ. धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान), डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा, श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ. रघुवंश (संयोजक), पृ.167
- 15 दूध का दाम, पृ.154
- 16 The Price of Milk, p.177-178
- 17 गोहत्या- ओमप्रकाश वाल्मीकि (सलाम कहानी संग्रह), पृ.59
- 18 The Killing of a Cow Translation by Naresh K. Jain, p.94-95
- 19 गोहत्या, पृ. 61-63
- 20 The Killing of a Cow, p.98-100-101
- 21 सद्गति, पृ.108-109
- 22 Deliverance, David Rubin, pp.195-196
- 23 सद्गति, पृ.112
- 24 Deliverance, p.200

- 25 सद्गति, पृ.113
- 26 Deliverance, p.201
- 27 भय— ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.45
- 28 Fear, Naresh K. Jain p.
- 29 भय—ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.47
- 30 Fear, Naresh K. Jain p.77
- 31 कहाँ जाए सतीश, पृ.55
- 32 Where can Satish Go, p.89
- 33 शवयात्रा, पृ. 43
- 34 Shavayatra, p.222-223
- 35 जिनावर, पृ. 99
- 36 The Beast, p.159
- 37 दूध का दाम, पृ.155
- 38 The Price of Milk, p.179
- 39 बैल की खाल, पृ.33
- 40 The Hide of an Ox, p.57
- 41 बैल की खाल, पृ.36
- 42 The Hide of an Ox , p.179
- 43 दूध का दाम, घासवाली कहानी संग्रह, पृ.153
- 44 The Price of Milk, The World of Premchand, Selected Stories of Premchand  
Translated by David Rubin, p.176
- 45 दूध का दाम, पृ.153
- 46 The Price of Milk, p.177
- 47 मंत्र, पृ.50
- 48 Manthra, pp.100-101
- 49 कफन, घासवाली, पृ.163
- 50 The Shroud, Twenty four stories by Premchand, Translated by Nandini Nopany  
and P. Lal, pp.180-181
- 51 सलाम, पृ.16
- 52 Salaam, p.47-48

- 53 खानाबदोश, पृ.123
- 54 The Homeless, p.197
- 55 अम्मा, पृ.113
- 56 Amma, p.181
- 57 कजाकी, घासवाली कहानी संग्रह, पृ.59
- 58 Kazhaki, Selected Stories of Munshi Premchand- Translated by Sudha Nareshimhachar, p.110
- 59 खानाबदोश, पृ.126
- 60 The Homeless, p.201

## अंतिम बात...

इक्कीसवीं सदी में प्रेमचंद की दलित विषयक कहानियों पर जिस तरह से विचार-विमर्श हुए हैं, जिस तरह उन्हें सवालियों के घेरे में खड़ा किया गया है, उसके मूल में पूरा का पूरा दलित विमर्श है, जो उन्हें फिर से प्रासंगिक बना दिया है।

प्रेमचंद और ओमप्रकाश वाल्मीकि पर तुलनात्मक अध्ययन करते हुए कुछ महत्वपूर्ण बिन्दु उभरकर सामने आए हैं। प्रेमचंद और वाल्मीकि के समय में लगभग पाँच दशक का अंतराल है लेकिन सामाजिक परिस्थितियाँ जस-की-तस हैं। दोनों के समय में अछूत शोषण-दमन की चक्की में पिस रहे हैं, लेकिन चेतना का विकास ओमप्रकाश वाल्मीकि के पात्रों में खुलकर आया है।

समाज में व्याप्त जातीय भेद-भाव, छुआ-छूत, ऊँच-नीच जैसी समस्याओं को प्रेमचंद चिन्हित तो करते हैं, लेकिन अस्पृश्यता की जो मूल समस्या धार्मिक प्रथा और कर्मकाण्ड है उसे या तो वे पहचान नहीं पाते या उस पर बोलने से कतराते हैं। उन्होंने दलितों के दयनीय स्थिति का कारण आर्थिक समस्या को माना है। जबकि दलितों की दासता और गुलामी की कहानी सामाजिक न्याय-अन्याय पर आधारित है जो आर्थिक नहीं सामाजिक है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि पूरी तरह से अपनी लेखनी के ऊर्जा का स्रोत बाबा साहब की मानवतावादी विचारधारा का स्तंभ बाईस प्रतिज्ञाओं से ग्रहण करते हैं और जाति के मुद्दे को धर्म और समाज से जोड़ते हैं, जो जीवन के हर क्षेत्र को प्रभावित करता है और अस्मिता को अपनी गिरफ्त में लेता है। जबकि आर्थिक मुद्दा वर्गीय है जो जीविका और स्टेटस से जुड़ता है स्वाभिमान से नहीं।



इसीलिए प्रेमचंद के पात्र यथास्थिति से टकराते नहीं क्योंकि प्रेमचंद को अस्मिता के खतरे नहीं उठाने पड़े थे। कहीं—कहीं चेतनशीलता दिखाई पड़ती है, लेकिन विद्रोह करने की क्षमता नहीं दीखती जैसा कि वाल्मीकि के पात्रों में है। 'गोहत्या' का सुक्का, 'अम्मा' कहानी की अम्मा, 'सलाम' का हरीश, 'बैल की खाल' में काले—भूरे ऐसे पात्र हैं, जो समाज में फौली विषमता से टकराते हैं उससे उबरते हैं, नई जिंदगी शुरू करते हैं। अतः दलित साहित्य अस्मिता को नए तरीके से समझने की सोच विकसित करता है।

दोनों लेखक स्त्री संबंधी समस्याओं को कथा के माध्यम से जनमानस तक पहुँचाते हैं। दोनों के यहाँ स्त्री शोषण का शिकार होती है लेकिन दोनों में फर्क है कि दलित स्त्रियाँ दोहरे—तिहरे शोषण का शिकार होती हैं। वाल्मीकि की 'अम्मा' कहानी की मुख्य पात्र— अम्मा अपने घर की सारी जिम्मेदारियों का वहन करती है। बुढ़ापे में भी जहाँ सफाई करने जाती है वहाँ पराए मर्द के कुदृष्टि का शिकार होती है। दोनों में असमानता इस बात में है कि प्रेमचंद के पात्र अन्याय, अत्याचार, अंधविश्वास, कुरीतियों के प्रति आवाज नहीं उठाते हैं, उन कुप्रथाओं से अपने को अलग नहीं करना चाहते हैं। जबकि ओमप्रकाश वाल्मीकि के स्त्री पात्र हो या पुरुष पात्र इन कुरीतियों के प्रति विरोध दर्ज करते हैं। 'सलाम' में हरीश सदियों से चली आ रही प्रथा का विरोध कर एक नए इतिहास का निर्माण करता है। ऐसी दृढ़ता प्रेमचंद में नहीं दिखाई देती है।

इनकी दलित विषयक कहानियाँ दो तरह की हैं— एक शुरुआती दौर की और दूसरी बाद के दौर की, जो बाबा साहब के आंदोलन से प्रभावित हैं। कुछ कहानियों में प्रेमचंद निश्चित रूप से बाबा साहब से प्रभावित दिखाई देते हैं, लेकिन गाँधी को सर्वोपरि मानते हैं। 'मंदिर' की सुखिया हो, 'दूध का दाम' का मंगल हो, 'सद्गति' का दुखी हो, 'ठाकुर का कुआँ' की गंगी और जोखू हों, इसमें चेतना के स्तर पर जो बदलाव दिखाई देना चाहिए था वह नहीं है।

सब के सब व्यवस्था को नियति मानकर स्वीकार करते चले जाते हैं। कहीं व्यवस्था—परिवर्तन की किरण नजर नहीं आती है। 'कफ़न' कहानी में किसी ऐसे मुद्दे को नहीं उठाया गया है, जो दलितों से जुड़ी समस्या को सामने रखती हो। उल्टे दलितों के हृदयहीन और निट्ठलेपन का वर्णन किया गया है।

प्रेमचंद में प्रगतिशीलता तो है लेकिन सवर्ण मानसिकता से उबर नहीं पाए हैं। जबकि दलित साहित्य में व्यवस्था का नकार है, परिवर्तन करने की छटपटाहट है, परंपरावादी कुप्रथाओं, मान्यताओं से लड़ने की ताकत है, स्वाभिमान से जीने की ललक है।

प्रेमचंद और ओमप्रकाश वाल्मीकि की क्रमशः प्रगतिशील और चेतनशील दृष्टि दलितों में व्याप्त निराशा, शोषण, अन्याय संबंधी समस्याओं पर समान रूप से जाती है, लेकिन प्रेमचंद के यहाँ तमाम विकट परिस्थितियों से निकलने का रास्ता नहीं दिखाई देता, जबकि वाल्मीकि समस्या भी दिखाते हैं और उससे निकलने के रास्ते भी सुझाते हैं।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि प्रेमचंद अपने समय के पहले प्रगतिशील लेखक हैं जिन्होंने अछूतों की समस्या को साहित्य के माध्यम से समाज के सामने रखने का प्रयास किया है, लेकिन ईश्वरीय सत्ता और धार्मिक कर्मकाण्डों पर निष्पक्ष होकर चुनौती नहीं दे पाए हैं। यह तत्कालीन सामाजिक दबाव और तथाकथित जातीय पूर्वाग्रह भी हो सकता है। यही कारण है कि प्रेमचंद के दलित पात्र नियतिवादी हैं। वे अपने जीविकोपार्जन के लिए विपरीत परिस्थितियों का डटकर सामना तो करते हैं लेकिन व्यवस्था के प्रति विरोध नहीं दर्ज करते हैं।

प्रेमचंद और ओमप्रकाश वाल्मीकि की सामाजिक सांस्कृतिक और भाषिक पृष्ठभूमि में विभिन्न आंदोलनों के प्रभाव हैं। उस समय जितने आंदोलन चल रहे थे— चाहे वह शुद्धिकरण का आंदोलन हो, तबलीग का

आंदोलन हो, आर्य समाज का आंदोलन हो, ब्रह्म समाज का आंदोलन हो, गाँधी का अछूतोद्धार का आंदोलन हो, उन सबका ध्येय वर्ण-व्यवस्था में रहते हुए समाज सुधार था। उन्हीं आंदोलनों के समकक्ष ज्योतिबा फुले, स्वामी अछूतानंद हरीहर, चाँद गुरु, पेरियार, बिरसा मुण्डा मंगूराम आदि का भी क्रांतिकारी आंदोलन सक्रिय था, जिसमें परिवर्तन की बात की जा रही थी; सिर्फ सुधार की नहीं। प्रेमचंद सुधारवादी नीति को अपनाए हैं और ओमप्रकाश वाल्मीकि परिवर्तनवादी।

प्रेमचंद ने अपने कथा साहित्य में मजदूर, दलित, स्त्री, गरीब, स्वाधीनता की समस्या के साथ-साथ तथाकथित सवर्णों के दोहरे चरित्र को भी सामने रखने की जो हिम्मत किया है, वह उन्हें युगों-युगों तक जीवित रखेगा, लेकिन जब हम तटस्थ होकर उनकी कुछ रचनाओं को देखते हैं तो पात्र और घटना में तालमेल नजर नहीं आता है। मानवीय स्वभाव है कि सबल-दुर्बल दोनों गुण एक साथ रहते हैं। प्रेमचंद को भी इसी फ्रेमवर्क में देखने की जरूरत है। मसीहा या दुश्मन के रूप में नहीं। दलित विमर्श प्रेमचंद को कुछ मुद्दों पर अपने सहयात्री के रूप में स्वीकार करता है और कुछ मुद्दों पर उन्हें सहानुभूतिपरक लेखक मानकर उनकी कमियों को भी गिनाता है तो इसमें बुराई क्या है? क्या सवर्ण 'सद्गति' के संदर्भ में प्रेमचंद को 'घृणा का प्रचारक नहीं साबित करना चाहते थे?

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने पढ़े-लिखे दलित-समाज, ग्रामीण निरक्षर दलित-समाज और सवर्ण-समाज के माध्यम से उन आदर्शों, मानसिकताओं और नैतिक अनैतिक मूल्यों को व्यक्त किया गया है जो समाज में विघटन के कारक हैं। उन्होंने सिर्फ सवर्ण पात्रों को ही खलनायक के रूप में चित्रित नहीं किया है बल्कि कई जगहों पर दोनों समाज के पात्रों को एक दूसरे के सहयोगी के रूप में खड़ा भी किया है। जैसे- 'बैल की खाल' में पंडित बिरिज मोहन, गो हत्या में पंडितरामसरन और 'बिरम की बहू' में पंडित सियाराम घोर मनुवादी पात्र के रूप

में सामने आये हैं। 'कहाँ जाए सतीश' में रवि शर्मा, 'सलाम' में कमल उपाध्याय, 'खानाबदोश' में जसदेव तीनों पात्र दलितों के सहयोगी के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि दलित लेखक समाज में समानता की स्थापना को प्राथमिकता देता है, विषमता को नहीं। खुद दलित समाज के भीतर कितने अंतर्विरोध हैं इसे भी वाल्मीकि ने बेबाकी से प्रस्तुत किया है। कुछ कहानियों की पृष्ठभूमि ऐसी भी है जिसमें सवर्ण मित्र तभी तक मित्र हैं जब तक कि उसके दलित मित्र की जाति का पता नहीं है।

वाल्मीकि मनोविज्ञान की तह तक जाकर कहानियों को लिखते हैं। भाषा के स्तर पर पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग हुआ है। लेखक ने पात्र, प्रसंग और मनोदशा के अनुरूप अपनी लेखनी में क्षेत्रीय बोली, उर्दू, अंग्रेजी, कहीं-कहीं संस्कृतनिष्ठ शब्दों का भी प्रयोग किया है। पात्र जिस परिवेश का है उसकी बोली, वेश-भूषा भी उसी परिवेश को दर्शाती है यह लेखक की बहुत बड़ी सफलता है।

अनुवाद करते समय अनुवादक ने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि लक्ष्य भाषा के पाठकों को ज्यादा परेशानियों का सामना न करना पड़े। मूल पाठ की क्षेत्रीयता, मुहावरेदार भाषा पूरी तरह अनुदित कृति में विद्यमान है। फिर भी कहीं-कहीं देशज शब्दों, गालियों, लोकोक्तियों को अनुवाद में मूल की तरह ही ग्रहण नहीं किया जा सकता है। मूल लेखक पूरी स्वतंत्रता के साथ रचना करता है लेकिन अनुवादक को इतनी स्वतंत्रता नहीं होती। उसे तो अपने दिमाग में मूल लेखक का दिमाग रख कर सोचना पड़ता है। थोड़ी बहुत जोड़ने-तोड़ने, लोप करने की स्वतंत्रता होती है वह भी संदर्भपरक। अनुवाद के कारण ही एक संस्कृति के किनारे पर खड़े लोग दूसरे संस्कृति के किनारे पर उतर जाते हैं। हालांकि ऐसा माना जाता रहा है कि अनुवाद दायम दर्जे का होता है लेकिन सर्वथा ऐसा है नहीं है। अनुवादक भी अनूदित कृति में पुनःसृजन का काम करता है और पुनःसृजन हमेशा दायम दर्जे का नहीं होता है।

मूल पाठ में चित्रित भारतीय सामाजिक व्यवस्था का वास्तविक स्वरूप, सांस्कृतिक स्वरूप और दलितों में आई चेतना को विश्व पटल पर लाने के लिए अनुवादकों ने जो प्रयास किया है वह सराहनीय है।

सभ्यता, संस्कृति, कला और दर्शन के जिन मानवीय मूल्यों के लिए हमेशा भारत जाना जाता रहा है आज के समय में दलित साहित्य द्वारा इसके खोखलेपन का भेद खुल रहा है। तत्कालीन समय में दलित साहित्य की प्रासंगिकता जिस तरह से बढ़ रही है उसे सुदूर देशों तक पहुँचाने का काम अनुवाद ही कर रहा है। अनुवाद करते समय अनुवादकों ने काफी सावधानियाँ बरती हैं क्योंकि मूल पाठ में अधिकांशतः क्षेत्रीय बोली, गाली, जातिसूचक शब्द आदि का प्रयोग हुआ है। उन सबको क्षेत्रीयता की पुट और रंगत के साथ अनुवाद में लाना एक दुरूह कार्य था। बावजूद इसके कहीं-कहीं बोलचाल के मर्मस्पर्शी शब्दों का प्रयोग बहुत सटीक रूप में किया गया है। संवेदनात्मक अंतरण में भाषाई संरचना मुश्किल पैदा करती हैं जिसके चलते यह अनुवाद अंतर्भाषिक होते हुए भी अंतःभाषिक हो गया है।

दलित समाज और समग्र ग्रामीण समाज से संबंधित जो पद, शब्द, संबोधन, इत्यादि प्रयोग किये गये हैं उनका अनुवाद कर देने पर वहीं अर्थ संप्रेषित नहीं होगा जो मूल पाठ में है। जैसे— चूहड़े—चमार, कच्चा—पक्का, राक्षस, बहूजी, ठाकुर, चौधरी जी, पंचायत, सरपंच, मुखिया जी, आदि। उक्त शब्दों के लिए अनुवादक ने लिप्यंतरण और ग्लोसरी का सहारा लिया है।

देश के कोने-कोने से उठने वाली मानवतावादी स्वर को एक साथ मिलाने में अनुवादक का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अनुवाद के बिना भारतीय समाज में फैली विषमता की जड़ों को अनभिज्ञ और अपरिचित समाज तक पहुँचाना असंभव है।

## परिशिष्ट

### आधार—ग्रंथ

1. गिरि राजीव रंजन, संपादित **घासवाली (प्रेमचंद की दलित—जीवन से जुड़ी कहानियाँ)**, प्रकाशक— बुक्स फॉर चेंज, ग्रेटर कैलाश—1, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2007
2. वाल्मीकि ओमप्रकाश, '**सलाम**' (कहानी संग्रह) प्रकाशक— राधाकृष्ण प्रा. लि. दरियागंज, नई दिल्ली, पहली आवृत्ति, 2010
3. वाल्मीकि ओमप्रकाश, **घुसपैठिये** (कहानी संग्रह) प्रकाशक — राधाकृष्ण प्रा. लि. दरियागंज, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति, 2011
4. Gopal, Madan, **The Best of Premchand A collection of 50 Best Short Stories**, Cosmo Publication Div. of Genesis Publishing Pvt. Ltd. 1997, Volume 1-
5. Jain, Naresh Kumar, **Amma and Other Stories**, Omprakash Valmiki, Manohar Publishers and Distributors, 2008
6. Nandini Nopany & P.Lal, (Transcreated from Hindi) **A Premchand Dozen**, A Writers Workshop Saffronbird Book, 1982
7. Narasimhachar, Sudha (translated) **Selected Stories of Munshi Premchand**, Publisher, UNICORN BOOKS, New Delhi, 2016
8. Nopany, Nandini & Lal P, (Transcreated) **Twenty four Stories by Premchand**, Vikas Publishing House PVT LTD, New Delhi, 1980
9. **Premchand Stories** Translated from the Hindi, Grassroots, First Published in India in 2006, Rasulgarh, Bhubaneswar

10. Rubin David (Translated from the Hindi), **Premchand Deliverance and Other Stories**, Penguin Book, 1988
11. Rubin, David (translated), **The World of Premchand selected stories of Premchand**, London George Allen and Unwin Ltd. Ruskin House Museum Street, 1969

### सहायक—ग्रंथ

1. अम्बेडकर बाबा साहेब डॉ. बी. आर. : **जातिभेद का बीजनाश**, अनुवादक युगलकिशोर बौद्ध, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013
2. अम्बेडकर, बाबा साहेब डॉ. बी.आर. : **शूद्रों की खोज**, माइकेल मोजेज, अनुवाद, सम्यक प्रकाशन, पश्चिमपुरी, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2011
3. अम्बेडकर डॉ. बी.आर. : **बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय**, खण्ड-1, प्रकाशक: डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, पांचवां संस्करण 2013
4. ओमवेट गेल : **दलित दृष्टि**, कैस अकील एवं गुप्ता रमणिका, अनुवादक, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2011
5. ओमवेट गेल : **दलित और प्रजातांत्रिक क्रान्ति (उपनिवेशीय भारत में डॉ. अम्बेडकर एवं दलित आन्दोलन)**, SAGE/Bhasha SAGE Publication India Pvt. Ltd., First Published in 2009
6. कर्दम जयप्रकाश : **समाज संस्कृति और दलित**, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015
7. कांतिमोहन : **प्रेमचंद और दलित विमर्श**, स्वराज प्रकाशन 7/14, गुप्ता लेन, अंसारी रोड, दरियागंज दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण, 2010

8. कीर्ति, डॉ. विमल : अनुवादक ज्योतिबा फुले रचनावली, सम्यक प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण 2009
9. कुमार, रमेश : ओमप्रकाश वाल्मीकि कृत बस्स बहत हो चुका: संवेदना और शिल्प, प्रकाशक गौतम बुक सेंटर, शाहदरा, संस्मरण 2007
10. कुमार विवेक दलित समाज, पुरानी समस्याएं नई आकांक्षाएं, (एक समाजशास्त्रीय अवलोकन) सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007
11. कुमार, डॉ. शत्रुघ्न— दलित आन्दोलन के विविध पक्ष, प्रकाशक: आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, गाजियाबादसंस्करण 2004
12. कुमार, सुरेश— अनुवाद सिद्धांत की रूपरेखा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली संस्करण 1986
13. गणेशन एस. एन. : अनुसंधार प्रविधि सिद्धांत और प्रकिया, लोकभारती प्रकाशन, महात्मागांधी मार्ग इलाहाबाद-1, संस्करण, 2009
14. गर्गेश रविन्द्र, कृष्ण कुमार गोस्वामी :अनुवाद एवं भाषांतरण, पाठ और अभ्यास, ओरिएंट लॉगमैन प्रा. लि. संस्करण – 2007
15. गुरु कामता प्रसाद : हिंदी व्याकरण, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण-2010
16. गुप्ता, रमणिका – स्त्री मुक्ति संघर्ष और इतिहास, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012
17. गुप्ता, रमणिका – दलित चेतना साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार, समीक्षा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, संस्करण 2008
18. गुप्ता, रमणिका (सं.) – दलित चेतना-सोच, नवलेखन प्रकाशन, मेन रोड हजारीबाग-825301, (बिहार), 1998
19. गोयनका कमल किशोर प्रेमचंद की कहानियों का कालाक्रमानुसार अध्ययन, नटराज प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2012



20. गोस्वामी कृष्ण कुमार :अनुवाद विज्ञान की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2008
21. गोपीनाथन जी, एस. कंद स्वामी—अनुवाद की समस्याएं, लोकभारती प्रकाश संस्करण 1993
22. गौतम रूपचंद : (सं.) जयप्रकाश कर्दम दलित अभिव्यक्ति संवाद और प्रतिवाद, श्री नटराजन प्रकाशन, साउथ मामड़ी एक्सटेशन, दिल्ली—110053, प्रथम संस्करण — 2007
23. गौतम, एस.एस. — अनिल कुमार संपादक — **प्रेमचंद और दलित विमर्श**, प्रकाशक गौतम बुक सेंटर, शाहदरा, दिल्ली, संस्करण 2013
24. गौरीनाथः संपादक **भारतीय दलित साहित्य और ओमप्रकाश वाल्मीकि**, प्रकाशक, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण 2015
25. चंद्र, सुभाषः — **दलित आत्मकथाएं अनुभव से चिंतन**, इतिहासबोध प्रकाशन, प्रथम संस्करण—2006
26. जैन डॉ. प्रदीपः संपादक प्रेमचंद की शेष रचनाएँ, महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा
27. जैन निर्मला (सं.) साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1992
28. ठाकुर हरिनारायण : **दलित साहित्य का समाजशास्त्र**, प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 2014
29. तलवार, वीरभारत : — **रस्साकशी (उन्नीसवीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रान्त)** प्रकाशक : सारांश प्रकाशन, मयूर बिहार, फेज—1, दिल्ली, दूसरा संशोधित संस्करण 2006

30. तिवारी, बजरंग बिहारी – **दलित साहित्य एक अन्तर्यात्रा**, प्रकाशक : नवारुण, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण 2015
31. तिवारी, भोलानाथ – **अनुवाद विज्ञान**, अमर पिंटिंग प्रेस, दिल्ली, संस्करण 1972
32. तिवारी, भोलानाथ, प्रसाद जयन्ती नौटियाल (सं.) – **अनुवाद विज्ञान सिद्धांत एवं प्रविधि**, किताबघर प्रकाशन पेपरबैक, संस्करण 2011
33. थोरात विमल – **दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर**, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण 2010
34. द्विवेदी कपिलदेव, **भाषा-विज्ञान एवं भाषा-शास्त्र**, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 2005
35. धर्मवीर डॉ. – सामन्त का मुंशी : **प्रेमचंद (मातृसत्ता, पितृसत्ता और जनसत्ता-3)**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति 2012
36. नईम, इन्तिजार– **दलित समस्या : जड़ में कौन?** प्रकाशक : साहित्य सौरभ, सुईवालान, नई दिल्ली, संस्करण 1998
37. नगेन्द्र (सं.)– **अनुवाद विज्ञान सिद्धांत और अनुप्रयोग**, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, संस्करण 1993
38. पाण्डेय, पृथ्वीनाथ– **प्रामाणिक सामान्य हिंदी**, यूनिक पब्लिकेशन्स, दिल्ली, संस्करण 2012
39. पालीवाल कृष्णदत्त– **दलित साहित्य बुनियादी सरोकार**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009
40. पालीवाल रीता रानी– **अनुवाद प्रक्रिया और परिदृश्य**, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2007

41. पुनियानी, राम— **दलित एवं हिन्दूत्व**, अनुवादक — अमरीश हरदेनिया, उदभावना प्रकाशन, राजनगर गाजियाबाद
42. प्रताप, अनुज सिंह— **अनुवाद सिद्धांत एवं व्यवहार**, ग्रंथ लोक प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2008
43. प्रभाकरण, विष्णु, जन, **समाज और संस्कृति**, शब्दाकार, दिल्ली, 1986
44. प्रेमचंद — **कुछ विचार**, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, संस्करण 2013
45. प्रसाद, चन्द्रभान— **सहारा सलाह समस्याएँ दलितों की**, भाग-1, प्रकाशक: दलित मल्टीमीडिया नेटवर्क, पासवान राजेश संपादक, प्रथम संस्करण: फरवरी 2004
46. बाहरी, हरदेव— **हिंदी भाषा**, अभिव्यक्ति प्रकाशन, संस्करण-1997
47. बाहरी, हरदेव— **हिंदी उद्भव विकास और रूप**, किताब महल संस्करण 1999
48. बेचैन, डॉ. श्यौराज सिंह— **हिंदी की दलित पत्रकारिता पर पत्रकार अम्बेडकर का प्रभाव**, प्रकाशक — समता प्रकाशन, शाहदरा दिल्ली, संस्करण 1997
49. बोरा, राजमल— **भाषा विज्ञान : स्वरूप, विकास और अनुप्रयोग**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण 2007
50. बौद्ध शिलप्रिय— **पूना पैक्ट क्यों, क्या और किसके लिए**, सम्यक् प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2003
51. भारती, कँवल— **दलित विमर्श की भूमिका, इतिहास बोध**, प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय परिवर्धित संस्करण, जनवरी 2004

52. भारती, कँवल (सं.)— दलित निर्वाचित कविताएं, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2006
53. मिश्र डॉ. सत्यप्रकाश, संपादक — गोदान का महत्त्व, नई कहानी प्रकाशन, अलोपी बाग, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण 1992
54. मिश्र अच्युतानंद— प्रेमचंद समाज संस्कृति और राजनीति (भूमिका एवं संपादन) प्रकाशक लोकमित्र, शाहदरा दिल्ली, प्रकाशन वर्ष, 201
55. मुद्राराक्षस— बीच बहस में स्त्री, दलित और जातीय दंश, प्रकाशक : गौतम बुक सेन्टर, शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2011
56. मुद्राराक्षस— धर्मग्रंथों का पुनर्पाठ, प्रकाशक : साहित्य उपक्रम, तृतीय संस्करण — जनवरी 2009
57. यादव वीर पाल सिंह (सं.)— दलित मुक्ति प्रश्न वाया मुक्ति—पथ, स्वराज प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2010
58. यादव, वीरेन्द्र— प्रगतिशीलता के पक्ष में, प्रकाशक साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पेपरबैक, संस्करण प्रथम 2014
59. रणसुभे, सूर्यनारायण— अनुवाद का समाजशास्त्र, अमित प्रकाशन, गाजियाबाद (उ. प्र.), प्रथम संस्करण 2009
60. राजकिशोर संपादक— आज के प्रश्न दलित राजनीति की समस्याएँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति, 2012
61. डॉ. राम चंद्र— प्रेमचंद की दलित विषयक कहानियाँ संवेदना और सरोकार, आखर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, जनवरी 2012
62. डॉ राम चंद्र— दलित साहित्य की विकास यात्रा, ओमप्रकाश वाल्मीकि के साक्षात्कार, प्रकाशक : साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, संस्करण 2013

63. डॉ. राम चंद्र— दलित साहित्य आशय आंदोलन और अवधारणा, आखर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, अप्रैल 2013
64. राम, नरेश राम— दलित राजनीति का समकालीन विमर्श, अनन्या प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली प्रथम संस्करण 2015
65. राय, विकास नारायण— संपादन प्रेमचंद से दोस्ती और प्रेत, इतिहासबोध, प्रकाशन, बी-239, चंद्रशेखर आजाद नगर, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, दिसम्बर 2005
66. रावत, विद्या भूषण— आंबेडकर अयोध्या और दलित आंदोलन, दानिश बुक्स गाजीपुर, दिल्ली, संस्करण 2006
67. रेड्डी रामचंद्र, जे. एल. (अनु.), अनुवाद के सिद्धांत समस्याएँ और समाधान, साहित्य अकादमी, दिल्ली, 1998
68. वर्मा विमलेश कांति मालती (सं.) अनुवाद और तत्काल भाषांतरण, प्रकाशन विभाग, दिल्ली, 2009
69. वर्मा, धीरेन्द्र— हिंदी भाषा का इतिहास, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, संस्करण 1995
70. वाल्मीकि ओमप्रकाश— मुख्यधारा और दलित साहित्य, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010
71. वाल्मीकि ओमप्रकाश— सलाम कहानी संग्रह, राधाकृष्ण प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली— 110002, पहला संस्करण—2000, पहली आवृत्ति, 2010
72. वाल्मीकि ओमप्रकाश— दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण—2002, चौथी आवृत्ति—2011
73. वाल्मीकि, ओमप्रकाश— घुसपैठिये कहानी संग्रह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण — 2003, दूसरी आवृत्ति : 2011

74. वाल्मीकि, ओमप्रकाश— दलित साहित्य अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड 7/31, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, 2013
75. वाल्मीकि, ओमप्रकाश— जूठन, राधाकृष्ण प्रकाशन, पाँचवी आवृत्ति—2011
76. वैजनाथ, पाडुरंग महालिंगे— दलित अवधारणा एवं ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य, प्रकाशक लता साहित्य सदन, लोनी बार्डर, गाजियाबाद
77. शंखवार, रामस्वरूप— मनुवाद के पुनरोत्थान का शमन (इतिहास के झरोखे से) ह्यूमन सर्विस प्रिंटर्स सिद्धार्थ हाउस, कानपुर रोड
78. शर्मा डॉ. राम विलास— प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, छठी आवृत्ति, 2011
79. शर्मा, हरीश— भाषा विज्ञान की रूपरेखा, अमित प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 1997
80. शर्मा, रामशरण— प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992
81. शर्मा, देवेन्द्रनाथ— भाषा विज्ञान की भूमिका, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 1978
82. शाह धनश्याम— भारत में सामाजिक आंदोलन संबंधित साहित्य की एक समीक्षा, अनुवादक हरिकृष्ण रावत श्रीकृष्ण रावतसेज, रावत पब्लिकेशन्स, पेपरबैक, संस्करण 2000
83. शाही, सदानंद, संपादक— दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद, एकेडमी प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2000

84. शास्त्री, सोहनलाल विद्यावाचस्पति बी.ए..- हिंदू कोडबिल और डॉ. अम्बेडकर, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, सातवाँ संस्करण 2011
85. संतोषी, हरकिशन- **दलितों के दलित, स्थिति, परिस्थिति और संभावनाएं**, प्रकाशन सस्ता साहित्य मण्डल, संस्करण 2009
86. सांभरिया रत्नकुमार- **मुंशी प्रेमचंद और दलित समाज**, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, , दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011
87. शाही, सदानंद संपादक- **दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद**
88. सुमन मंजू- **दलित नारी एक विमर्श**, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2009
89. सुमन, डॉ. मंजू- **दलित महिलाएँ**, रावत ज्ञानेन्द्र : संपादन, सुमन डॉ. मंजू - संकलन, सम्यक् प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2013
90. सेठी हरीश कुमार- **अनुवाद और हिंदी**, किताबघर प्रकाशन दिल्ली, 2009
91. सिन्हा रमण प्रसाद- **अनुवाद और रचना का उत्तर जीवन**, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2002
92. सत्यप्रेमी, पुरुषोत्तम- **दलित साहित्य सृजन के संदर्भ**, कामना प्रकाशन ईस्ट ऑफ लोदी रोड, दिल्ली-110093
93. सत्यप्रेमी, डॉ. पुरुषोत्तम- **दलित साहित्य और सामाजिक न्याय**, कंचन प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली, संस्करण 1996
94. सैयद, प्रो. रहमतुल्लाह- **भाषा के विविध रूप और अनुवाद**, विद्या प्रकाशन संस्करण 2005

95. सिंह, तेज (संपा.)— आंबेडकरवादी विचारधारा और समाज, स्वराज प्रकाशन दिल्ली-110085, प्रथम संस्करण 2009
96. सिंह तेज— अंबेडकरवादी विचारधारा, इतिहास और दर्शन, प्रकाश वेद— संपादक, लोकमित्र प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष, 2012
97. सिंह, तेज संपादक— अम्बेडकरवादी स्त्री-चिंतन सामाजिक शोषण के खिलाफ आत्मवृत्तात्मक संघर्ष, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011
98. सिंह तेज— आंबेडकरवादी साहित्य की अवधारणा, प्रकाशक लोकमित्र पूर्वी रोहतास नगर, दिल्ली, दूसरी आवृत्ति-2012
99. सिंह श्रीमती प्रेम, डॉ. रिम्पी खिल्लन— समकालीन हिंदी और उपेक्षित समाज, श्री नटराजन प्रकाशन, नई दिल्ली— 110002, प्रथम संस्करण 2009
100. सिंह नामवर, ठाकुर खगेन्द्र, संपादक— प्रेमचंद, प्रतिनिधि संकलन, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, तीसरी आवृत्ति 2013
101. सिंह, रघुवीर— इक्कीसवीं सदी में अम्बेडकरवाद, प्रकाश अतिश, प्राथम संस्करण 2001, हरिनगर, दिल्ली
102. सिंह, रामगोपाल— प्रकाशन: भारतीय दलित समस्याएं एवं समाधान, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ
103. सिंह, श्यौराज बेचैन रजत रानी मिनू (स.)— दलित दखल, आकाश पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, संशोधित संस्करण 2007
104. सिंहल, सुरेश (सं.)— अनुवाद : अनुभूति और अनुभव, समय प्रकाशन, दिल्ली संस्करण 2006



105. सिंह, सूरजभान— अंग्रेज़ी हिंदी अनुवाद व्याकरण, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण 2003

### सहायक अंग्रेज़ी पुस्तकें

E. A. Nida KLaiden, E.J. Birll-Towards the Science of Translating

Jacques, Ranciare - The Politics of Literature

Meghnad Desai - Globlisation and Culture

### सहायक शब्दकोश

1. फ़ादर कामिल बुल्के— अंग्रेज़ी कोश, संस्करण—2003
2. भोलानाथ तिवारी अमरनाथ कपूर, विश्वप्रकाश गुप्त— संपूर्ण अंग्रेज़ी—हिंदी शब्दकोश, प्रकाशन किताबघर संस्करण—2007
3. हरदेव बाहरी—राजपाल हिंदी शब्दकोश, प्रकाशक राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, संस्करण – 2011
4. कैलाशचंद्र भाटिया— हिंदी अंग्रेज़ी मुहावरा—लोकोक्तिकोश, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण – 2011
5. विजय नारायण सिंह— लोकोक्ति मुहावरा कोश, ग्रंथलोक, दिल्ली, संस्करण—2012
6. भोलानाथ तिवारी द्विजेन्द्र नाथ— अंग्रेज़ी—हिंदी मुहावरा—लोकोक्ति कोश

## पत्र-पत्रिकाएँ

- 1 अनुवाद पत्रिका- शतक विशेषांक, अंक 100-101
- 2 अनुवाद पत्रिका- शतक विशेषांक, अंक 102-103
- 3 कर्दम जय प्रकाश सं.- दलित साहित्य (वार्षिकी)-दलित साहित्य और संस्कृति का वैचारिक हस्तक्षेप
- 4 कर्दम जय प्रकाश - संपादक : (दलित साहित्य एवं संस्कृति का आयोजन), दलित साहित्य, वार्षिकी, निर्मल पब्लिकेशंस मुद्रक, शिवानी आर्ट प्रेस, शाहदरा, दिल्ली, 2004
- 5 कोस्का आयवन, रंजन प्रमोद : संपादक - बहुजन साहित्य की प्रस्तावना, प्रकाशक: द मार्जिनलाइज्ड, सोनेवादी, वर्धा, महाराष्ट्र-442001, प्रथम संस्करण, 2016
- 6 गुप्ता रमणिका संपा.- युद्धरत आम आदमी- शरण कुमार लिम्बाले के साहित्य पर केन्द्रित, विशेषांक, अंक-110, 2011,
- 7 पश्यन्ती- दलित चेतना केन्द्रित विशेषांक, अंक-18, अप्रैल-जून 1998
- 8 प्रसाद, डॉ. बलराम संपादक 'भाषा'- केंद्रीय हिन्दी निदेशालय, भारत संस्करण अंक-244, वर्ष 515.
- 9 थोराट विमल संपादक - कठेरिया दिली, सूरज बड़त्या सहायक संपादक, दलित अस्मिता, प्रकाशक : सेंटर फॉर दलित लिटरेचर एण्ड आर्ट की त्रैमासिक, वर्ष-6, अंक-25, अक्टूबर-दिसम्बर-2016
- 10 यादव धर्मवीर संपादक 'गगन, - बहुजन वैचारिकी (तुलसी राम) विशेषांक, भाग-1, जनवरी, 2016 अंक-1, शाहदरा, नई दिल्ली।
- 11 विनोद तिवारी संपा. - पक्षधर-प्रतिशोध की संस्कृति का रचनात्मक हस्ताक्षर, अंक-12, जनवरी 2012

अंग्रेजी पत्रिका

Indian Literature : 256 - **Reviews – Being Dalit**, N.P. Singh